विषय पृष्ठांक

प्रथम संस्करण के प्रथमानन का

निवेदन

पुञ्जीभूतिः सुबहुजनिभिः श्रेयसां संचितानाम्,
साक्षाद् भाग्यं ननु निवसतां नन्दपल्लीषु पुंसाम् ।
पात्रं प्रेम्णां व्रजनववधूमानसादुद्गतानाम्,
आम्नायानां किमपि हृदयं स्मर्यतां मञ्जुमूर्ति ॥

उद्देश्य और परिस्थिति

जिस समय मै श्रीनाथद्वार की सस्कृतपाठशाला में अध्यापक था, उस समय मेरे एक मित्र वैद्य श्रीकृष्णशर्मा हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की मध्यमा परीक्षा दे रहे थे। वे कभी-कभी मेरे पास भी रसों और अलकारों का विषय समझने के लिये आ जाया करते थे। मुझे उस समय अनुभव हुआ कि हिंदी भाषा मे रसों और भावो के विषय को शास्त्रीय शैली से यथार्थ रूप मे समझा देनेवाला कोई भी ग्रथ नहीं है। उन्होने मुझसे आग्रह भी किया था कि आप इस विषय मे कुछ लिखिए, पर अवसराभाव से उस समय कुछ भो न हो सका। अस्तु।

उस बात को आज कोई चार-पॉच वर्ष हो गए। विक्रम सवत् १९८२ के माघ मास मे मैने किसी विशेष कारण-वश श्रीनाथद्वार छोड़ दिया। उसके कुछ ही दिनो बाद—चैत्र मे—मुंबई निवासी गोस्वामिकुलकौस्तुभ श्रीगोकुलनाथजी महाराज ने मुझे जूनागढ और चापासनी (जोधपुर, मारवाड़) के आचार्यासनो पर विराजमान चि० गोस्वामी

श्रीपुरुषोत्तमलालजी तथा चि० गोस्वामी श्रीव्रजभूषणलालजी के अध्यापन के लिये नियुक्त किया।

इसी अवसर मे मुझे काशी को साहित्याचार्य परीक्षा के लिये रसगगाधर के अध्ययन और मनन की आवश्यकता हुई। रसगगाधर से परिचित सभी संस्कृताभिज्ञ इस बात को मानते हैं कि रसो और भावो का जैसा विशद विवेचन रसगगाधर मे है वैसा और कहीं नहीं है, अतः इस समय मेरे हृदय मे अपने पूर्वोक्त मित्र के आग्रह की स्मृति जागरित हुई और विचार हुआ कि क्या ही अच्छा हो, यदि यह ग्रंथ हिंदी-भाषा-भाषियो के भी उपयोग में आ सके। इस विचार के कुछ दिन पूर्व, मेरे मित्र और भूपाल-नोबल्स-स्कूल, उदयपुर (मेवाड) के अध्यापक साहित्यशास्त्री श्रीगिरिधरलालजी व्यास ने मुझसे इस अनुवाद के लिये कहा भी था। कदाचित् उनका यह विश्वास था कि मेरा अनुवाद सस्कृत रसगंगाधर के अध्येता छात्रो के लिये भी उपयोगी होगा।

चापासनी एक छोटा-सा गॉव है, इतना छोटा कि वहॉ सब मिलाकर सौ मनुष्यो की भी बस्ती नहीं है। यद्यपि अध्ययन, अध्यापन और भोजन-निर्माणादि के कारण (क्योंकि मैं यहॉ सकुटुंब नहीं रहता था) बहुत ही कम समय बच पाता था, तथापि यहॉ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो मुझसे इस समय को भी छीन लेता। हॉ, यदि मै उसका दुरुपयोग ही करना चाहता तो बात दूसरी थी। सो मैंने इस अनुवाद का कार्य आरम्भ कर ही डाला।

पर पूर्वोक्त आचार्यकुमार यहॉ स्थिर रूप से नही रह पाते। उन्हे भारतवर्ष के अधिकाश भाग में फिरते रहना होता है, और मैं तो रहा उनके साथ, इस कारण तथा अन्यान्य कारणों से भी मुझे खूब ही भ्रमण करना पड़ता है। सो इस (प्रथमानन के) अनुवाद के लिखते समय मैंने कराँची, हैदराबाद (सिंध), जोधपुर (कई बार), जयपुर

(कई बार), अहमदाबाद, बड़ौदा, ईडर, बीकानेर, नागोर, जूनागढ (कई बार), काशी, मथुरा और श्रीनाथद्वार आदि अनेक प्रसिद्ध नगरो के अतिरिक्त काठियावाड़ के शतावधि गावॅड़ो मे—प्रायः आज पहुँचे और कल चले इस हिसाब से—भ्रमण किया है, और आज भी यही क्रम वर्त्तमान है।

गावॅडो मे प्रायः किसानो के घरो मे रहना होता है। उन गोमय-गधीं अघतमसावृत तथा खटमलो और पिस्सुओ के नियत निवासों में जिन कष्टो का अनुभव होता है, उन्हे अनुभविता के अतिरिक्त कौन समझ सकेगा ? हॉ, कभी-कभी अच्छे घर भी प्राप्त हो जाते हैं, पर भाग्य से ही। फिर वहॉ पहुँचते ही घर जमाना, भोजन बनाना, पूर्वोक्त कुमारो को पढाना और आवश्यकता हो तो व्याख्यानादि भी देना पड़ता है। इसके उपरात यदि सद्भाग्य से कुछ समय प्राप्त हो गया और शरीर तथा मन स्वस्थ रहा तो इस अनुवाद के लिखने का अवसर आता है। पर, ऐसी परिस्थिति मे एकाग्रता और स्वास्थ्य कहॉ तक रह सकते हैं, इसका पता भुक्तभोगी को ही हो सकता है।

मुझे इस बात का बोध है कि मै यह सब लिखकर आपका और अपना दोनो का समय नष्ट कर रहा हूॅ, तथापि यह समझकर कि मेरी परिस्थिति का अनुभव हो जाने के कारण, आप इस अनुवाद में कदाचित् कोई त्रुटि रह गई हो तो क्षमा कर सकेंगे, ये बाते लिख दी गई हैं। मै आशा करता हूॅ कि आप मुझे इस समयघातित्व के दोष से मुक्त कर देगे।

अनुवाद

मैं अनुवाद उसे मानता हूॅ, जिसे, जिस भाषा में वह लिखा गया है, उस भाषा मात्र को जाननेवाला मनुष्य समझ सके। उसे मूलग्रथ की भाषा के अध्ययन की आवश्यकता ही न पडे। पर आज-कल हिंदी-भाषा मे संस्कृत-भाषा ऐसी मिल गई है कि बिना

उसके हिंदी का कुछ काम ही नहीं चल सकता, इसे उससे सर्वथा पृथक् कर देना असंभव ही है। जब समाचारपत्रो की भाषा भी संस्कृत-प्रचुर होती जा रही है, तब पुस्तकों की भाषा के विषय में तो कहना ही क्या है। फिर यह तो एक ऐसे ग्रंथ का अनुवाद है जिसके विषय और भाषा इतने गंभीर हैं कि उनकी टक्कर से ऐसे वैसे संस्कृतज्ञों का तो सिर चकराने लगता है। ऐसी स्थिति में हमारे-जैसा अल्पज्ञ और व्यग्रचित्त प्राणी इस कार्य मे कृतकृत्य होने की आशा करे यह यद्यपि दुस्साहस-मात्र ही है, तथापि यह समझकर कि संस्कृत-भाषा के महाविद्वान् तो इस काम को हाथ में लेंगे नहीं, क्योकि वे बहुधा हिंदी मे लेख लिखने में अपना अपमान मानते हैं, हमने अपनी अयोग्यता समझते हुए भी यह कुचेष्टा कर ही डाली। हाँ, इसमे कोई संदेह नही कि हमने अपने पूर्वोक्त सिद्धांत के अनुसार, जहाँ तक हो सका, अनुवाद के सरल और बामुहाविरे बनाने के प्रयत्न में किसी प्रकार की कमी नहीं की, और नव्य न्याय की शैली से लिखे हुए इस ग्रंथ के अनुवाद मे भी, बिना किसी विशेष कारण के, कही अवच्छेदक तथा अवच्छिन्न शब्द नहीं आने दिया और उन स्थलो का तात्पर्य लिखने का प्रयत्न किया है। अब हम सफल हुए अथवा असफल, इस बात का निर्णय विद्वान् लोग करेंगे। वे कृपाकर इस बात को भी ध्यान में रखेंगे कि शास्त्रीय विषय सरल से सरल करने पर भी कहानी नही बन सकता।

पद्यानुवाद

हमने एक और कुचेष्टा की है। वह है उदाहरण-पद्यो का पद्यानुवाद[1]। इसका कारण केवल यह है कि पद्य मे जो एक प्रकार की बन्ध-

१—यह पद्यानुवाद प्रथमानन मात्र में ही हो सका। आगे न तो सहस्राधिक पद्यों का अनुवाद करने के लिए समय ही था, न इस श्रम का कोई फल ही दिखाई दिया, अत: छोड दिया गया।

कृत विशेषता होती है, वह केवल गद्यानुवाद में नहीं आ सकती, और हमारी इच्छा थी कि हिंदी के ज्ञाता मात्र भी उसका अनुभव कर सकें। अतएव हमने अनुवाद में इस बात का ध्यान रखा है कि मूल में जहाँ नागरिका, उपनागरिका अथवा ग्राम्य वृत्ति है वहाँ अनुवाद में भी वही वृत्ति रहे, यहाँ तक कि जहाँ एक पद्य मे तीन-तीन वृत्तियाँ बदली हैं वहाँ भी उनके निर्वाह का यथाशक्ति प्रयत्न किया जाय। इतने पर भी इस विषयमे मतभेद हो सकता है और ऐसा होना अनिवार्य भी है।

विषय-विवेचन

हमने एक अनधिकारचेष्टा और की है। वह है भूमिका का 'विषय विवेचन' भाग। इसमें हमने जिन विषयो का विवेचन किया है, वे अत्यन्त गंभीर और अत्यधिक सामग्री तथा अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं, और हमें विश्वास है कि इस विषय में हमारे जैसे अल्पज्ञ और अल्पबुद्धि प्राणी से अनेक भूले हुई होगी और कई बातो की कमी तो हमारे जानते में भी रह गई है, जिसे हम पूरा नहीं कर सके।*

---

* बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस 'विषय विवेचन' भाग को सस्कृत और हिन्दी के विद्वानो ने बहुत ही पसन्द किया। अनेकों ने नाम सहित और अनेको ने बिना नाम इसको अपनी-अपनी पुस्तकों में उद्धृत किया है।

महामहोपाध्याय श्री बालकृष्ण मिश्र, अध्यक्ष, सस्कृत महाविद्यालय हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी ने अपनी समति में लिखा है—

'प० पुरुषोत्तमचतुर्वेदिविरचिता रसगङ्गाधरस्य मया विलोकिता समस्ता प्रस्तावना, यत्र विषयविकाशक्रम. वक्रोक्तिः प्रसाद. समालोचनाचानन्यसाधारणधमादधाति सौहित्यम्, साहित्य प्रवीणतां च प्रणेतुः सह सहृदयतया निवेदयति।'

इतने पर भी यह समझकर कि हमारे इस विषय के छेड़ देने पर, सभव है, कोई भावी विद्वान् इसे सर्वांगपूर्ण बना सके और इस समय भी जैसा कुछ संभव है, वह इन विषयों के अध्येताओ के उपयोगी हो, हमसे जो कुछ बन पड़ा लिख ही दिया है। इसके लिखने मे भी हमे अपनी परिस्थिति के कारण अत्यत कष्ट उठाना पड़ा है। हम आशा करते हैं कि हमारे गुणग्राहक विद्वान् हमारी अल्पज्ञता और परिस्थिति को समझकर तथा भगवान् श्रीकृष्णचद्र को इस उक्ति को स्मरण करके कि "सर्वारभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" दोषो पर दृष्टि न देंगे और गुणग्रहण करेंगे। 'विषय विवेचन' प्रकरण मे जो आचार्यों के काल लिखे गए हैं, वे प्रायः म० म० श्रीदुर्गाप्रसादजी द्विवेदी की साहित्यदर्पण की भूमिका से और श्रीसुशीलकुमार दे, एम० ए० के 'सस्कृत पोयटिक्स' से लिए गए हैं, एतदर्थ उन्हे धन्यवाद।

अड़चनें

अनुवाद करने में हमे अनेक अड़चने भी उपस्थित हुई। सबसे बडी अडचन तो यह थो कि इस ग्रथ पर कोई विवेचनापूर्ण और विशद व्याख्या नहीं है, केवल नागेश भट्ट की गुरुमर्मप्रकाश नामक टिप्पणी है, जिसमें उसके नामानुसार मोटे-मोटे मर्म्मों पर प्रकाश डाला गया है, अतः अधिकाश स्थलों की विवेचना का भार इस अल्पज्ञ की तुच्छ बुद्धि पर ही आ पडा। दूसरी अड़चन यह थी कि यह ग्रथ अब तक दो स्थानो से प्रकाशित हुआ है। एक काशी से और दूसरा 'काव्यमाला' में बबई से। पर, न जाने क्यो दोनो ही सस्करण स्थान स्थान पर अशुद्ध हैं। काशीवाला सस्करण तो मुद्रणोपयोगी लेख-चिह्नो से भी शून्य है, उसमे तो विशेषतः पाराग्राफ तोड़ने का भी परिश्रम नहीं किया गया। यथेष्ट व्याख्या से रहित अशुद्ध और

जटिल ग्रथ को शुद्ध करके उसका यथोचित अनुवाद करने में कितनी कठिनता होती है, उसे वही समझ सकता है, जिसे यह काम पड़ा हो। सो यह भार भी इस तुच्छबुद्धि पर ही आ पडा। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनो पुस्तको के सवाद से हमे सशोधनकार्य मे बहुत-कुछ सहायता मिली है। तीसरी अडचन यह थी कि उपर्युक्त भ्रमण के कारण हमें अपेक्षित पुस्तकादि भी नहीं प्राप्त हो सकती थीं, और सुतरा काठियावाड़ मे, क्योकि यहाँ सस्कृत भाषा का बिलकुल प्रचार नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारे स्वास्थ्य ने भी समय-समय पर अत-राय उपस्थित कर दिया। पर, इन सब अडचनों के होते हुए भी जहाँ तक हो सका, हमने गड़बड़-घोटाला चलाने की कोशिश नहीं की, इस प्रकार प्रथमानन का यह अनुवाद आप की सेवा मे उपस्थित है। इसमे संदेह नहीं कि यदि हमारी परिस्थिति और स्वास्थ्य अच्छे होते तो यह अनुवाद इससे कहीं अच्छे रूप मे सिद्ध होता। अस्तु, ईश्वरेच्छा।

अनुग्राहक

अब अत में हम अपनी अनुग्राहकमडली का स्मरण करके इस कथा को समाप्त करते है—

इस विषय में हम सबसे पहले अपने परमपूजनीय पितृचरण पडित श्रीमथुरालालजी चतुर्वेदी का, जो इस समय अनत सुख का अनुभव कर रहे हैं, स्मरण करेंगे, क्योकि यह जो कुछ आपके सामने है, वह उन्हीं के अकृत्रिम प्रेम, सस्कृत-शिक्षणश्रम और हार्दिक आशीर्वाद का फल है।

तदनतर श्रीमद्वल्लभाचार्य के प्रधान पीठ पर विराजमान गोस्वामि-तिलक श्रीगोवर्द्धनलालजी महाराज और उनके विद्याप्रेमी कुमार श्री-

दामोदरलालजी महोदय के निःस्वार्थ अनुग्रह और मेरे विद्यागुरु शीघ्र-कवि श्रीनन्दकिशोर शास्त्रीजी के उपकार का स्मरण आवश्यक है, क्योंकि इस अकिंचन का, किशोरावस्था के अनतर, शिक्षण और रक्षण उन्हीं की सहायता से हुआ है।

इसके बाद महामहोपाध्याय प० श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदीजी का स्मरण अपेक्षित है, क्योकि रसगगाधर की अनेक ग्रथ-ग्रंथियो के शिथिलीकरण में उनका भी हाथ है।

अब यदि इस अवसर पर हम अपने परम सुहृद् काशीनिवासी साहित्यभूषण श्रीसॉवलजी नागर का स्मरण न करे, तो कदाचित् हमारा-सा कृतघ्न कोई न होगा, क्योकि इस पुस्तक का लेखन और प्रकाशन उनके उत्साहदान और निष्काम सौहार्द से बहुत कुछ सबध रखता है।

अत में श्री गोवर्द्धनधरण से प्रार्थना करते हैं कि वे इस अनुवाद को साहित्यानुरागियों का प्रेमपात्र और चिरायु करे। इति शम्।

बैशाख कृष्ण ८ शुक्रवार
स० १९८४ जयपुर } पुरुषोत्तमशर्म्मा चतुर्वेदी

द्वितीय आनन का

निवेदन

नवविकसितनीलनीरजातद्युतिहारिस्वशरीरसौभगेन ।
मदनमदमाय दत्तपत्त्रं व्रजवनितादयितं विभुं स्मरामः ॥

परिस्थिति

प्रथम भाग के लिखने के समय जैसी परिस्थिति थी, प्रायः, वैसी ही परिस्थिति में यह भाग भी लिखा गया है । यद्यपि संयोगवशात् इस भाग का आरंभ और समाप्ति दोनो ही जूनागढ हवेली के अधिपति गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमलालजी महाराज के यहाँ रहते हुए ही हुए, तथापि कुछ अंश को छोड़कर इस भाग का सर्वांश मुंबई के श्रीगोकुलाधीश-मंदिर के अधिपति गोस्वामी श्रीमग्नलालजी (उपनाम श्री-गोपिकावल्लभ जी) महाराज के आश्रय में ही लिखा गया है और मुझे उनकी सहृदयता तथा सज्जनता की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए कि उनके सद्व्यवहार ने मुझे इस घोर परिश्रम-साध्य कार्य के करने में कभी निराश अथवा हतोत्साह नहीं होने दिया। यद्यपि इसके लिखते समय एक बार भयङ्कर उदरशूल के कारण, जिसने लगभग आठ महीने मेरा पिण्ड नहीं छोड़ा, ऐसा प्रतीत होने लगा था कि यह कार्य अधूरा ही रह जायगा, तथापि श्रीगोवर्धनधरण की दया से किसी तरह उत्प्रेक्षात भाग तो समाप्त हो ही गया । इस भाग के लिखते समय भी मुझे यद्यपि मध्यप्रदेश के नागपुर, वर्धा, हिंगनघाट आदि तथा गुजरात के अहमदाबाद, नडियाद आदि और राजस्थान के जयपुर,

जोधपुर आदि के अतिरिक्त काठियावाड (वर्तमान सौराष्ट्र) के अनेक गावडो में भटकना पडा है, तथापि इसका अधिकाश भाग मुबई और वेरावल बदर (प्रभास क्षेत्र) मे ही लिखा गया है, क्योकि हमारा अधिकाश वास उन दिनो वही रहा।

अनुवाद

अनुवाद के विषय मे इतना कहना आवश्यक है कि हमने इस भाग मे पद्यो का पद्यानुवाद नहीं रखा, क्योकि एक तो इससे वैसे ही पुस्तक बहुत बडी हो जाती और दूसरे उसके लिए समय भी अधिक चाहिए था, जिसका हमारे पास प्रायः अभाव था।

विषय-विवेचन

इस विषय में हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस भाग मे जो 'काव्य के आत्मा' के विषय में विचार किया गया है वह पूर्णतया प्राचीन होते हुए भी साहित्यदर्पण के अनुकूल नहीं है। आजकल हिन्दीसाहित्यज्ञ लोग साहित्य दर्पण के अनुसार केवल 'रस' को ही काव्यात्मा मानने लग गए हैं। पर हम अपनी बुद्धि के अनुसार जहाँ तक समझ पाए हैं ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर के कर्त्ताओ के मत अलङ्कारसर्वस्व के ही अनुकूल पाते हैं और इसलिए हमने केवल रस को नहीं, किन्तु त्रिविध (वस्तु, अलकार और रस रूप) व्यङ्ग्य को (चाहे वह प्रधान हो अथवा गुणीभूत[1]) काव्य का आत्मा माना है। इस विषय में मतभेद को अवकाश है और यदि कोई सहृदय

---

१ "गुणीभूतोऽप्य व्यङ्गः कविवाचः पवित्रयतीत्यमुना द्वारेण तस्यैवात्मत्व समर्थयितुमाह"—श्री अभिनवगुप्त (लोचन तृ० उ० ३४ कारिका)

विद्वान् निष्पक्ष होकर इस विषय मे कुछ विचार करना चाहेंगे तो हम उनके विचारो को सोचने-समझने और स्वीकार करने के लिए अवश्य उद्यत हैं, पर इसमे सन्देह नही कि इस पुस्तक मे जो विचार हमने प्रकट किए हैं अभीतक हम उन्हीं विचारो के हैं।

प्रोत्साहन

प्रथम भाग यद्यपि वैसी परिस्थिति मे लिखा गया था, तथापि अनेक विद्वानो ने उसकी लिखित और प्रकाशित प्रति को विवेचनापूर्ण दृष्टि से देखकर और हमारे श्रम की प्रशसा करके हमको पूर्णतया प्रोत्साहित किया है। उनमे से मुख्य मुख्य मान्य विद्वानो के नाम धन्यवाद सहित नीचे लिखे जाते हैं।

स्थानाभाव तथा आत्मप्रशसा को उचित न समझने के कारण उनकी विस्तृत सम्मतियाँ प्रथम सस्करण मे नही दी जा सकीं थीं। अब उनमे से कुछ दी जा रही है।

महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, प्रिंसिपल, सस्कृत-कालेज, जयपुर।

*स्व० महामहोपाध्याय श्रीहरनारायणजी शास्त्री, प्रोफेसर, हिंदू-कालेज, देहली।

स्व० महामहोपाध्याय श्रीरामकृष्णशास्त्री, अहमदाबाद (गुजरात)

स्व० महामहोपाध्याय श्रीदेवीप्रसाद, कविचक्रवर्त्ती, काशी।

महामहोपाध्याय श्रीबालकृष्ण मिश्र, प्राच्यविभागाध्यक्ष, विश्व-विद्यालय, काशी।

---

* हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि म० म० श्री हरनारायण जी शास्त्री की द्वितीय भाग देखने की प्रबल इच्छा थी और उन्होंने मुझसे कहा भी था, किंतु अभाग्यवश वे इस भाग के प्रकाशन से पूर्व ही स्वर्गवासी हो गये।

स्व० श्रीमान् भट्ट नदकिशोरजी शास्त्री, आशुकवि, विद्याविभागाध्यक्ष, श्रीनाथद्वारा

श्रीमान् बालकृष्णजी शास्त्री, भूतपूर्व प्रधानाध्यापक, श्रीगोवर्द्धन-संस्कृत पाठशाला, नाथद्वारा ।

श्रीमान् चन्द्रदत्तजी ओझा, व्याकरणाचार्य, वाइस प्रिंसपल, सस्कृत कालेज, जयपुर ।

स्व० श्रीमान् बिहारीलालजी, साहित्यवेदाताचार्य, भू० पू० साहित्य-प्रधानाध्यापक, जयपुर ।

श्रीमान् भट्ट मथुरानाथ जी शास्त्री, साहित्याचार्य, साहित्यप्रधानाध्यापक, जयपुर ।

* महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ जी रेउ, साहित्याचार्य, अध्यक्ष पुरातत्त्वविभाग, जोधपुर ।

+ महामहोपाध्याय श्री परमेश्वरानन्दजी शास्त्री, सस्कृतप्रधानाध्यापक, सनातनधर्म कालेज, लाहौर ।

उपसहार

अत में हम श्री गोवर्धनधरण से विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वह इस परिश्रम से सपादित अनुवाद को विद्वानो का प्रेम भाजन बनावे ।

गणेश चतुर्थी स० १९९४	पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी मेयो कालेज, अजमेर ।

---

* आपने सरस्वती में समालोचना लिखी थी । आपने हमें जोधपुर राजकीय पुस्तकालय से प्रथम भाग और द्वितीय भाग की भूमिका लिखते समय अनेक पुस्तकें देकर भी अनुगृहीत किया था । तदर्थ अनेक धन्यवाद ।

+ आपने हिन्दी रसगङ्गाधर के कई हिन्दी पद्य 'अलंकार-कौमुदी' नामक स्व-रचित ग्रन्थ में उद्धृत भी किए हैं ।

पंडितराज का परिचय

जाति, वंश, अभ्युदय और शिष्य आदि

पडितराज जगन्नाथ तैलग जाति[1] के ब्राह्मण थे। उनका जातीय उपनाम वेगिनाडु अथवा वेल्लनाडु था, जिसे वेल्लनाटीय[2] भी कहा जाता है और जो श्रीमद्वल्लभाचार्य के सजातीय उत्तरभारतीय तैलगो का, अब तक, उपनाम है। इनका व्यक्तिगत उपनाम 'त्रिशूली'[3] था, जो कि जयपुर की जनता में अब तक भी प्रसिद्ध है। उनके पिता का नाम पेरुभट्ट[4] अथवा पेरम भट्ट[5] था और माता का नाम 'लक्ष्मी'[6]। पेरुभट्ट महाविद्वान् थे। उनने ज्ञानेद्र भिक्षु[7] नामक विद्वान् यति से वेदात शास्त्र, महेद्र पडित से न्याय और वैशेषिक शास्त्र, खडदेव पडित

१—'.. तैलग कुलावतंसेन पडितजगन्नाथेन···' ('आसफविलास' का आरभ)।

२—कुलपति मिश्र ने (आगे उद्धृत) अपने पद्य में 'वेलनाटीय' शब्द ही लिखा है।

३—मिश्र जी ने भी यह उपनाम लिखा है; अत: यह संदेह अनुचित है कि त्रिशूली जगन्नाथ कोई अन्य था।

४—रसगगाधर में।

५—प्राणाभरण में।

६—रसगगाधर में।

७—रसगगाधर के आरभ का द्वितीय पद्य।

से पूर्वमीमासा शास्त्र और शेष[1] वीरेश्वर पडित से व्याकरणमहाभाष्य पढा था। इसके अतिरिक्त वे वेदादिक अन्य शास्त्रो के भी ज्ञाता थे, जैसा कि रसगगाधर के 'सर्वविद्याधर'[2] पद से सूचित होता है। पडितराज ने प्रायः अपने पिता से अध्ययन किया था, पर इनके गुरु शेष वीरेश्वर से भी कुछ पढा हो ऐसा प्रतीत होता है, यह बात 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक ग्रथ के 'अस्मद्गुरुपडितवीरेश्वराणाम्' इस पद से सूचित होती है। पण्डितराज स्वय भी वेद, वेदात, न्याय, वैशेषिक, मीमासा, व्याकरण और साहित्य आदि शास्त्रो के महाविद्वान् थे, ऐसा रसगगाधर में स्थान-स्थान पर उद्धृत प्रमाणों, लेखो और प्रतिपादन-शैली से सिद्ध है और इस विषय मे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही रहती।

जब ये नवयुवक ही थे उसी समय इनका तत्कालीन बादशाह शाहजहाँ के दरबार मे प्रवेश हो गया था और बादशाह ने इनकी विद्वत्ता से सतुष्ट होकर इन्हे 'पडितराज'[3] पदवी प्रदान की थी। इनकी युवावस्था का अधिकाश शाहजहाँ[4] तथा उसके पुत्र दाराशिकोह[5] की छत्रच्छाया में ही व्यतीत हुआ था। शाही जमाने के सस्कृत-पडितों मे हम इन्हे परम भाग्यशाली मानते हैं, क्योकि 'तख्त-ताऊस' और 'ताजमहल' आदि परम-रम्य वस्तुओ के बनवानेवाले और

१—यह उनका उपनाम था।

२—'एतेन तदितरशास्त्रवेदादिज्ञातृत्वं सूचितम्' (गुरुमर्मप्रकाशः)।

३—'.. सार्वभौमश्रीशाहजहाँप्रसादादधिगतपडितराजपदवीकेन...' ('आसफविलास' का आरभ)।

४—'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीत नवीनं वयः' (भामिनी-विलास)।

५—'जगदाभरण' नामक ग्रंथ में दाराशिकोह का ही वर्णन है।

बड़ी भारी शान-शौकत से रहनेवाले सार्वभौम शाहजहाँ के उस शक्रोपम वैभव के भोग मे इनका भी एक भाग था।

'सग्राम-सार'[1] और 'रस-रहस्य'[2] आदि ग्रथो के निर्माता, जयपुर-नरेश श्रीरामसिहजी प्रथम के आश्रित, व्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि माथुर चतुर्वेदी श्रीकुलपति मिश्र, जो आगरे के रहनेवाले थे, इनके शिष्य थे और इनपर उनकी अत्यत श्रद्धाभक्ति थी। इसके प्रमाण मे हम 'सग्राम सार' के दो पद्य उद्‌धृत करते हैं। वे ये हैं—

> शब्द-जोग में शेष, न्याय गौतम कनाद मुनि।
> साख्य कपिल, अरु व्यास ब्रह्मपथ, कर्मनु जैमिनि॥
> वेद अग-जुत पढ़ै, शील-तप ऋषि बसिष्ठ सम।
> अलकार-रस-रूप अष्टभाषा-कविता-क्षम॥
> तैलग वेलनाटीय द्विज जगन्नाथ तिरशूलधर।
> शाहिजहाँ दिल्लीश किय पडितराज प्रसिद्ध धर॥
> उनके पग को ध्यान धरि इष्टदेव सम जानि।
> उक्ति-जुक्ति बहु भेद भरि ग्रंथहि कहौं बखानि॥
>
> —संग्रामसार, प्रथम परिच्छेद, पद्य ४-५

इसके अतिरिक्त 'रस-रहस्य' मे जो उन्होने काव्यलक्षण लिखा है, वह भी इन्हीं की शैली का है। काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण के

१—'सग्राम-सार' वि० स० १७३३ में बना था, यह म० म० श्रीगिरिधरशर्मा चतुर्वेदीजी के पिता कविवर श्रीगोकुलचन्द्रजी का कथन है।

२—'रस-रहस्य' का समय तो कवि ने स्वय ही लिखा है—'सवत् सत्रह सौ वरष (अरु) बीते सत्ताईस। कातिक बदि एकादशी बार बरनि वानीश।' (रसरहस्य, अष्टम-वृत्तात, पद्य २११)

काव्यलक्षण पृथक् लिखे गए हैं तथा साहित्यदर्पण के काव्यलक्षण का तो खडन भी किया गया है। रसरहस्य का काव्यलक्षण यो है—

जग ते अद्भुत सुख-सदन शब्द रु अर्थं कवित्त।
यह लक्षण मैंने किया समुझि ग्रथ बहु चित्त॥

पर मिश्रजी के इस पद्य से एवम् उनके रचित समग्र रसरहस्य से भी यह सिद्ध होता है कि जिस समय पडितराज और मिश्रजी का समागम रहा उस समय या तो पडितराज रसगगाधर लिख नहीं पाए थे या इनका समागम ही स्वल्प रहा था, क्योकि उस पुस्तक मे केवल इस लक्षण के अतिरिक्त जितनी बाते लिखी गई हैं वे सब काव्यप्रकाश से ली गई हैं और इस लक्षण मे भी शब्द और अर्थ दोनो को काव्य माना गया है, जो कि रसगगाधर के लक्षण के विरुद्ध है।

पडितराज के एक दूसरे शिष्य का भी पता लगता है। वे पडित राज के सजातीय थे और उनका नाम नारायण भट्ट था। उनके विषय में उनके भतीजे हरिहर भट्ट ने, स्वनिर्मित 'कुलप्रबध' नामक काव्य में यो लिखा है कि—

लब्ध्वा विद्या निखिलाः पडितराजाज्जगन्नाथात्।
नारायणस्तु दैवादल्पायुः स्वःपुरीमगमत्॥

अर्थात् पडितराज जगन्नाथ से सब विद्याएँ प्राप्त करके नारायण भट्ट तो, भाग्यवशात्, थोडी ही अवस्था में स्वर्ग को सिधार गए[1]।

---

[1]—नारायण भट्ट और हरिहर भट्ट के वश में इस समय (प्रथम सस्करण के समय) शुद्धाद्वैतभूषण भट्ट श्रीरमानाथ शास्त्रीजी (बबई) तथा साहित्याचार्य्य भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्रीजी (जयपुर) आदि अनेक भट्ट विद्यमान हैं और उनकी प्राप्त की हुई जीविका को भोग रहे हैं।

इस सबसे यह पता लगता है कि पडितराज के, सस्कृत और हिंदी दोनो भाषाओ के ज्ञाता, अनेक अच्छे-अच्छे विद्वान् शिष्य थे।

किंवदंतियाँ

पडितराज के विषय मे अनेक किंवदतियॉ प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'जगन्नाथ पडितराज ने तैलग देश से जयपुर आकर वहॉ एक पाठशाला स्थापित की थी और वहीं उन्होंने किसी काजीको, जो दिल्ली से आया था, मुसलमानोंके मजहबी ग्रथों को बहुत शीघ्र पढकर विवाद मे हरा दिया था। वह काजी जब दिल्ली गया, तो उसने बादशाह के सामने पडितराज की विद्या-बुद्धि की बडी प्रशसा की। बादशाह यह सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने जयपुर से दिल्ली बुलाकर इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। वहॉ ये महाशय किसी यवन-कन्या पर आसक्त हो गए और बादशाह की कृपा से इनका उसके साथ ब्याह भी हो गया। इस तरह इन्होंने अपनी यौवनावस्था बादशाह के आश्रय में सुखपूर्वक बिताई। जब ये बुड्ढे हुए तब काशी[1] चले गए। पर वहॉ अप्पयदीक्षित आदि विद्वानोंने यह कह कर कि 'यह तो यवनी के ससर्ग से दूषित है' इनका तिरस्कार किया और इन्हे जाति से निकाल दिया। तब ये गगातट पर गए और सबसे ऊपर की सीढी पर बैठकर उसी समय बनाए हुए अपने पद्यो से (जिनका सग्रह 'गंगालहरी' नामक पुस्तक में है) लगे गगाजी का स्तुति करने। फिर क्या था, भक्तवत्सला गगाजी

---

१ काशी चले जाने की बात मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि आगे उद्धृत 'अमृतलहरी' के तीसरे और आठवें श्लोकों से तथा भामिनी-विलास के श्लोक से अन्तिम अवस्था में उनका मथुरा में रहना ही सिद्ध है। (देखिए आगे)

प्रसन्न हुईं और प्रत्येक श्लोक पर एक-एक सीढी चढती गईं और बावनवें पद्य के पढने पर पडितराज के पास आ पहुँचीं, एवं उस यवन कन्या सहित इन महाशय को अपनी प्रेमपूर्ण गोदी मे बिठाकर स्नान करवा दिया। ईर्ष्या-द्वेष से कलुषित बेचारे काशी के पडित पडितराज के इस प्रभाव को देखकर अत्यत चकित हो गए और फिर कुछ न बोल सके।"

दूसरे लोगो का यह भी कहना है कि—"जब ये महाशय दिल्ली-नरेंद्र शाहजहाँ के कृपापात्र हो गए और उनकी कृपा से इन्हे अच्छी सपत्ति प्राप्त हो गई, तब जवानीके दिन तो थे ही, इनके विवेक का प्रकाश लुप्त हो गया और ये अधे होकर किसी यवनयुवती पर आसक्त हो गए। पर थोडे समय बाद वह मर गई। बेचारे पडितराज उसके विरह मे बडे घबड़ाए और दिल्ली छोडकर काशी चले गए। पर वहाँ के पडितो ने, जो पहले इनके आचरणो को सुन चुके थे, इनका अनादर किया और ये स्वय भी पडितो के तिरस्कार एव प्रियतमा की विरहाग्नि से दुःखित हुए और कही चैन न पा सके। परिणाम यह हुआ कि अपनी बनाई हुई गगालहरी को पढते हुए, जब बरसात में गगा की बाढ आ रही थी तब, उसमे कूद पडे और डूबकर मर गए।[१]"

एक किवदती यह भी है कि—"जब ये वृद्ध होकर काशी में जा रहे थे, तब एक दिन प्रभात के समय, ठडी ठडी हवा में, पडित-

---

१—ये दोनों किंवदतियाँ काव्यमाला में प्रकाशित रसगगाधर की भूमिका से ली गई हैं। वहाँ यवनी की आसक्ति के अनुमापक श्लोक भी लिखे है, पर उन्हे अश्लील समझकर हमने छोड दिया है और वे सर्वत्र प्रसिद्ध भी हैं।

राज अपनी उस यवनयुवती को बगल मे लिए, गगातट पर मुँह पर वस्त्र ओढे सोए हुए थे और इनकी सफेद चोटी खटिया से नीचे लटक रही थी। इतने मे अप्पय दीक्षित वहाँ स्नान करने चले आए। उन्हे एक वृद्ध मनुष्य की यह दशा देखकर दुःख हुआ और कहने लगे कि 'किं-निरशङ्क शेषे, शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ—अर्थात् महाशय, मौत आ चुकी है, अब इस शेष वय में क्यो निडर होकर सो रहे हो! अब तो कुछ ईश्वर का स्मरण-भजन करो और अपने जीवन को सुधारो।' पर, इस पद्य के सुनते ही पडितराज ने ज्योही मुँह उघाड़कर उनकी तरफ देखा त्योहीं पडितराज को पहचान कर अप्पयदीक्षित ने इस पद्य का उत्तरार्ध यो पढ दिया कि "अथवा सुख शयीथा निकटे जागर्त्ति जाह्नवी भवतः अर्थात् अथवा आप सुख से सोते रहिए, क्योकि आपके पास मे भागवती जाह्नवी जग रहीं हैं आपकी फिकर उन्हें है, आप निडर रहिए[1]।"

यह भी कहा जाता है कि "पंडितराज जिस समय काशी मे पढते थे, उस समय जयपुर-नरेश मिरजा राजा जयसिंहजी काशीयात्रा करने गए थे। वहाँ की विद्वन्मडली मे इनकी प्रगल्भता देखकर वे बडे प्रसन्न हुए और इन्हे अपने साथ जयपुर ले आए। साथ ले आने का कारण यह था कि शाही दरबार में राजपूत लोगों के विषय में मुल्ला लोग यह कहा करते थे कि 'आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नही हैं, क्योकि जब परशुरामजी ने पृथ्वी को २१ बार निःक्षत्रिय कर दिया तो फिर आप

१—यह किंवदती कुवलयानंद (निर्णय सागर) की भूमिका में है। यह किंवदती भी मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि यह श्लोक अप्पय-दीक्षित का बनाया नही, किन्तु पडितराज का बनाया है (देखिए इसी पुस्तक का आक्षेपालकार)।

लोगो के पूर्वज बच कहाँ से सकते थे ?' दूसरे, यह भी कहा जाता था कि 'अरबी भाषा सस्कृत-भाषा से प्राचीन है'। ये बाते पूर्वोक्त नरेश को बहुत खटका करती थीं । पडितराज ने वादा किया था कि हम उन्हे निरुत्तर कर देगे । जब वे उन्हें साथ ले आए, तब पडितराज ने कहा कि—'पहली बात क—अर्थात् राजपूत लोगो के वास्तविक क्षत्रिय होने का—जवाब तो हम आज ही दे सकते हैं, पर दूसरी बात का—अर्थात् अरबी संस्कृत से प्राचीन है इसका—जवाब तब दिया जा है जब हम अरबी पढ ले । सो राजाजी ने उन्हे अरबी पढने की अनुमति दी और उन्होने कुछ दिन आगरे में रहकर अरबी का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया । तदनंतर ये बादशाह के सामने उपस्थित किए गए । पूछने पर इन्होने पहली बात का यह प्रत्युत्तर दिया कि—'नि.क्षत्रिय होने का अर्थ यदि यह लगाया जाता है कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, तो फिर आप ही कहिए कि पृथ्वी २१ बार कैसे नि क्षत्रिय हुई, क्योकि क्षत्रियमात्र की समाप्ति तो एक ही बार मे हो गई होगी । और यदि यह कहो कि कुछ बच रहते थे, तो जब २० बार बचते रहे तो २१ वी बार भी अवश्य ही कुछ बच रहे होगे । बस, उन्हीं की सतान ये राजपूत लोग हैं ।' और दूसरी बात के उत्तर के विषय मे यो कहा जाता है कि अरबी भाषा में मुसलमानो की एक धर्म पुस्तक बताई जाती है, जिसका नाम 'हदीस' है । उसमें एक जगह यह लिखा है कि—'ऐ मुसलमानो ! हिदू लोग जिस तरह मानते हैं, उससे उलटा तुम्हें मानना चाहिए ।' सो पडितराज ने कहा कि 'बिना भाषा के तो कोई धर्म हो नहीं सकता और आपका 'हदीस' इस बात की सूचना देता है कि उस वाक्य से पहले भी हिंदुओ का कोई धर्म था । अतः जब धर्म था तो भाषा अवश्यमेव थी और हिंदुओ की धार्मिक भाषा सस्कृत के अतिरिक्त अन्य कोई हो नहीं सकती, इस कारण आपको मानना पडेगा कि सस्कृत अरबी से प्राचीन है ।' कहा जाता है कि

इन तर्कों से बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ और तब से शाही दरबार में इनका भारी दबदबा हो गया[1] ।"

पडितराज का कार्यकाल

यह तो हुई किंवदतियो की बात । अब समय का विचार कीजिए । इस विषय मे अब तक लोगो ने मोटे तौर पर यह सोच लिया है कि शाहजहॉ का राज्यभिषेक सन् १६२८ ई० मे हुआ और सन् १६५८ ई० में औरगजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया तथा सन् १६६६ ई० में मर गया । बस, यही पडितराज का समय है। अतएव यह कहा जाता है कि 'अप्पय दीक्षित पडितराज के समकालिक नही थे एवं उनके इनके कुछ विरोध नही था' इत्यादि ।

पर, इस विषय में अब कुछ नवीन प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं । जिन पर विचार आवश्यक है। अप्पयदीक्षित का एक ग्रथ 'सिद्धान्त-लेशसग्रह' नाम का है । उसके कुभकोणवाले सस्करण की भूमिका में विद्वान् भूमिका लेखक ने २-३ श्लोक ऐसे लिखे हैं जिनसे पडितराज के समय के विषय में कुछ सूक्ष्म विचार हो सकता है और पहली किवदती का कुछ अश (यवनससर्गमात्र) सिद्ध-सा हो जाता है । उनमें से पहला श्लोक, जिसको उन्होने काव्यप्रकाश की व्याख्या में नागेश भट्ट का लिखा हुआ बतलाया है, यह है—

> दृष्यद्द्राविडदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा
> यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना ।

१—यह किंवदती महामहोपाध्याय श्रीगिरिधरशर्माजी चतुर्वेदी के मुख से सुनी गई है और अन्य किंवदतियों की अपेक्षा कुछ प्रामाणिक प्रतीत होती है ।

तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्‌नात्कुचं
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्यप्पयाद्यान् स्थितान् ॥

अर्थात् गर्वयुक्त द्राविड़ (अप्पय दीक्षित अथवा द्राविड लोगो) के दुराग्रह रूपी भूत के आवेश से गुरुद्रोही भट्टोजिदीक्षित ने भरी सभा मे बिना सोचे-समझे (पडितराज से) अस्पष्टतया जो 'म्लेच्छ' यह शब्द कह दिया था उसको धैर्यनिधि पडितराज ने सत्य कर दिखाया, क्योकि इतने अप्पयादिक विद्वानो के विद्यमान रहते हुए, उन्हें विवश करके भट्टोजिदीक्षित की मनोरमा (सिद्धातकौमुदी की व्याख्या) का कुचमर्दन (खडन) कर दिया—जब पडितराज को म्लेच्छ ही बना दिया गया तो वे म्लेच्छ कहनेवाले की मनोरमा (स्त्री) का कुचमर्दन करके क्यों न उसे म्लेच्छता का चमत्कार दिखा देते ।

दूसरा श्लोक 'शब्दकौस्तुभशाणोत्तेजन' नामक पुस्तक का है। वह यो है—

"अप्पय्यदुर्ग्रहविचेतितचेतनानामार्यद्रुहामयमहं शमयेऽवलेपान् ।

अर्थात् अप्पय दीक्षित के दुराग्रह से जिनकी बुद्धि मूर्छित हो गई है, उन गुरुद्रोहियो के गर्वों को यह मै शातकर रहा हूँ ।"

तीसरा श्लोक बालकवि का बनाया हुआ बताया जाता है, जिनको अप्पयदीक्षित के भ्राता के पौत्र नीलकठ ने 'नलचरित' नामक ग्रथ मे अप्पयदीक्षित के समकालिक माना है । उन्होंने लिखा है कि—

"यष्टुं विश्वजिता यता परिधर सर्वे बुधा निर्जिता
भट्टोजिप्रमुखाः, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः ।
पूर्वेऽर्धे, चरमे द्विसप्ततितमस्याऽब्दस्य सद्विश्वजि—
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज्ज्योतिः सता पश्यताम् ॥

अर्थात् अप्पय दीक्षित ने अपनी आयु के ७२ वें वर्ष के पूर्वार्ध मे, विश्वजित् यज्ञ करने के लिये, पृथ्वी के सब ओर घूमते हुए भट्टोजि दीक्षित आदि सब विद्वानो का विजय किया और उस—सुप्रसिद्ध—पडित जगन्नाथ का भी उद्धार कर दिया। फिर उसी वर्ष के उत्तरार्ध मे विश्वजित् यज्ञ किया और चिदम्बर क्षेत्र में सब सज्जनो के देखते हुए आत्मज्योति को प्राप्त हो गए।"

अब यहाँ विचार करने की बात यह है कि अप्पय दीक्षित पडितराज के समकालिक हो सकते हैं अथवा नहीं। हमारी समझ से समकालिक हो सकते हैं। कारण यह है कि भट्टोजि दीक्षित के गुरु शेष श्रीकृष्ण थे[1]। और शेषवीरेश्वर शेषश्रीकृष्ण के पुत्र थे यह भी सिद्ध है[2]। यही शेषवीरेश्वर पडितराज के पिता पेरुभट्ट के एवं पंडितराज के गुरु हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। सो यह सिद्ध हो जाता है कि शेषवीरेश्वर और भट्टोजि दीक्षित समकालिक थे, क्योकि एक शेष श्रीकृष्ण के पुत्र थे और दूसरे शिष्य और बहुत संभव है कि शेषवीरेश्वर भट्टोजि दीक्षित से बडे रहे हो। कारण, एक तो उन्होंने अपने विद्यमान रहते भी मनोरमा का खडन अपने शिष्य (पडितराज) के द्वारा करवाया और अपने पिता की पुस्तक के खडन के प्रतिवाद में स्वय कुछ भी न लिखा, जिसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने से छोटो की प्रतिद्वद्विता करना अनुचित समझा हो। यह असभव भी नहीं, क्योंकि प्राचीन पडितो के शिष्य तो अतिवृद्धावस्था तक—किंबहुना, देहावसान तक—हुआ करते थे और आज-दिन भी ऐसा

१—'..... शेषवशावतंसाना श्रीकृष्णपडिताना चिरायार्चितयोः पादुकयो. प्रसादादासादितशब्दानुशासनाः . ...' ('मनोरमाकुचमर्दन' में भट्टोजि दीक्षित का विशेषण)।

२—'मनोरमाकुचमर्दन' का वही आरंभ का भाग।

देखा जाता है। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि दोनों (पण्डितराज और भट्टोजि दीक्षित समकालिक थे।)

साथ ही पूर्वोद्धृत श्लोको से भी यह सिद्ध हो जाता है कि भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित समकालिक थे। तब, जब पडितराज शेष-वीरेश्वर से पढ सकते थे, तो भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित भी उनके समय मे रहे हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पर, यहाँ एक और भी विचारणीय बात है, जिसने कि अप्पय दीक्षित को जगन्नाथ के समकालिक मानने मे ऐतिहासिको को भ्रांत कर दिया है। वह यह है कि पूर्वोक्त नीलकठ दीक्षित जो अप्पय दीक्षित के भ्राता के पौत्र थे, अपने बनाए हुए 'नील्कंठविजय' नामक चपू में लिखते हैं—

"अष्टत्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु ।
कलिवर्षेषु गतेषु ग्रथितः किल नीलकंठविजयोऽयम् ॥

अर्थात् यह 'नीलकठविजय' कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया है।"

यह समय ईसवी सन् १६३६ के लगभग होता है और उस समय शाहजहाँ का राजत्वकाल था। सो यह सिद्ध किया जाता है कि यह नीलकठ पडितराज का समकालिक था, इसके दादा अप्पय दीक्षित नहीं।

नीलकठ ने स्वनिर्मित 'त्यागराजस्तव' में अप्पय दीक्षित के विषय में यह लिखा है कि—

योऽतनुताऽनुजसूनुजमनुग्रहेणात्मतुल्यमहिमानम् ॥

अर्थात् जिन (अप्पय दीक्षित) ने अपने छोटे भाई के पौत्र (मुझ) को, अनुग्रह करके, अपने समान प्रभाववाला बना दिया। इससे यह

सिद्ध होता है कि नीलकंठ ने अप्पय दीक्षित से अध्ययन किया था। पर उसी भूमिका में 'ब्रह्मविद्यापत्रिका' का हवाला देकर यह लिखा गया है—"'नीलकंठविजय' को कवि ने अपनी आयु के तीसवे वर्ष मे लिखा है और कवि जिस समय बारह वर्ष का था, उसी समय सत्तर वर्ष के वृद्ध अप्पय दीक्षित ने उस पर अनुग्रह किया था। अतः अप्पय दीक्षित का जन्म सन् १५५० ई० होता है[1]।"

ऊपर उद्धृत बालकवि के श्लोक से यह सिद्ध होता है कि अप्पय दीक्षित का देहावसान ७२ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। महामहोपाध्याय श्री गंगाधर शास्त्रीजी ने सिद्धांतलेशसंग्रह के काशीवाले संस्करण की भूमिका में एक पद्य स्वयं अप्पय दीक्षित का भी उद्धृत किया है। वह यों है—'वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा न किंचिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्'—अर्थात् मेरी अवस्था इस समय ७० वर्ष से ऊपर है, अब मुझे विषय-भोग की अभिलाषा नहीं रही, अब तो केवल कैलासवास की इच्छा है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनका प्रयाण उपर्युक्त श्लोक के वर्णित समय में ही हुआ होगा। सो ब्रह्मविद्यापत्रिका के अनुसार उनका मृत्युकाल १६२२ ई० सिद्ध होता है, जो शाहजहाँ के राजत्वकाल से पहले है।

पर यह बात पूर्णतया निर्णीत नहीं कही जा सकती। क्योंकि यह मानना कि 'दीक्षितजी ने सत्तर वर्ष की अवस्था में १२ वर्ष के पौत्र पर अनुग्रह किया था' केवल किंवदंतीमूलक है और पूर्वोक्त सिद्धांत-

---

१—"ब्रह्मविद्यापत्रिकाकारास्तु—'नीलकंठविजयश्च कविना त्रिंशे वर्षे प्राणायि। कविश्च द्वादशवर्ष एव सप्ततिवयसा दीक्षितेनानुगृहीतः। अतस्तेषामवतारकालः कलप्यब्दाः ४६५०: शकाब्दः १४७१, सन् १५५०' इत्युजादहुः।" (सिद्धांतलेशभूमिका)।

लेशसग्रह के भूमिका-लेखक भी इसके मानने मे विप्रतिपन्न हैं, अतः हमारी समझ में तो यह आता है कि 'नीलकठविजय' के लिखते समय दीक्षितजी भी उपस्थित थे, और पौत्र की अवस्था उस समय ३० वर्ष की थी। नीलकठ ने स्वय भी अप्पय दीक्षित की वदना मे वर्तमान काल का प्रयोग किया है[1], और ७०-७२ वर्ष के दादा के तीस वर्ष का पौत्र होना कुछ असभव भी नहीं। सो यह सिद्ध हो जाता है कि अप्पय दीक्षित भी शाहजहाँ के राजत्वकाल तक विद्यमान थे।

अब यह विचार कीजिए कि पडितराज दारा के विनाश और शाहजहाँ के कारावास तक दिल्ली मे थे अथवा नही। यह कहा जा सकता है कि दारा के अभ्युदय और यौवन तक वे वहाँ थे, जैसा कि 'जगदाभरण' के प्रणयन से सिद्ध होता है। सो यह तो उस दुर्घटना के बहुत पूर्वकाल मे भी बन सकता है। कारण, औरंगजेब के राज्यारोहण का वय चालीस वर्ष है, जो इतिहासप्रसिद्ध है। तब वह शाहजहाँ के राज्यारोहण के समय दस वर्ष का सिद्ध होता है और दारा तो उससे लगभग ६ वर्ष बडा होना चाहिए, क्योकि औरगजेब से बड़ा शुजा और उससे बडा दारा था। सो ई० सन् १६३६ तक जो 'नीलकठविजय' का लेखनकाल है, दारा सत्ताईस वर्ष के लगभग सिद्ध होता है, जब कि उसका पूर्ण यौवन कहा जा सकता है। अब, यदि हम पडितराज को दारा के समवयस्क मान ले तो कोई अनुपपत्ति न होगी, प्रत्युत यह सिद्ध हो सकता है कि समवयस्को मे प्रीति अधिक हुआ करती है, इस कारण समवयस्क ही रहे हो। और, यदि यह माना जाय कि दारा का उनके पास अध्ययनादि, जो कि उसके हिंदूधर्म की अभिरुचि और सस्कृतज्ञान आदि ऐतिहासिक वृत्तों से विदित है, हुआ हो, तो अधिक वय भी हो सकता है। निदान यह सिद्ध हो जाता है कि पडितराज

१—'श्रीमानप्पयदीक्षित. स जयति श्रीकठविद्यागुरुः' (नीलकंठ-विजय)।

अप्पय दीक्षित की वृद्धावस्था में अवश्य विद्यमान थे। हॉ, यह कहा जा सकता है कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित आदि वृद्ध रहे होंगे और पडितराज युवा। अतएव उस समय के उन कट्टर सामाजिक लोगो ने, बादशाही दरबार में रहने के कारण इन पर सदेह करके इन्हें तिरस्कृत किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अप्पय दीक्षित द्राविड थे, भट्टोजि दीक्षित महाराष्ट्र और पडितराज तैलग, और आज तक भी इन जातियो मे परस्पर सहभोज होता है, अत· अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित ने, जो उस समय वृद्ध थे, इनकी पचायती में प्रधानता पाई हो तो कोई असभव बात नहीं। अप्पय दीक्षित अतिम वय मे कुछ समय काशी रहे भी थे और वहॉ के समाज में उनका अच्छा सम्मान था, यह भी उसी भूमिका से सिद्ध होता है। पडितराज ने भी रसगगाधर मे अप्पय दीक्षित के नाम के स्थान पर, कई जगह, 'द्रविडशिरोमणिभिः' और 'द्रविडपुङ्गवै·' शब्द लिखे हैं, जो कि इनके सरपच होने की सूचना देते हैं।

महामहोपाध्याय P. V. Kane की 'हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स्' से यह बात अब और भी सदेहरहित हो गई है कि भट्टोजि दीक्षित और पण्डितराज समकालिक हैं। उनने पडितराज का कार्यकाल १६२० और १६५० ईसवी के मध्य सिद्ध किया है और भट्टोजि दीक्षित का कार्यकाल १५८० और १६३० ईसवी के मध्य। अत· हमारा अनुमान ठीक ही है कि भट्टोजि दीक्षित और पण्डितराज समकालिक थे तथा भट्टोजिदीक्षित वय में बडे थे और पण्डितराज उनसे छोटे।[1]

---

1 A ms. of the चित्रमीमासाखण्डन is dated samvat 1709 (i. e. 1652-53 A D.). Therefore both the रसगङ्गाधर and the चित्रमीमांसाखण्डन were composed before 1650 and after 1641 A. D. and they are

जब यह बात ठीक हो गई कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित इनके समय मे थे, तो पूर्वोक्त श्लोकों के अर्थ को मिथ्या मानने में कोई विशेष उपपत्ति नहीं रह जाती। अब यह बात सामने आती है कि भट्टोजि दीक्षित ने इन्हे भरी सभा मे 'म्लेच्छ' क्यो कहा था। विचारने पर इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि यवनसम्राट् के दरबार मे रहने के कारण इन पर यवनो के ससर्ग का आक्षेप किया गया हो, और दूसरा वही, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है कि इनका किसी यवन-युवती से सपर्क रहा हो। पहले कारण मे तो प्रमाण देने की कोई आवश्यकता ही नही, क्योकि वे शाहजहाँ और दाराशिकोह के कृपापात्र

---

the products of a mature mind Therefore the literary activity of जगन्नाथ lies between 1620 and 1660 A. D ………… A ms. of the प्रौढमनोरमा at the B. O. R. I, (No. 657 of 1883-84 of D. C Collection) is dated samvat 1713 (i e 1656-7 A. D.) and a ms. of शब्दकौस्तुभ is dated 1633 A. D. नृसिंहाश्रम, teacher of भट्टोजि, composed his तत्त्वविवेक in 1547 A. D., while Bhattoji's pupil नीलकण्ठशुक्ल wrote his शब्दशोभा in 1637 A. D. Therefore भट्टोजि's literary activity may be placed somewhere between 1580 and 1630 A. D.

History of Sanskrit Poetics.
by
Mahamahopadhyaya P.V. Kane. M.A LL.M., D. Litt. (All.) Page 309-313.

थे यह निस्सदेह है। रही दूसरी बात, सो वह भी सर्वथा असभव तो नहीं है, क्योंकि दिल्लीश्वर के कृपापात्र अतएव सर्वविध संपत्ति से सपन्न और तत्कालीन दिल्ली—जैसे विलासमय नगर के निवासी नवयुवक को, उन उन्मादक नवयौवन के दिवसो ने, जो कगालों को भी पागल बना देते हैं, यदि किसी यवनविलासिनी पर आसक्त होने के लिये विवश कर दिया हो और उन्होने किसी यवनी को रख लिया हो तो आश्चर्य की क्या बात है। रही काव्यमालासपादक की यह बात, कि यवन-युवती की आसक्ति को प्रमाणित करनेवाले श्लोक उनकी किसी पुस्तक में नही मिलते। सो यह कोई ऐसी दुःसमाधेय बात नहीं है, क्योंकि सभी कवियो के सभी पद्य पुस्तको मे सगृहीत नहीं होते, कुछ फुटकर भी रह जाते हैं। फिर पडितराज—जैसे विद्वान् अपनी पुस्तक मे उन उन्मादक-दिवसो के लिखे हुए कुससर्गसूचक श्लोको को सगृहीत करते यह भी अघटित ही है।

अस्तु, कुछ भी हो। हम एक महाविद्वान् को कलकित नहीं करना चाहते, पर इतिहास की दृष्टि से हमारे विचार मे जो कुछ सत्य आया, उसे छिपाना भी उचित नही था। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित और भट्टोजि दीक्षित पडितराज के समय मे वर्त्तमान और जाति के सरपच थे, और उनको इन पर यवन-ससर्ग का सदेह था, तथा इसी कारण इनका उनका मनोमालिन्य था। बालकवि के श्लोक से यह भी सिद्ध है कि अप्पय दीक्षित का अतिमावस्था मे इनका निस्तार भी हो गया था। पर, इनका वर्षों का द्वेष इतने मात्र से सर्वथा शुद्ध न हुआ और वह रसगगाधर मे झलक ही आता है।

हाँ, दूसरी किवदती मे जो यह कहा गया है कि वे डूब मरे, सो सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि रसगगाधर गगालहरी के बहुत पीछे बना है और इसमें स्थान-स्थान पर गगालहरी के पद्य उद्धृत हैं। तीसरी किंवदती

तो सर्वथा मिथ्या है, क्योकि अप्पय दीक्षित के सामने पडितराज का वृद्ध होना किसी तरह सिद्ध नहीं होता और न वह श्लोक ही अप्पय दीक्षित का है, जैसा कि पहले टिप्पणी मे लिखा जा चुका है।

स्वभावादि

पडितराज का स्वभाव उद्धत, अभिमानपूर्ण और महान् से महान् पुरुष के भी दोषो को सहसा उघाड देनेवाला था। नमूने के तौर पर कुछ उदाहरण सुनिए। किसी कवि से उसके बनाए हुए पद्य सुनने के पहले आप कह रहे हैं—

> निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
> न्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणा गिराम्।
> काव्य तर्हि सखे ! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशा
> नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथा.।

हे सखे ! यदि आप अत्यत पक जाने के कारण टपकती हुई दाख और शहद की मधुरता के मद को दूर कर देने मे तत्पर वचनो की रचना के पूर्णतया मर्मज्ञ हैं, तब तो अपनी कविता को मेरे ऐसे मनुष्यों के सामने बडे मजे से कहते रहिए। पर यदि आप मे वह शक्ति न हो तो जिस तरह मनुष्य अपने किए पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं करता, उसी तरह आप भी अपनी कविता को अपने हृदय से बाहर न होने दीजिए। आप अपने इस अपराध को मन-के मन-मे ही रखिए, कहीं ऐसा न हो कि जबान पर आ जाय।

देखिए तो कैसी उद्धतता है। कविता को अपराध तो बना ही दिया केवल सजा देना बाकी रह गया। सो, शायद, वह बेचारा वैसे पद्य बोला ही न होगा, अन्यथा अधिक नही तो एकाध थप्पड का पुरस्कार तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता।

अब अभिमान की बात सुनिए। आप कहते हैं—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यताया पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥

सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुए समुद्रतट तक, जितने भी कविता करने में निपुण पुरुष हैं, वे निर्भय होकर कहे कि दाखो के अदर से निकलनेवाली चिकनी रसधारा की मधुरता का भाग्य जिन्हे प्राप्त है—अर्थात् जिनकी कविता उसके समान मधुर है उन वाणियो के आचार्य पद का अनुभव करने के लिए मेरे अतिरिक्त कौन पुरुष धन्य हो सकता है। इस विषय में तो मै एक ही धन्य हूँ, दूसरे किसी की क्या मजाल कि वह इस पद को प्राप्त कर सके।

देखिए तो आचार्यजी महाराज कितने अभिमत्त हो गए हैं। आपने किसी दूसरे के धन्यवाद की भी तो अपेक्षा नहीं रखी, उस रस्म को भी अपने आप ही पूरा कर लिया, क्योकि शायद किसी अन्य को यह धन्यवाद देने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता तो आचार्यजी को कृतज्ञता दिखाने के लिये उसके सामने थोड़ी देर तो आँखें नीची करनी पड़तीं ही।

अच्छा, अब दोषोद्घाटन की तरफ भी दृष्टि दीजिए। अप्पय दीक्षितादि को तो छोड़िए, क्योकि उनके दोषोद्घाटन में तो आपने हद ही की है। पर आप ध्वनिकार श्रीआनदवर्धनाचार्य और काव्यप्रकाश-कार श्रीमम्मट भट्ट के परम भक्त हैं, समय-समय पर आपने उनका बडे आदर से स्मरण किया है, किंतु उस दोषदर्शिनी दृष्टि के पजे से वे भी कैसे बच सकते थे! एक जगह (रूपकध्वनि के उदाहरण मे) चक्कर

में आ ही गए। फिर क्या था, झट से लिख दिया 'आनंदवर्धनाचार्यास्तु...' और 'तच्चिन्त्यम्'।

आपके उदाहरणो मे शाही जमाने की झलक भी आ ही जाती है। उस समय कबूतरो के जोडे पालने का बहुत प्रचार था और अब भी यवनो में इस बात का प्रचार है। सो आपने लज्जा-भाव की ध्वनि के उदाहरण मे लिख ही दिया—

"निरुद्धय यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्द नमयाम्बभूव ॥[1]"

उत्तर भारत में रहने पर भी आप पर दाक्षिणात्यता का प्रभाव ज्यो-का-त्यो था। देखिए तो भावशबलता का दृष्टात किस तरह का दिया गया है—

"नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथा स्वादो भावाना संहतौ तथा ॥

अर्थात् जिस तरह नारियल के जल, दूध, मिश्री और केलो के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावो के मिश्रण में भी होता है।" क्या इस विलक्षण मिक्स्चर को दाक्षिणात्यो के सिवा कोई पहचान सकता है?

इसी तरह अन्यान्य बातें भी इस पुस्तक के पाठ से आपके हृदय में अवतीर्ण हो सकेंगी। हम अधिक उदाहरण देकर इस प्रकरण को विस्तृत नहीं करना चाहते।

धर्म और अतिम वय

आप शाङ्कर वेदान्त और वैष्णवधर्म के अनुयायी एव भगवान् श्रीकृष्णचद्र तथा भगवती भागीरथी के परम भक्त थे, यह मगलाचरण

१—इसका अर्थ अनुवाद में देख लीजिए।

में लिखित और स्थान स्थान पर उदाहृत श्लोको से सिद्ध है। पर शिव तथा देवी आदि की स्तुति करने मे भी हिचकते नही थे। श्रीमद्भागवत[1] और वेदव्यास[2] पर आपको अत्यंत श्रद्धा थी। भगवन्नामोच्चारण मे आपको बडा आनद प्राप्त होता था। देखिए, आपने लिखा है कि—

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीत निपीत पयः
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि कतिधा रम्भाधर. खण्डितः।
तत्त्व ब्रूहि मदीय जीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरय मधुरिमोद्गार क्वचिल्लक्षित. ॥

हे मेरे जीवात्मन् ! तूने अंगूर चाखे हैं, मिश्री अच्छी तरह खाई है और दूध तो खूब ही पिया है। इसके अतिरिक्त (पहले जन्मो में कभी) स्वर्ग में जाने पर अमृत भी पिया है और (स्वर्गीय अप्सरा) रभा के अधर को भी कितने ही प्रकारों से खडित किया है। सो तू बता कि संसार में बार-बार घूमते हुए तूने, 'कृष्ण' इन दो अक्षरो मे जो मधुरता का उभार है, उसे भी कही देखा है ? ओह ! यह अपूर्व माधुरी और कहीं कैसे प्राप्त हो सकती है ! देखा भावोद्रेक !

वास्तव में सरसहृदयो के लिये, भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई, भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम और सुदर साधन है भी नहीं।

१—देखिए, 'रस नव ही क्यों हैं' आदि प्रकरण।

२—'ऋतुराज भ्रमरहितं यदाहमाकर्णयामि, नियमेन। आरोहति स्मृतिपथं तदैव भगवान् मुनिर्व्यासः' (स्मरणालंकार) आदि।

अतिम वय मे पडितराज मथुरा अथवा काशी में जा बसे थे और भगवत्सेवा करते थे ।[1]

अन्तिम अवस्था उतनी सुखमय नहीं थी

विदित होता है कि पडितराज की अन्तिम अवस्था सुखमय न थी। 'भामिनीविलास' इस स्थिति की स्पष्ट सूचना देता है। यह ग्रथ कोई स्वतन्त्र काव्य नहीं है, किन्तु उनके प्रकीर्णक पद्यो का सग्रह-मात्र है। वे स्वय भामिनीविलास के अन्त मे कहते हैं—

दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शङ्कया ।
मदीयपद्यरत्नाना मञ्जूषैषामयाकृता ॥

(भा० वि० ४–४६)

दुराचारी रण्डापुत्र चुरा लेगे इस भय से मैने अपने श्रेष्ठ पद्यो की यह मञ्जूषा बना दी है ।"

सग्रह भी उस समय का है जब वे सब छोड़छाड़ कर मथुरा में रहने लगे थे। वे लिखते हैं—

"शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्भाविता
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वय ।
सम्प्रत्युज्झितवासन मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥

(भा० वि० ४–४५)

१—'भामिनीविलास' के अत में 'सम्प्रत्युज्झितवासन मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते' लिखा हुआ है। काव्यमालाकार कहते हैं कि कुछ पुस्तको में 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्व पर चिन्त्यते' यह पाठ भी है, पर हमने जो पुस्तकें देखी हैं उनमें यह पाठ कही नहीं है ।

पडितराजो की पक्ति के तिलक (मै) ने सभी काम सब लोगों से बढचढ कर किए। शास्त्रो पर विचार-विमर्श किया, सभी नित्य विधियॉ (जिनके न करने से शास्त्र में दोष लिखा है) अच्छे प्रकार से कीं, नवीन वय (यौवन) दिल्लीपति (बादशाह) के पाणिपल्लव के नीचे व्यतीत किया और इस समय वासनाऍ छोडकर मथुरापुरी मे हरि-सेवा की जा रही है। साराश यह कि मेरी बाल्य, यौवन और वार्धक्य तीनो अवस्थाऍ सफल रहीं।"

उक्त दोनो श्लोको से यह निर्विवाद सिद्ध है कि यह सग्रह अन्तिम अवस्था का है। सभावना है तो केवल यही कि रसगगाधर अन्तिम अवस्था में भी लिखा जाता रहा हो, क्योंकि उसकी अनवसर समाप्ति और उसके बाद का कोई ग्रथ प्राप्त न होना यही सूचित करती है। इसके अतिरिक्त 'अमृतहरी' के निम्न-लिखित श्लोक भी, जो निस्सन्देह अन्तिम वय के लिखे हुए हैं, यही सूचित करते हैं, क्योकि पाचों लहरिया (जिनमे 'अमृतलहरी' भी सम्मिलित है) रसगगाधर के प्रथमानन की समाप्ति के पूर्व ही लिखी जा चुकी थी। वे प्रथमानन की समाप्ति मे कहते हैं—"मन्निर्मिताश्चपञ्च लहर्यो भावस्य—अर्थात् मेरी बनाई हुई पाचो लहरिया 'भाव' का उदाहरण हैं।"

'अमृतलहरी' के वे श्लोक ये हैं—

"दानान्धीकृतगन्धसिन्धुरघटागण्डप्रणालीमिलद्-
भृङ्गाली मुखरीकृताय नृपतिद्वाराय वद्धोऽञ्जलि.।
त्वत्कूले फलमूलशालिनि मम श्लाघ्यामुरीकुर्वतो
वृत्ति हन्त! मुनेः प्रयान्तु यमुने! वीतज्वरा वासरा.॥
पायं पायमपायहारि जननि! स्वादु त्वदीयं पयो
नाय नायमनायनीमकृतिना मूर्त्ति दृशोः कैशवीम्।
स्मार स्मारमपारपुण्यविभव कृष्णेति वर्णद्वयं
चारं चारमितस्ततस्तव तटे मुक्तो भवेय कदा॥

मद से अन्धे बनाए गए गन्धगजो के समूह के कपोलो के परनालो में इकट्ठी हुई भौरो की पक्तियो से शब्दायमान राजद्वार को हाथ जोड लिए—अब वहाँ रहना समाप्त है। हे यमुने! फल मूलो से सुशोभित तुम्हारे तटपर मै प्रशसनीय मुनिवृत्ति को स्वीकार कर रहा हूँ। मेरे दिन कष्टरहित व्यतीत हो।

हे माता, अपाय के हरण करनेवाले आप का स्वादिष्ठ जल पी-पीकर और केशवभगवान् (उस समय मथुरा के सबसे बडे मन्दिर के देव) की मूर्ति को, जो अकुशलो के नेत्रो का विषय नहीं है, नेत्रो मे ले-लेकर तथा जिनका पुण्य वैभव अपार है उन 'कृष्ण' इन दो वर्णों का स्मरण करते-करते एव आप के तट पर इधर-उधर घूमते कब मुक्त हो जाऊँ—(बस यही इच्छा है)। अस्तु।

भामिनीविलास मे वे अपने किसी बन्धु के स्वर्गप्रयाण के साथ ही अपनी मनोव्यथा की भी चर्चा करते हैं। कहते हैं—

> **दैवे पराग्वदनशालिनि हन्त जाते**
> **या ते च सम्प्रति दिवं प्रति बन्धुरत्ने।**
> **कस्मै मनः कथयितासि निजामवस्था**
> **कः शीतलैः शमयिता वचनैस्तवाधिम्॥**
>
> (तृ० वि० १)

हे मन, खेद है, कि, जब भाग्य ने मुँह मोड़ लिया और अब बन्धु-रत्न जब स्वर्ग चला गया तो तुम अपनी अवस्था किससे कहोगे और कौन शीतल वचनो से तुम्हारी मनोव्यथा को शान्त करेगा।"

उनकी पतिव्रता सुन्दरी पत्नी का उनके समक्ष ही देहावसान हो गया। 'भामिनी विलास' का समग्र द्वितीय विलास इसका साक्षी है। विस्तार के भय से वह समग्र यहाँ उद्धृत नहीं किया जा सकता है। पर,

कुछ पद्य जो पत्नी-शोक के स्पष्ट परिचायक हैं, यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं:—

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करं मे
या रूढवत्यसि शिलाशकलं विवाहे।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि! द्या-
मारोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति ॥
(तृ० वि० ५)

हे विलासिनि, विवाह के समय, मानों पैर फिसल न जाय इस डर से, मेरा हाथ पकडकर, जो तुम शिलाखण्ड पर चढी थीं, आज वही तुम मुझे छोड़कर स्वर्गारोहण कर रही हो, इस कारण मेरे हृदय के सैकडो टुकडे हुए जा रहे हैं।

केनापि मे विलसितेन समुद्गतस्य
कोपस्य किन्नु करभोरु! वशंवदाऽभू।
यन्मां विहाय सहसैव पतिव्रतापि
यातासि मुक्तरमणीसदनं विदूरम् ॥
(तृ० वि० ९)

हे करभोरु, क्या तुम मेरी किसी चेष्टा से उत्पन्न क्रोध की वशवर्तिनी हो गेई हो, जो पतिव्रता भी तुम मुझे सहसा ही छोडकर रमणीनिवास (जनाने मकान) को छोड़ती हुई दूर चली गई हो।

भूमौ स्थिता रमण नाथ मनोहरेति
सम्बोधनैर्यमधिरोपितवत्यसि द्याम्।
स्वर्गं गता कथमिव क्षिपसि त्वमेण-
शावाक्षि त धरणिधूलिषु मामिदानीम् ॥
(तृ० वि० १२)

हे मृगशावकनयने, जब तुम पृथ्वी पर थी तो तुमने मुझे हे रमण, हे नाथ, हे मनोहर इत्यादि सम्बोधनो से स्वर्ग पर चढा दिया था, पर अब स्वर्ग मे गई हुई तुम मुझे पृथ्वी की धूल में क्यों फेंक रही हो।

कान्त्या सुवर्णवरया परया च शुद्धया
नित्य स्विकाः खलु शिखाः परितः क्षिपन्तीम्।
चेतोहरामपि कुशेशयलोचने! त्वां
जानामि कोपकलुषो दहनो ददाह ॥
(तृ० वि० १५)

तुम सुवर्ण से श्रेष्ठ (अपनी) कान्तिद्वारा और परम शुद्धता (निर्मलता) के द्वारा नित्य ही अग्निशिखाओ को चारों ओर फेंकती रहती थी—उनका तिरस्कार करती रहती थी, अतः जान पडता है कि हे कमलनयने, कोप से मलिन अग्नि ने तुम—ऐसी मनोहर को भी जला दिया।

स्वप्नान्तरेऽपि खलु भामिनि! पत्युरन्यं
या दृष्टवत्यसि न कञ्चन साभिलाषम्।
सा सम्प्रति प्रचलिताऽसि गुणैर्विहीन
प्राप्तु कथं कथय हन्त! पर पुमासम् ॥
(तृ० वि० १७)

हे भामिनि, तुमने सपने मे भी पति के अतिरिक्त किसी को अभिलाषासहित नहीं देखा। अब तुम गुणहीन (निर्गुण+मूर्ख) पर पुरुष (परब्रह्म+जार) को पाने के लिए कैसे चल पडी। इत्यादि।

कुछ लोगो का अनुमान है कि पण्डितराज को पुत्रशोक भी सहना पड़ा। इसके प्रमाण में वे यह श्लोक उपस्थित करते हैं—

आ

"रे रे मनो मम मनोभवशातनस्य
पादाम्बुजद्वयमनारतभामन ·त्वम् ।
किं मा निपातयसि संसृतिगर्त्तमध्ये
नैतावता तव गमिष्यति पुत्रशोकः

(च॰ वि॰ ३३)

हे मेरे मन, तू शिवजी के दोनों चरणारविन्दो का निरन्तर स्मरण कर। क्यो मुझे ससार रूपी खड्डे मे गिरा रहा है। इतने से तेरा पुत्र-शोक मिटने का नहीं।"

पर यह ठीक नहीं है। कारण, एक तो इस श्लोक का संग्रह पत्नी-वियोग के समान 'करुण विलास' मे न होकर 'शान्त विलास' में है। यदि इससे शोकजनकता सूचित करनी होती तो इसका सग्रह 'करुण विलास' मे ही होता। दूसरे, 'रसगङ्गाधर' में भी यह 'प्रत्यनीक' अलंकार के उदाहरण मे दिया गया है। प्रत्यनीक अलकार वहीं होता है जहाँ 'शत्रुपर आक्रमण करने की शक्ति न होने से उसके किसी संबधी पर आकमण किया जाय।' सो यहाँ इसका प्रकृत अर्थ यही है कि 'हे मन, तू तेरे पुत्र 'मनोभव' को मारनेवाले शिव का बदला मुझ शिवभक्त को ससार में डालकर क्यो चुका रहा है। इससे पुत्रशोक जा नहीं सकता।' अतः इससे निज पुत्रशोक की बात उठाना व्यर्थ है।

इनके अतिरिक्त अप्रस्तुतप्रशसा के कुछ उदाहरण, जो 'भामिनी-विलास' मे भी सगृहीत किए गए हैं, उनकी प्राचीन-वैभव स्मृति को व्यक्त करते हैं, जो, प्रतीत होता है, अन्त में उनके हाथ से निकल चुकी थी। उदाहरणार्थ, जैसे—

"पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खल-
त्परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।

स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायक. कथय रे कथ वर्तताम् ॥

जिसकी वय (जीवन) पहले मानस-सरोवर के खिले हुए कमलों की पक्ति से गिरते हुए पराग से सुमन्धित जल मे व्यतीत हुई, वह हसो के कुल का स्वामी अब अनेक (झुण्डो के झुण्ड) मेढको से गदे किए गए तलैया के पानी मे, कहिए, कैसे निर्वाह करे ।

'समुपागतवति दैवादहेलां कुटज ! मधुकरे मा गाः ।
मकरन्दतुन्दिलानामरविन्दानामय महामान्यः ॥'

हे कुटज, दैव से तुम्हारे पास आए हुए मधुकर की अवज्ञा न करो । यह मकरन्दो से भरे अरविन्दो का महामान्य है ।" इत्यादि ।

पण्डितराज की प्रशस्ति

पण्डितराज जगन्नाथ विद्वन्मण्डली में सदा अभिनन्दनीय रहे । सभी विद्वान् उनका सादर स्मरण करते हैं । यहाँ आधुनिक विद्वानो के कुछ मत उद्धृत किए जाते हैं ।

(१)

'ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिट्रेचर' में A Berriedale Keith D. C. L, D. Litt. लिखते हैं—

"In the seventeenth century the great authority on poetics, Jagannath, wrote his Bhaminivilasa, admirable in many respects both as an eratic poem, an elegy, and a store of gnomic sayings.

सत्रहवीं शताब्दो में कविता के अधिकारी विद्वान् जगन्नाथ ने अपना 'भामिनीविलास' लिखा है जो शृङ्गार, करुण दोनो रसो और लोकोक्तियो के सम्बन्ध में प्रशसार्ह है ।'

(२)

'हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयूटिक्स' मे श्री सुशील कुमार डे, एम् ए. डी लिट्. लिखते हैं--

"Jagannatha's style is esudit and frightens the students by its involued language, its subtle reasoning and its unsparing criticism of earlier writers. . Jagannath's work displays an acute and independent treatment or at least an attempt at a rethinking of the old problems He shows himself conversant with the poetic theories of endeavours to harmonise with the new currents of thought, Along with some other important writers of the new School, Jagannath marks a reaction in this respect, and the school of Mammata and Ruyyaka does not receive from him unqualified homage.

जगन्नाथ की शैली पाण्डित्यपूर्ण है और अपनी जटिल भाषा, अति सूक्ष्म विचार और प्राचीन लेखको की निर्मम आलोचना के कारण विद्यार्थियो के लिए भयप्रद है ।...जगन्नाथ की कृति प्राक्तन समस्याओ के पुनर्विचार पर तीव्र और स्वतन्त्र शास्त्रार्थ तथा पूर्वग्रहविमुक्त आक्र-

मण प्रकट करती है। वे प्राचीन आलकारिको के सिद्धान्तो मे अपनी निपुणता दिखाते हैं और इन सिद्धान्तो की अवहेलना नही करते, किन्तु नवीन विचार-प्रवाहो के साथ इनके एकीकरण का प्रयास करते हैं। इस सबध मे जगन्नाथ नवीन पद्धति के कुछ महत्वपूर्ण अन्य लेखको के साथ इस दृष्टि से एक प्रतिक्रिया प्रस्तुत करते हैं और मम्मट तथा रुय्यक का सप्रदाय उनके द्वारा विशिष्ट मान्यता प्राप्त करता है।"

(३)

'हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स्' मे पी वी काणे M A. D. Litt. रसगगाधर के विषय मे लिखते हैं—

"रसगङ्गाधर—This is a standard work on poetics, particularly on alankaras. The Rasgangadhar stands next only to the ध्वन्यालोक and the काव्यप्रकाश in the field of Poetics. Though a modern writer he has a wonderful command over classical Sanskrit His verses are composed in an easy, flowing and graceful style and exhibit great poetic talent. His method is first to define a topic, then to discuss it and elucidate it by citing his own examples and to comment on the views of his predecessors. His prose is characterised by a lucid and vigorous style and displays great critical acumen. His criticism displays great sanity of judgment, maintains a high level of brilliant polemics and acuteness and is generally couched in courteous

language except when dealing with the views of Appaya. The justice of his criticism has to be acknowledged in most cases. Jagannath was a poet of great creative genius and also possesse the faculty of aesthetic appreciation in an eminent degree Jagannath is the last great writer on sanskrit Poet.

अर्थात् यह (रसगङ्गाधर) साहित्य पर, विशेषतः अलङ्कारो पर एक प्रामाणिक कृति है। साहित्य के क्षेत्र में केवल ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के अनन्तर इसका स्थान है। यद्यपि (ग्रन्थकार) आधुनिक लेखक है तथापि शास्त्रीय सस्कृत पर उसका अद्भुत अधिकार है। •• इसके पद्यो की रचनाशैली सरल, सुन्दर और धारावाहिनी है और महती कविप्रतिभा को निदर्शित करती है। इनकी पद्धति है कि प्रथम प्रस्तुत वस्तु का लक्षण बनाना, फिर लक्षण का विवेचन करना, तदनन्तर स्वनिर्मित उदाहरण द्वारा उसे स्पष्ट करना और अपने पूर्ववर्ती विद्वानो के विचारो की आलोचना करना। इनका गद्य प्रसन्न और ओजस्वी शैली द्वारा गुणदोषविवेचक है तथा आलोचना की सूक्ष्मता का प्रदर्शन करता है। इनकी आलोचना श्रेष्ठ निर्णयशक्ति प्रकट करती है। यह आलोचना विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ के उच्च स्तर से, सूक्ष्म विवेचना से एवं साधारणतया शिष्टभाषा से समन्वित होती है, केवल अप्पय दीक्षित की आलोचना के अवसर पर ही इसका अपवाद उपस्थित होता है। अधिकाश विषयो मे उनकी आलोचना का निष्कर्ष स्वीकार्य होता है। जगन्नाथ श्रेष्ठ उत्पादिका प्रतिभा के कवि तथा प्रचुर परिमाण में सौन्दर्याङ्कन की क्षमता से संपन्न हैं। जगन्नाथ संस्कृत साहित्यशास्त्र के चरम लेखक हैं।"

निर्मित ग्रंथ

१—**अमृतलहरी**—इसमे यमुनाजी की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

२—**आसफविलास**—इसमें नवाब आसफखाँ का वर्णन है। काव्यमाला-सपादक ने लिखा है कि यह ग्रथ हमे नहीं मिल सका, कुछ पक्तियाँ ही मिली हैं।

३—**करुणालहरी**—इसमें विष्णु की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

४—**चित्रमीमासाखंडन**—इसमे रसगगाधर मे स्थान-स्थान पर जो चित्रमीमासा के अशो का खडन किया गया है, उसका सग्रह है और काव्यमाला में छप चुका है।

५—**जगदाभरण**—इसमें शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की प्रशसा है। काव्यमाला के सपादक का कथन है कि प्राणाभरण मे और इसमें इतना ही भेद है कि इसमे प्राणनारायण के नाम के स्थान पर दाराशिकोह का नाम है।

६—**पीयूषलहरी**—इसका सुप्रसिद्ध नाम गगालहरी है और यह अनेक जगह अनेक बार छप चुकी है।

७—**प्राणाभरण**—इसमें नैपालनरेश प्राणनारायण का वर्णन है और यह काव्यमाला में छप चुका है।

८—**भामिनीविलास**—यह पण्डितराज के पद्यों का सग्रह है और अनेक स्थानों से अनेक बार छप चुका है।

९—**मनोरमाकुचमर्दन**—यह सिद्धान्तकौमुदी की मनोरमा व्याख्या का खंडन है, पर इसका प्रचार नहीं है।

१०—**यमुनावर्णन**—यह ग्रथ गद्य मे लिखा गया था, क्योकि रसगगाधर के उदाहरणो में इसके दो तीन गद्याश उद्धृत किए गए हैं; पर मिलता नही ।

११—**लक्ष्मीलहरी**—इसमे लक्ष्मीजी की स्तुति है और यह काव्य-माला आदि मे छप चुकी है ।

१२—**रसगंगाधर**—यह आपके सामने प्रस्तुत है । पडितराज का सबसे प्रौढ और मुख्य ग्रथ यही है, परतु आज दिन तक यह न पूरा हो सका और न पूरा मिलने की अब आशा है ।

कुछ लोगो का कथन है कि इनके अतिरिक्त 'शशिसेना' तथा 'पडितराजशतक' नामक दो और ग्रथ भी पडितराज के बनाए हुए हैं, पर वे देखने मे नहीं आते ।

अंतिम ग्रंथ

काव्यमाला-सपादक का कथन है कि—रसगंगाधर पडितराज का अतिम ग्रथ नहीं है, इसके बनाने के अनतर भी वे जीवित रहे। इसका कारण वे यह बताते हैं कि पडितराज ने इसके अनतर 'चित्रमीमासा-खडन' लिखा है। पर, हमारी समझ मे, यह हेतु यथेष्ट नहीं। इसका कारण यह है कि 'चित्रमीमासाखडन' कोई स्वतत्र ग्रथ नही है, उसमें रसगगाधर के वे अश, जिनमे उस पुस्तक का खडन आया है, ज्यो के त्यो सग्रहीत कर लिए गए हैं। सग्रह का कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय आज-कल की तरह मुद्रण-कला का प्रचार नहीं था, इस कारण किसी भी ग्रथ का दूर देशो तक प्रचार बहुत विलब से होता था और पडितराज को अप्पय दीक्षित के हिमायतियो को उनकी भूले दिखा देने की बहुत आतुरता थी, वे चाहते थे कि लोगो पर जो अप्पय दीक्षित

का प्रभाव पडा हुआ है, वह मेरे सामने ही कम हो जाय। सो पूर्वोक्त सग्रह की अनेक प्रतियाँ, जो समग्र रसगंगाधर की अपेक्षा थोडे समय और व्यय में हो सकती थी और रसगगाधर की समाप्ति के पूर्व ही उन लोगो के हाथो मे पहुँचाई जा सकनी थी, लिखवाकर उन्होने उन सब लोगो के पास भिजवा दी और आगे का ग्रंथ लिखते रहे। अन्यथा जो सब बाते रसगमाधर मे आ गई थीं उनके पृथक् सग्रह की—और वह भी ऐसे सग्रह की कि जिसमे कुछ भी नवीनता नहीं है[1]—क्या आवश्यकता थी। "चित्रमीमासा खण्डन" के आरभ मे यह श्लोक लिखा है—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानामप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरण विदध्यात्तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि॥

अर्थात् इस अप्पयदीक्षित की कृति (चित्रमीमासा) मे मैने, सूक्ष्म विचार करके जो कुछ दूषण दिखाए हैं, उनका यदि कोई निर्मत्सर पुरुष उद्धार कर दे तो उस निर्मलबुद्धि पुरुष के दोनो पैरो को मै अपने सिर पर रखूँगा। इससे भी इस सग्रह का कारण यही प्रतीत होता है।

काव्यमाला-सपादक ने यह भी लिखा है कि "इतना अनुमान किया जा सकता है कि पडितराज ने अप्पय दीक्षित के द्वेष से रसगगाधर के द्वारा 'चित्रमीमासा' का अनुकरण करना प्रारभ किया था, सो उन्होने भी अपने ग्रथ को असमाप्त ही छोड दिया।" पर यह बात बनती नहीं। कारण, यदि यह ग्रंथ चित्रमीमासा के अनुकरण पर ही लिखा गया होता तो चित्र मीमासा में तो काव्यलक्षण, रस, भाव, गुण आदि का कहीं

---

1 चित्रमीमांसाखण्डन में वे स्वय कहते हैं—
"रसगङ्गाधरे चित्रमीमासाया मयोदिता।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य लिख्यन्ते विदुषा मुदे।"

निशान भो नहीं। फिर भला इस पुस्तक में इन सब विषयो के विवेचन की क्या आवश्यकता थी? और यदि वैसा ही करना था—अर्थात् अधूरा ही छोडना था—तो क्या पडितराज भी चित्रमीमासा की तरह ही, कोई श्लोक बनाकर अत मे नहीं रख सकते थे, क्यो उत्तरालंकार के उदाहरण के तान पादो पर ही ग्रथ लटकता रह गया?

दूसरे, इस बात को तो काव्यमाला-सपादक भी मानते हैं कि पडितराज रसगंगाधर के पॉच आनन बनाना चाहते थे, अतएव उन्होने इस पुस्तक के प्रकरणो का नाम 'आनन' रखा था, क्योकि गगाधर (शिव) के पॉच आनन (मुख) होते हैं। फिर, चित्रमीमासा का अनुकरण तो अधिक से अधिक अलकारसमाप्ति तक हो सकता था, जो दूसरे आनन में समाप्त हो जाता। यदि उसका अनुकरण ही करना था, तो वे क्यो आगे लिखना चाहते थे। तीसरे, रसगगाधर के उद्देश्यो मे भी यह बात नहीं है कि जिससे यह अनुमान किया जाय।

अतः हमारी तुच्छ बुद्धि के अनुसार तो यह मानना उचित है कि पडितराज का अतिम ग्रथ रसगगाधर ही है और इसकी समाप्ति के पूर्व ही उनका देहावसान हो गया था।

अन्य जगन्नाथ

इसके अतिरिक्त एक और बात समझ लेने की है। वह यह कि अब तक सस्कृत भाषा में ग्रथ निर्माण करनेवाले अनेक जगन्नाथ पडित हो गए हैं, सो उनके नाम हम यहॉ काव्यमाला की भूमिका से इसलिये उद्धृत कर रहे हैं कि कोई उनकी पुस्तको को भी पडितराज की पुस्तके न समझ ले।

१—तंजौरवासी जगन्नाथ—इनके ग्रथ अश्वधाटी, रतिमन्मथ और वसुमतीपरिणय हैं।

२—जयपुरनिवासी सम्राट् जगन्नाथ—इनके ग्रथ रेखागणित, सिद्धातसम्राट् और सिद्धातकौस्तुभ हैं।

३—जगन्नाथ तर्कपंचानन—इनका ग्रथ विवादभगार्णव है।

४—जगन्नाथमैथिल—इनका ग्रथ अतद्रचद्रिक नाटक है।

५—श्रीनिवास के पुत्र जगन्नाथ पंडित—इनका ग्रथ अनगविजय भाण है।

६—जगन्नाथ मिश्र—इनका ग्रथ सभातरग है।

७—जगन्नाथ सरस्वती—इनका ग्रथ अद्वैतामृत है।

८—जगन्नाथ सूरि—इनका ग्रथ समुदायप्रकरण है।

९—जगन्नाथ—इनका ग्रथ शरभगजविलास है।

१०—नारायण दैवज्ञ के पुत्र जगन्नाथ—इनका ग्रथ ज्ञानविलास है।

११—जगन्नाथ—इसका ग्रथ अनुभोगकल्पतरु है।[१]

वैशाख वदि द्वितीया शनिवार
संवत् १९८५
७ एप्रिल १९२८

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
जयपुर।

१—इस प्रकरण में जिन विद्वानों से साक्षात् अथवा उनके पुस्तकादि के द्वारा सहायता प्राप्त हुई है, उनका, और विशेषतः काव्यमाला-सपादक का, लेखक हृदय से कृतज्ञ है।

विषय-विवेचन

काव्यलक्षण का विवेचन

कवि और काव्य

इस ग्रन्थ को स्वय ग्रन्थकर्त्ता ने 'काव्यमीमासा'[1] कहा है, और सबसे पहले काव्य-लक्षण का ही विवेचन किया है, अत. यह सोचिए कि जिसकी मीमासा इस ग्रन्थ मे की जा रही है और जिसका लक्षण सबसे प्रथम लिखा गया है, वह काव्य क्या वस्तु है? अर्थात् काव्य शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? और साथ ही यह भी सोचिए कि वह काव्य-लक्षण अब तक किन-किन विवेचको की टक्करे खाकर किस-किस रूप मे परिणत हो चुका है।

'काव्य' शब्द का अर्थ, व्याकरण का रीति से, 'कवि[2] की कृति' होता है, अर्थात् कवि जो कार्य करता है, उसे 'काव्य' कहा जाता है। तब यह समझने की आवश्यकता होती है कि कवि शब्द का अर्थ क्या है, और वह क्या कार्य करता है। अच्छा तो कवि शब्द का अर्थ भी समझिए और उसके बाद काव्यलक्षण पर ऐतिहासिक क्रम से एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाल जाइए। व्याकरण के अनुसार कवि शब्द

१—मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपंडितनरेन्द्र· ।
रसगङ्गाधरनाम्नी करोति कुतुकेन काव्यमीमासाम् ।
—प्रथमानन, ७ श्लोक ।

२—'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति कर्मणि ष्यञ् ।

का अर्थ किसी विषय का कहनेवाला[१] अथवा प्रतिपादन करनेवाला होता है और कोषकार उसे पंडित[२] शब्द का पर्यायवाची मानते हैं। अतः व्याकरण और कोष दोनों अथवा यों कहिए कि योग और रूढि दोनो की दृष्टि से एक साथ विचार करने पर इस शब्द का अर्थ 'किसी विषय का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान्' होता है। इसी बात को सीधे शब्दों में यों कह सकते हैं कि कवि उस जानकार का नाम है, जो अपनी जानी हुई बातो का प्रतिपादन कर सके।

आरंभ में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत होता था। अतएव वेद में सर्वज्ञ और वेदो के द्वारा सब पदार्थों का सूक्ष्म रूप से प्रतिपादन करनेवाले जगदीश्वर के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है— "कविर्मनीषी परिभूः स्वयभूः" (शुक्लयजुः-संहिता अ० ४० म० ८)। इसी प्रकार वेदो के सर्व प्रथम विद्वान् प्रकाशयिता ब्रह्मा को भी पुराणो में "आदिकवि" कहा गया है—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" (श्रीमद्भागवत १-१-१)। जिस तरह वैदिक वाणी के प्रथम-प्रकाशक ब्रह्मा को यह पदवी प्राप्त हुई, उसी प्रकार लौकिक वाणी के सर्वप्रथम वर्णयिता महर्षि वाल्मीकि भी 'आदिकवि' पदवी मे विभूषित किए गए। उनके अनतर महाभारत जैसे महोपाख्यान और अष्टादश महापुराणो के प्रणेता महामुनि कृष्ण द्वैपायन (वेदव्यास) 'कवि' पदवी के अधिकारी हुए। इसी तरह पुराणों के समय तक अन्यान्य विद्वान् वर्णयिताओ को, चाहे उनकी रचनाओं में सौंदर्य अधिक मात्रा में होता या न होता, कवि कहा जाता था, जैसे राजनीति आदि के लेखक शुक्राचार्य आदि को। कवि शब्द का वह व्यापक अर्थ, जिसके द्वारा प्रत्येक वर्णयिता

१—'कुङ्-शब्दे' कवते इति कवि., 'कबृवर्णे' इत्यनेन तु नेदं सिध्यति, तस्य पवर्गीयोपधत्वात्।

२—'संख्यावान् पंडित. कवि' इत्यमरः।

को कवि कहा जा सकता था, पुराणो के समय तक प्रचलित था। यह बात अग्निपुराण के काव्यलक्षण से स्पष्ट हो जाती है जिसका वर्णन अभी किया जायगा।

परन्तु पीछे से यह शब्द उन विद्वानो के लिए व्यवहृत होने लगा, जो सौदर्यपूर्ण विषय का सौदर्यपूर्ण वर्णन करते थे और जिनके वर्णन को सुनकर मनुष्य मुग्ध हो जाते थे। अतएव व्यास और वाल्मीकि को कवि मान लेने पर भी, किसी ने मनु, याज्ञवल्क्य अथवा पराशर जैसे विद्वानो को, यद्यपि उन्होने भी छन्दोबद्ध ग्रथ लिखे हैं, कवि नही कहा। काव्यलक्षण मे अनेक परिवर्तन होते हुए भी, शास्त्रीय दृष्टि से, यह शब्द आज दिन भी प्रायः इसी अर्थ मे व्यवहृत होता है। 'शास्त्रीय दृष्टि से' शब्द हमने चलाकर लिखा है और वह इस लिए कि आजकल बहुतेरे लोग वास्तव मे विद्वान् न होते हुए भी साधारण दृष्टि के लोगो द्वारा कवि कहे जाते हैं।

अच्छा यह तो हुइ 'कवि' की बात। अब यह समझिए कि उसका कार्य क्या है। उसका कार्य, कवि शब्द के साधारण अथवा प्रारभिक अर्थ के अनुसार 'किसी विषय का प्रतिपादन' और विशेष अथवा आधुनिक अर्थ के अनुसार 'किसी सौदर्यपूर्ण विषय का सौदर्यपूर्ण वर्णन' है। प्रतिपादन अथवा वर्णन शब्दो के रूप में होता है, अत. यह समझना भी कठिन नहीं कि वह शब्द ही कवि का काय है।[1] तब यह निष्कर्ष

१—यद्यपि कवि का कार्य शब्दों की योजना है, तथापि जिस तरह कुम्हार का काम घडे का निर्माण होने पर भी घडा भी कुम्हार का काम माना जाता है, उसी तरह शब्द भी कवि का कार्य कहलाता है। तात्पर्य्य यह कि यहाँ कर्म शब्द से की जानेवाली वस्तु ली गई है, क्रिया नही और यह बात शास्त्रसिद्ध एव विद्वत्सम्मत है।

निकलता है कि प्रारभ मे किसी विषय के प्रतिपादन करनेवाले शब्दो को काव्य कहा जाता था ।

अब आप देखिए कि काव्य का यह साधारण लक्षण किन-किन विवेचको की कैसी-कैसी विचारधाराओ मे प्रवाहित हुआ और अनेक टक्करें खाकर आज वह किस रूप में है ।

अग्निपुराण (समय अनिश्चित)

सबसे प्रथम 'काव्यलक्षण' प्राप्य ग्रथो मे से अग्निपुराण मे मिलता है । वहाँ लिखा है—

सक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।
काव्यम्··· ·· ···· ·· ·· ·· ······· ॥

अर्थात् सक्षेप से जो वाक्य होता है उसका नाम काव्य है और सक्षेप से वाक्य का अर्थ यह है कि जिस अर्थ को कहना चाहते हैं वह जितने से कहा जा सकता है, उसमे न अधिक और न न्यून, इस तरह की पदावली काव्य है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि "काव्य उस पदावली को कहते हैं, जिसमे, जो कुछ हम कहना चाहते हैं वह थोडे में पूर्णतया कह दिया जाय, न तो व्यर्थ का विस्तार हो और न यही हो कि जो बात कह रहे हैं वही साफ-साफ न कही जा सके ।"

दडी (छठी शताब्दी, अनुमित)

'काव्यादर्श' कार आचार्य 'दण्डी' का भी, जिनको कि प्राचीन आचार्यों मे माना जाता है, प्रायः यही काव्यलक्षण है । उन्होने अग्नि-पुराण के लक्षण में से 'सक्षेपाद् वाक्यम्' इस भाग को निकालकर केवल उसकी व्याख्या को ही स्वीकार किया है, पर दोनो मे भेद कुछ भी नहीं है । वे कहते हैं—"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।"

रुद्रट (वामन[1] से पूर्व)

इनके बाद आलकारिकशिरोमणि रुद्रट का समय आता है। उन्होने अथवा उनके पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने, अपनी सूक्ष्म दृष्टि से, एक गहरी बात सोची है। वह यो है—

हम पहले कह आए हैं कि काव्य शब्द का वास्तविक अर्थ कवि की कृति है। अब सोचिए कि कवि जिस तरह शब्दो को ढग से जोड कर पद्यादिक के रूप मे परिणत करता है, उसी तरह वह जिन अर्थों का वर्णन करता है उनको भी आवश्यकतानुसार नए साँचे मे ढाल देता है। यही क्यो, यदि यथार्थ मे सोचे तो यह कहा जा सकता है कि कवि के वर्णन किए जानेवाले पदार्थ उसी के होते हैं, वे ईश्वरीय सृष्टि क वास्तविक पदार्थों से पृथक् एव केवल कविकल्पनाप्रसूत होते हैं। सच पूछिए तो ऐतिहासिक सीता-शकुतला से भवभूति और कालिदास की सीता-शकुतला निराली हैं। इसी प्रकार कालिदास का हिमालय और श्रीहर्ष का चद्र भी लौकिक हिमालय और चद्र से िलक्षण हैं। थोड़ा और सोचिए, सीता-शकुतला आदि का तो इतिहास से कुछ सबंध भी है, पर भवभूति के 'मालतीमाधव' को लीजिए, वह नाटक नही प्रकरण है, और यह सिद्ध है कि प्रकरण का कथानक कल्पित होता है। अब बताइए, उसमे जिन मालती, माधव तथा अन्यान्य पात्रो का वर्णन है, उन्हें किसने उत्पन्न किया? विवश होकर यही कहना पडेगा—कवि ने। बस तो इसी बात को अन्यत्र

१—यद्यपि रुद्रट का समय पूर्णतया निश्चित नहीं हो सका है तथापि अलकारसर्वस्वकार ने, जो कि काव्यप्रकाशकार से प्राचीन हैं, उन्हें वामन से प्राक्तन आचार्यों में समझा है, सो हमने भी वही समय स्वीकृत किया है।

भी लगाइए और समझिए कि कवि के वर्णनीय अर्थ मानस होते हैं, वास्तविक नहीं, अतः शब्दो की तरह वे भी कवि की कृति ही हैं। अतएव अग्निपुराण के ही शब्दो को लेकर ध्वन्यालोक मे लिखा है—

"अपारे काव्यससारे कविरेव प्रजापति ।
यथाऽस्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्त्तते ॥

अर्थात् काव्यरूपी जो अनत जगत् है उसमें कवि ही प्रजापति[1] है—उस जगत् का सृष्टिकर्त्ता वही है, उसे जिस तरह का ससार पसद होता है, इस जगत् को उसी प्रकार बदल जाना पड़ता है।"

सो अब तक जो केवल शब्द (पदावली) को काव्य कहा जाता था, रुद्रट को न जँचा और उन्होने उसके साथ अर्थ को भी जोड़ दिया। उन्होने कहा—"ननु[2] शब्दार्थौ काव्यम् ।" तात्पर्य यह कि रुद्रट के, अथवा रुद्रट और दण्डी के मध्य क, समय में पदावली और उससे वर्णन किए जानेवाले अर्थ दोनो को काव्य कहा जाने लगा।

वामन (नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पहले)

इनके अनतर सुप्रसिद्ध आलकारिक वामन का समय आता है। यद्यपि सौंदर्ययुक्त वर्णन को काव्य मानना अग्निपुराण के समय से ही प्रचलित हो गया है, यह बात उसके लक्षण से पूर्णतया सिद्ध न होने पर भी अग्निपुराणीय विवेचन से सिद्ध है, तथापि वामन के समय से काव्य में सौंदर्य का प्राधान्य समझा जाने लगा। यह बात उनके अलकार-सूत्रो से स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—"काव्य ग्राह्यमलकारात्' जिसका तात्पर्य यह है कि काव्य का ग्रहण करना उचित है, क्योंकि उसमें सुदरता होती है।

१—स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमर' ।

२—"पृष्टप्रतिवाक्ये ननुः" इति तट्टीकाकर्तुर्नमिसाधोर्विवरनम् ।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि वामन के समय में काव्य की सुंदरता का कारण गुणो और अलकारो को माना जाता था। उन्होने लिखा ही है—"सौन्दर्यमलङ्कारः" "स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम्", अर्थात् सौन्दर्य ही अलकार है और वह सौदर्य दोषो के छोड देने और गुणो तथा अलकारो के ग्रहण करने से होता है। अतएव वे पूर्वोक्त सूत्रो की स्वनिर्मित वृत्ति मे 'काव्यलक्षण' के विषय मे कहते हैं—"काव्यशब्दोऽय गुणालकारसस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्त्तते अर्थात् जिन शब्दो और अर्थों मे गुणो और अलकारो का पुट लगा हो, वे काव्य कहलाते हैं।"

पर उनके ग्रथ से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द और अर्थ के साथ 'गुणो और अलकारो से युक्त' विशेषण उनकी अभिनव ही सृष्टि है, क्योकि वे उसी के साथ लिखते हैं कि "भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते"। इसका तात्पर्य यह होता है कि, अब तक जो 'केवल शब्द और अर्थ' को काव्य कहा गया है वह काव्यस्वरूप का वास्तविक विवेचन न होने के कारण कहा गया है और अब वह रूढ हो गया है, पर उसे काव्य शब्द का मुख्य अर्थ नही, किंतु लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। सो वामन के सिद्धात के अनुसार काव्य शब्द का अर्थ 'गुणो और अलकारो से युक्त शब्द और अर्थ' हुआ।

आनदवर्धनाचार्य (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध)

इनके अनतरभावी व्यग्यविवेचना के प्रथम प्रवर्त्तक ध्वनिमर्मज्ञ श्री आनंदवर्धनाचार्य ने काव्यलक्षण को स्पष्ट रूप मे तो नहीं लिखा है, पर यह अवश्य स्वीकार किया है कि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है। वे एक प्रसङ्ग मे कहते हैं कि "शब्दार्थशरीर तावत् काव्यम्।"

भोज (ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध)

इनके बाद सस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध प्रेमी धारावराधीश्वर महाराज भोज का नबर आता है। यद्यपि उन्होने स्पष्ट रूप स कोइ 'काव्यलक्षण'

नहीं लिखा है, तथापि उनके "निर्दोष गुणवत् काव्यमलकारैरलङ्कृतम्। रसान्वित कविः कुर्वन् कीर्त्ति प्रीति च विन्दति।" इस सरस्वतीकठाभरणस्थ पद्य से यह सिद्ध होता है कि वे भी शब्द और अर्थ दोनो को ही काव्य मानते हैं, क्योकि एक तो उन्होने जो काव्य को 'रसान्वितम्' विशेषण दिया है वह अर्थ को काव्य माने बिना ठीक-ठीक नहीं घट सकता; क्योकि रस का साक्षात् अन्वय केवल शब्दो से नहीं हो सकता। दूसरे 'अलकारै.' से भी उन्हे शब्दालकार और अर्थालकार दोनो अभीष्ट हैं, सो अर्थ को काव्य माने बिना अर्थालकार अलकृत किसे करेंगे?[१]

मम्मट (बारहवी शताब्दी)

अब आगे चलिए' आगे आलकारिक जगत् के देदीप्यमान रत्न महामति मम्मटाचार्य का स्थान है। उन्होने वामन के मत को अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से देखा। वामन का 'गुणसहित' कहना तो उनकी समझ मे आया, पर अलकारो पर उतना जोर देना उन्हें न जॅचा। बात भी ठीक है, काव्य मे अलकारो का अनिवार्य होना सवथा आवश्यक भी नहीं है। सो उन्होने कहा कि "सब जगह अलकार रहें, पर यदि कहीं वे स्पष्ट न भी रहें, तथापि दोषरहित और गुणसहित शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाना चाहिए।"[२]

वाग्भट (बारहवी शताब्दी, मम्मट के पीछे)

पर, पीछे के विद्वानो का ध्यान, ध्वनिकार के सिद्धातो का अच्छा प्रचार हो जाने के कारण, काव्य के जीवन रस की ओर गया। सो वाग्भट ने देखा, वामन गुणो और अलकारो सहित शब्द और अर्थ

१—वामनाचार्य झल्कीकर ने काव्यप्रकाश की भूमिका में जो यह लिखा है—"निर्दोष गुणालंकाररसवद् वाक्य काव्यमिति भोजमतम्" सो प्रतीत होता है कि पुर.स्फूर्त्तिक है।

२—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन. क्वापि"—काव्यप्रकाश।

को काव्य और रीति को काव्य का आत्मा मानते हैं और काव्यप्रकाश-कार दोषरहित और गुणसहित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं, तो लाओ हम इन सभी को लिख डाले। इसलिये उन्होने "गुण, अलकार रीति और रससहित तथा दोषरहित शब्द और अर्थ" को काव्य कहा।

पीयूषवर्ष (बारहवी शताब्दी का उत्तरार्ध)

इधर पीयूषवर्ष (चद्रालोककार जयदेव) तो और भी बढे। वे तो दोषरहित[1] एव लक्षण, रीति, गुण, अलकार, रस और वृत्ति—इन सबसे सहित वाणी को काव्य कहने लगे। अर्थात् अब तक जो कुछ उत्कर्षाधायक, जीवनदायक अथवा शोभाविधायक धर्म उन्हे दिखाई पडे, उन्होने उन सबको वाक्य के साथ मे लगाकर एक लबा लक्षण बना डाला। पर, यह बात एक प्रकार से मानी हुई ही है कि उनका लक्षण-निर्माण सरल और हृदयङ्गम होने पर भी उतना विवेचनापूर्ण नहीं है। वही बात यहॉ भी हुई है।

विश्वनाथ (चादहवी शताब्दी)

विक्रम की चौदहवी शताब्दी से काव्यलक्षण का रुख फिर से बदला और उसकी लबाई को कम करने का यत्न होने लगा। जहॉ तक हम समझते हैं, सबसे पहले, सुप्रसिद्ध निबध 'साहित्यदर्पण' के रचयिता महापात्र विश्वनाथ ने उसे कम किया और कहा कि "जिसकी[2] जीवन-ज्योति रस-भाव आदि हैं, जो इन्ही के द्वारा चमत्कारी होता है, उस वाक्य का नाम 'काव्य' है।" उनका अभिप्राय यह है कि वाक्य मे चाहे अलकार आदि कोई उत्कर्षाधायक वस्तु न हो और दोष भी हो,

---

१—"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यशब्दभाक्।" चन्द्रालोक.

२—"वाक्य रसात्मक काव्यम्"—साहित्यदर्पण

तथापि यदि उससे रस, भाव और उनके आभासों की अभिव्यक्ति होती हो तो उसे काव्य कहा जा सकता है।

यह बात कुछ नवीन नहीं, बहुत पुरानी है। शौद्धोदनि नामक एक आचार्य ने इस बात को बहुत पहले ही लिख दिया था, महापात्रजी ने प्रायः उसी को उठाकर लिख दिया है। यह बात केशव मिश्र के 'अलकारशेखर' से स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं—'अलकारसूत्र-कार भगवान् शौद्धोदनि ने काव्य का स्वरूप यो लिखा है—"काव्य रसादिमद्वाक्य श्रुत सुखविशेषकृत्।" अर्थात् जिस वाक्य मे रस आदि हो, उसे 'काव्य' कहा जाता है। 'रस आदि' मे जो 'आदि' शब्द है, उससे उन्होने (केशव मिश्र ने) अलकार का ग्रहण किया है और कहते हैं कि रस अथवा अलकार दानो मे से एक के होने पर वाक्य को काव्य कहा जा सकता है। पर साहित्यदर्पणकार को अलकारमात्र के होने पर काव्य मानना अभीष्ट नहीं, अत. उन्होने आदि शब्द को उडा दिया और केवल 'रस' शब्द लिखकर उससे रस भाव-आदि आस्वादनीय व्यग्यो का ग्रहण कर लिया है।

गोविंद ठक्कुर[1] (सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध, अनुमित)

तदनतर 'काव्यप्रकाश' के मर्मज्ञ 'काव्यप्रदीप'-कार श्रीगोविंद ठक्कुर का समय आता है। उन्होने 'काव्यप्रकाश' के लक्षण का विवेचन करते हुए यह लिखा है कि—काव्यप्रकाशकार को रस-रहित होने पर और अलकार के स्पष्ट न होने पर भी शब्द और अर्थ को काव्य मानना अभीष्ट है। पर यह उचित नहीं। क्योंकि जहॉ रस न होगा, और अलकार भी स्पष्ट न होगा, तो बताइए, वहॉ चमत्कार किसका होगा?

१—ये यद्यपि व्याख्याकार हैं, तथापि हम इन्हे आचार्यों में मानते हैं और हमें विश्वास है कि 'प्रदीप' के मर्मज्ञों को इसमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

और काव्य में चमत्कार ही असली वस्तु है, यदि वही न रहा, तो उसे काव्य कहा ही कैसे जायगा ? अतः यह मानना चाहिए कि जहाँ रस हो वहाँ यदि अलकार स्पष्ट न हो तथापि शब्द और अर्थ को काव्य कहा जा सकता है, पर जहाँ रस न हो वहाँ अलकार का होना आवश्यक है। सो रस और अलकार—इन दोनों मे से किसी एक से भी युक्त शब्द और अर्थ को काव्य कहा जाना चाहिए। इनका यह लक्षण प्रायः केशव मिश्र के लक्षण से मिल जाता है।

पडितराज (सत्रहवी शताब्दी)

इनके अनंतर अनुवाद्य ग्रथ के निर्माता मार्मिक तार्किक श्री पडितराज का समय है। इन्होने इस विषय में जो मार्मिक विवेचन किया है, वह तो आपके सामने है और उस पर जो इस अकिञ्चित्कर की टिप्पणी है वह भी आपके सम्मुख है। अतः इस विषय में अधिक लिखकर हम आपका समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहते।

उपसहार

जहाँ तक हमारा ज्ञान है, हम कह सकते हैं कि पडितराज के अनतर इस विषय का मार्मिक विवेचन किसी ने नहीं किया। अतएव इसी लक्षण को अंतिम समझकर हम पूर्वोक्त लक्षणो का सिंहावलोकन करते हुए इस विषय को समाप्त करते हैं—

यह कहा जा चुका है कि वेदादिक के समय में 'किसी भी अर्थ के वर्णन' को काव्य कहा जाता था। उसके अनतर, पुराणो के समय में, लक्षण के प्रायः प्राचीन रूप मे रहने पर भी, 'कविकल्पित'[1] सुदर

---

[1]—'अग्निपुराण' में ऐतिहासिक व्यक्तियों को भी प्रबध (आख्यायिका आदि) के अनुरूप बना लेने की अनुमति है और थोडा भी फेर फार होने पर ऐतिहासिकता नष्ट हो जाती है, क्योंकि इतिहास में कल्पना को किंचित् भी स्थान नही। अत. हमने अर्थ को 'कवि-

अर्थ के सौंदर्ययुक्त वर्णन' को काव्य माना जाता था। यह बात अग्निपुराण के पाठ से पूर्णतया सिद्ध हो जाती है, क्योकि उसके लक्षण में सौंदर्य पर उतना जोर न दिया जाने पर भी, पदार्थों के वर्णन के लिये जिस सौदर्य का सपादन अपेक्षित है उसका उसमें विस्तृत विवेचन किया गया है। यह मत सभवतः दडी तक चलता रहा।

तदनतर रुद्रट, अथवा उनके पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य, के समय से 'सुदर शब्द अर्थ का नाम काव्य हुआ। बाद मे, वामन के समय से, सौदर्यपूर्ण अर्थ और उसके 'सौदर्यपूर्ण वर्णन' को काव्य कहा जाने लगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि वामन और उनके पूर्व के समय में शब्द और अर्थ दोनो के सौदर्य का कारण गुणो और अलकारो को ही माना जाता था।

उनके बाद आनदवर्धनाचार्य के समय मे सौदर्य का पूर्णतया अन्वेषण हुआ और तब सौंदर्य के मूल 'रस' का प्राधान्य हो जाने के कारण अलकारोका आदर कम हा गया।

काव्यप्रकाशकार ने अलकारो को गौण कर दिया और गुणो को केवल रस का धर्म मानकर उनको अभिव्यक्त करनेवाली रचना का अधिक सम्मान किया। उनके हिसाब से रस और रचना सौदर्य का प्रधान कारण थे और अलकार अप्रधान। तदनुसार वे भी 'सौदर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौंदर्यपूर्ण वर्णन' को काव्य मानने लगे।

कल्पित' विशेषण लगाया है। इसी--अर्थात् वर्णनीय अर्थों को इच्छानुसार चित्रित कर डालने के ही—कारण, हमने, काव्य में वर्णित ऐतिहासिक और अनैतिहासिक सभी अर्थों को 'कल्पित' माना है, क्योंकि वे यथास्थित पदार्थों से पृथक् हो जाते हैं। सो इस विशेषण को काव्यलक्षण में सर्वत्र अनुस्यूत समझिए।

वाग्भट और पीयूषवर्ष के लक्षण उतने क्षोदक्षम नहीं हैं, अतः उन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं।

साहित्यदर्पणकार सौदर्यपूर्ण अर्थ को काव्य नहीं मानते; किंतु उसके वर्णनमात्र को काव्य मानते हैं, और सौदर्य का कारण एक मात्र रस को समझते हैं। ये महाशय वर्णन मे सौदर्य को आवश्यक मानते हैं, पर अनिवार्य नहीं। अतएव इनके हिसाब से वर्णन की निर्दोषता और सालकारता सर्वथा अपेक्षित नही। यही बात पडितराज के विषय मे भी समझ लीजिए। परतु पडितराज के तर्क इस विषय मे इनकी अपेक्षा ठोस हैं। यह भी पाठको से छिपा नहीं रहेगा।

केशव मिश्र और गोविद ठक्कुर दोनो ही सौंदर्य का कारण रस और अलकार दोनों को मानते हैं। पर पहले महाशय साहित्यदर्पण के समान 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन' को काव्य मानते हैं और दूसरे काव्यप्रकाश के अनुयायी होने के कारण 'सौंदर्यपूर्ण अर्थ और उसके सौदर्यपूर्ण वर्णन' दोनो को काव्य मानते हैं।

उनके बाद पडितराज ने भी 'सौदर्यपूर्ण अर्थ के वर्णन' को काव्य माना है, पर वे समग्र सौदर्य की मूलकारणता एक रस को ही दे देना उचित नही समझते। उनका कहना है कि चाहे जिस-किसी अर्थ के ज्ञान से हमे अलौकिक आनद, वह थोड़ा हो या तन्मय कर देनेवाला हो, प्राप्त हो जाय, वह प्रत्येक अर्थ सौंदर्य का कारण हो सकता है। उसका रस के साथ सर्वथा सबध होना आवश्यक नहीं।

रही हमारी टिप्पणी। सो हमसे और पडितराज से केवल इतना ही मतभेद है कि हम केवल वर्णन को ही कवि की कृति नहीं समझते, किंतु काव्य मे वर्णित अर्थों को भी उसी की कृति मानते हैं जैसा कि रुद्रट का मत लिखते समय हम सिद्ध कर आए हैं।

काव्य का कारण

यह तो हुई काव्य की बात। अब इसके आगे इस ग्रथ में काव्य के कारण का विवेचन है। काव्य का कारण प्रतिभा, जिसे शक्ति भी कहा जाता है, है, इस विषय में तो आज दिन तक न किसी को विप्रतिपत्ति हुइ और न आगे है, कभी हो सकती है। पर मतभेद एक तो इस बात में है कि कुछ विद्वान् केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं और कुछ प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति और अभ्याम को और जोडते हैं। अर्थात् कुछ विद्वानो के हिसाब से काव्य का एक कारण है 'प्रतिभा'; और कुछ के हिसाब से तीन हैं—प्रतिभा, व्युपत्ति और अभ्यास।

प्रतिभा क्या पदार्थ है यह विषय भी विवादग्रस्त है।

अब देखिए, काव्य का एक कारण माननेवालो में रुद्रट, वामन और पडितराज आदि विद्वान् हैं, और तीन माननेवालो में दडी, मम्मट, वाग्भट और पीयूषवर्ष आदि हैं। अब इन विद्वानों के विचारो को सुनिए और उनपर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाल जाइए।

इनमें से प्राचीनतर आचार्य दडी का कहना है कि

'नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम्,
अमन्दश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसपदः॥

अर्थात् स्वतःसिद्ध प्रतिभा, अत्यंत और निर्दोष शास्त्रश्रवण—अर्थात् व्युत्पत्ति, तथा अनल्प अभ्यास[१]—अर्थात् किसी प्रकार की कमी न करते हुए बार-बार पद्य बनाते रहना, ये सब काव्य की सपत्ति—

१—'अभियोगः पौनःपुन्येनाऽनुसन्धानम्' इति बीकानेरराजकीय-पुस्तकालयस्था लिखिता काव्यदर्शव्याख्या। तच्चाऽभ्यास एवेत्यस्मदुक्तेऽर्थे न काचन विप्रतिपत्तिः।

अर्थात् उसके उत्कृष्ट होने के कारण हैं। पर साथ ही वे एक और बात कहते हैं, जो अवश्य ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

अर्थात् यद्यपि पूर्वजन्म की वासना के गुण जिसके पीछे लगे हुए हैं वह ससार को चकित कर देनेवाली प्रतिभा नहीं है, तथापि शास्त्र-श्रवण—अर्थात् व्युत्पत्ति, और यत्न—अर्थात् अभ्यास—के द्वारा सेवन की हुई वाणी कुछ न कुछ अनुग्रह करती ही है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यद्यपि काव्य के उत्कृष्ट होने के लिये स्वाभाविक प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो आवश्यक हैं, पर यदि वैसी प्रतिभा न हो, तथापि यदि व्युत्पत्ति और अभ्यास का बल उत्पन्न किया जाय तो काव्य बनाया जा सकता है। साराश यह है कि विशिष्ट प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास उत्कृष्ट काव्य के कारण हैं, पर साधारण प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी काव्य बन सकता है।

इनके अनतर रुद्रट एक शक्ति (प्रतिभा) को ही काव्य का कारण मानते हैं और उसका विवेचन करते हुए यो लिखते हैं—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य,
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥

अर्थात् जिसके होने पर अच्छी तरह एकाग्र किए हुए मन में अनेक प्रकार के अर्थों की स्फूर्त्ति होती है और अक्लिष्ट अर्थात् सरल और सुदर पद सूझ पड़ते हैं उसका नाम शक्ति है। फिर वे आगे लिखते हैं कि

सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया।

अर्थात् वह शक्ति दो प्रकार की होती है—एक सहज—अर्थात् स्वतः सिद्ध और दूसरी उत्पाद्य—अर्थात् उत्पन्न की जानेवाली। उनमें से सहज शक्ति तो ईश्वरदत्त अथवा अदृष्टजन्य होती है; अतः उसके विषय में तो कुछ कहना है नहीं, पर जो उत्पाद्य शक्ति है वह अत्यत उत्कृष्ट व्युत्पत्ति से उत्पन्न की जाती है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिभा दो तरह की है, जिनमें से एक का कारण अदृष्ट है और दूसरी का व्युत्पत्ति।

उनके बाद वामन ने भी काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना है। वे लिखते हैं कि "कवित्वबीज प्रतिभानम्' और उसका विवरण यों करते हैं कि "कवित्वस्य बीज सस्कारविशेषः कश्चित्, यस्माद्विना काव्य न निष्पद्यते, निष्पन्न वा हास्यायतन स्यात्"। अर्थात् कविता का कारण एक विशेष प्रकार का सस्कार है, जिसके बिना काव्य नहीं बन पाता अथवा यों कहिए कि बना हुआ भी हँसी का पात्र होता है उसे सुनकर लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं।

अब आगे काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य हैं। वे कहते हैं—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

अर्थात् शक्ति (प्रतिभा) और लोकव्यवहार तथा शास्त्रो और काव्यादिकों के विमर्श से उत्पन्न हुई निपुणता—अर्थात् व्युत्पत्ति, एवं जो लोग उत्कृष्ट काव्य का बनाना और विचारना जानते हैं उनकी शिक्षा से अभ्यास, ये तीनो सम्मिलित रूप मे काव्य के कारण हैं। साराश यह है कि काव्य का कारण तीन वस्तुएँ हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

इस श्लोक को हम यदि 'नैसर्गिकी च प्रतिभा ....." इस

पूर्वोक्त दडी के श्लोक का सुसस्कृत अनुवाद कहें तो मर्मज्ञ विद्वानो को कुछ भी विप्रतिपत्ति न होगी। हॉ, इतना अवश्य है कि मम्मट ने अपनी व्याख्या मे व्युत्पत्ति और अभ्यास का अच्छा विवेचन किया है, पर प्रतिभा की व्याख्या करते हुए उन्होने जो शब्द लिखे हैं, वे तो ज्यो के त्यो वामन के कहे जा सकते हैं। सो इसे दंडी और वामन दोनो के अभिप्रायों का सकलन कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

वाग्भट लिखते हैं—

> प्रतिभा कारणन्तस्य, व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
> भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादि कविसंकथा॥

अर्थात् प्रतिभा काव्य को उत्पन्न करती है, व्युत्पत्ति उसको सुशोभित बनाती है और अभ्यास उसकी उत्पत्ति को बढाता है, इत्यादि कवि लोगो का कथन है। तात्पर्य यह कि काव्य का प्रतिभा उत्पादक, व्युत्पत्ति सौदर्याधायक अर्थात् पोषक और अभ्यास-वर्धक कारण है।

इसी बात को पीयूषवर्ष ने दृष्टात देकर स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं—

> प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कविता प्रति।
> हेतुर्मृदम्बुसबद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव ॥

अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास सहित प्रतिभा कविता का कारण है, जिस तरह कि मिट्टी और जल से युक्त बीज की उत्पत्ति लता का। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह लता का बीज उत्पादक, मिट्टी पोषक और जल वर्धक कारण है, उसी तरह प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के कारण हैं।

पंडितराज का कथन यह है कि कविता का साक्षात् कारण एक-मात्र प्रतिभा है; व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके साक्षात् कारण नहीं, किंतु परंपरा से हैं। अर्थात् व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के पोषक और वर्धक नहीं, किंतु प्रतिभा के पोषक और वर्धक हैं और उसको पुष्ट तथा विवर्धित करके काव्य को उपकृत करते हैं।

प्रतिभा क्या वस्तु है ?

अच्छा, अब इन सब विचारो पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालिए। सबसे पहले यह सोचिए कि प्रतिभा है क्या पदार्थ ? वास्तव में प्रतिभा एक प्रकार की बुद्धि का नाम है। अतएव यह कहा जाता है—

बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।

अर्थात् जिसमें नई-नई सूझ होती है उस बुद्धि को प्रतिभा माना जाता है।

अब यह देखिए कि साहित्य के प्राचीन आचार्यों ने प्रतिभा अथवा शक्ति का क्या अर्थ किया है ? दडी तो इस विषय में कुछ विशेष लिखते नहीं, पर उनके दिए हुए प्रतिभा के विशेषणों से कुछ सिद्ध हो जाता है, जिसे हम आगे लिखेंगे। हाँ, रुद्रट ने 'शक्ति' की व्याख्या अवश्य की है, जो पहले लिखी जा चुकी है। उससे यही सिद्ध होता है कि वे एक प्रकार के संस्कार को शक्ति मानते हैं, क्योंकि उनके हिसाब से 'शक्ति' वह पदार्थ है, जो कविता के अनुकूल अर्थों और शब्दो की स्मृति का निमित्त है। इनके बाद वामन और मम्मट ने तो स्पष्ट शब्दो में एक प्रकार के सस्कार का नाम 'शक्ति' स्वीकार किया ही है।

अब देखिए, संस्कार क्या वस्तु है ? वास्तव में संस्कार एक प्रकार का स्वतंत्र गुण है, जिसे पूर्वजन्म के ज्ञान की वासना कह सकते हैं।

पर 'काव्यप्रदीप' के 'सस्कारविशेषः' शब्द की व्याख्या करते हुए नागेश ने 'उद्द्योत' में लिखा है कि शक्ति शब्द से यहाँ एक विशेष प्रकार का अदृष्ट (पूर्वजन्म के कर्मों का फल) लिया गया है। वे लिखते हैं कि "देवताराधनादिजन्य विलक्षणादृष्ट 'शक्नोति काव्यनिर्माणाऽनये'ति योगाच्छक्तिरित्युच्यते।" अर्थात् व्याकरण की रीति से शक्ति शब्द का अर्थ 'जिसके द्वारा काव्य बनाया जा सकता है' तदनुसार देवता के आराधन आदि से उत्पन्न अदृष्ट को 'शक्ति' कहा जाता है। पर दडी और रुद्रट जिसे प्रतिभा और शक्ति कहते हैं, उसका और नागेश की व्याख्या का परस्पर कुछ भी मेल नहीं मिलता। देखिए, दडी ने अपने पद्यो मे प्रतिभा को दो विशेषण दिए हैं, जिनसे उनका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि वे किसे प्रतिभा मानते हैं। उनका एक विशेषण है 'नैसर्गिकी' और दूसरा है, 'पूर्ववासनागुणानुबंधि', जिनका अर्थ हम पहले कर आए हैं। अब सोचिए कि नागेश के कथनानुसार यदि 'सस्कार-विशेष' का अर्थ अदृष्ट माने तो उसे 'स्वाभाविक' विशेषण देना व्यर्थ है, क्योकि अदृष्ट तो पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, फिर वह स्वाभाविक कैसा? दूसरे, उनका 'पूर्ववासनागुणानुबधि' विशेषण भी घटित नहीं हो सकता, क्योकि अदृष्ट तो पूर्व कर्मों के फल का नाम है, सो वह पूर्वजन्म के सस्कार से उत्पन्न गुणो का अनुगामी नहीं, किंतु जनक हो सकता है। इस कारण, इनके हिसाब से तो 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि ही हो सकता है, न किसी प्रकार का सस्कार और न अदृष्ट।

अब रुद्रट की तरफ चलिए। वे प्रतिभा को सहज और उत्पाद्य दो तरह की मानते हैं, और उत्पाद्य प्रतिभा को व्युत्पत्ति के द्वारा उत्पन्न होनेवाली मानते हैं। क्या आप कह सकते हैं कि व्युत्पत्ति से भी कोई अदृष्ट उत्पन्न होता है और वही प्रतिभा है? यदि नहीं तो बात दूसरी ही है। हमारी समझ में तो वामन और मम्मट के 'सस्कारविशेष'

शब्द का अर्थ पूर्वजन्मीय वासना मानना ही उचित है। ऐसी स्थिति में दडी भी तो इनके सर्वथा अनुकूल नहीं, क्योंकि वे प्रतिभा को 'वासना' नहीं, किंतु 'वासनागुणानुबंधि' मानते हैं। रहे रुद्रट, सो उनकी इनकी भी राय एक नहीं हो सकती, क्योंकि वे तो उसे इस जन्म में भी व्युत्पत्ति के द्वारा उत्पन्न हो सकनेवाली मानते हैं, केवल सहज ही नहीं। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों का मत मिलता नहीं है।

यह तो हुआ इन लोगों का आपस का मतभेद। अब आप यह सोचिए कि वास्तव में काव्य बनाने में कवि को क्या करना पड़ता है? इसका उत्तर यही होगा कि सुंदर पदों की योजना तथा सुन्दर अर्थों की कल्पना। अब आप थोड़ा सा विचार करते ही समझ सकते हैं कि यह काम बुद्धि से होता है। न तो वह हमारी भोग्य वस्तुओं की तरह हमें अदृष्ट के द्वारा सिद्धरूप में प्राप्त होता है और न सस्कार से ही बन सकता है। तात्पर्य यह कि यह काम बिना बुद्धि के नहीं हो सकता। अदृष्ट और सस्कार यदि कारण हो सकते हैं, तो हमारी बुद्धि को वैसी तीव्र बनाने के कारण हो सकते हैं, स्वतत्रतया काव्य के कारण नहीं हो सकते।तब यदि प्रतिभा को काव्य का कारण मानना है, तो उसके सुप्रसिद्ध अर्थ 'नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि' को ही 'प्रतिभा' शब्दका अर्थ स्वीकार करना पडेगा, सस्कार अथवा अदृष्ट को नहीं।

इस सबंध में पडितराज कितना अच्छा कह रहे हैं। वे कहते हैं कि काव्य बनाने के अनुकूल शब्दों और अर्थों की उपस्थिति (याद आ जाने) का नाम प्रतिभा है, जो आपकी वही 'नवनवोन्मषशालिनी बुद्धि' हुई। और यह भी कहते हैं कि उसको वैसी बनाने का कारण कहीं अदृष्ट होता है और कहीं व्युत्पत्ति और अभ्यास, जो अनुभव-सिद्ध है। अब इस विषय का शेष विवरण आप अनुवाद और उसकी टिप्पणी में देख सकते हैं।

काव्यों के भेद

इसके आगे प्रस्तुत पुस्तक में काव्यो के भेदों का वर्णन है, पर उनके विषय में हमें विशेष नहीं लिखना है, क्योंकि इस विषय में अधिक मतभेद नहो है। जहाँतक हमारा ज्ञान है—इस विषय का विशेषरूपेण विवेचन 'ध्वन्यालोक' के तात्पर्यानुसार काव्यप्रकाशकार ने ही किया है। उन्होंने काव्यों के तीन भेद माने हैं, ध्वनि, गुणीभूत-व्यग्य और चित्र, जिन्हें उत्तम, मध्यम और अधम भी कहा जाता है।

पर साहित्यदर्पणकार ने इनमें से पहले दो भेदो को ही काव्य माना है, वे 'चित्रकाव्य' को काव्य मानना नहीं चाहते। इसका कारण यही है कि वे रस आदि के अतिरिक्त गुणों और अलकारों को सौंदर्य का कारण नहीं मानते, जैसा कि हम 'काव्यलक्षण' के विवेचन में दिखा आए हैं। पर यह बात ठीक नहीं, क्योकि लक्ष्य के अनुसार लक्षण हुआ करते हैं, लक्षण के अनुसार लक्ष्य नहीं। जब कि सारा ससार आज दिन तक केवल गुणों और अलकारो से युक्त वर्णन को भी काव्य मानता चला आया है और आज भी वही परिपाटी प्रचलित है, तब आप उन्हें काव्यभेदो में से कैसे निकाल सकते हैं? हाँ, यह हो सकता है कि आप उन्हें अधम अथवा उससे भी नीचे दरजे का मान लें।

'चित्रमीमासाकार' ने 'काव्यप्रकाश' के भेदों को ही लिखा है, उनमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं की है।

इनके बाद पडितराज ने इस विषय पर कलम उठाई है। उन्होने काव्यप्रकाशकार के भेदों में एक भेद और बढाकर उन्हें चार कर दिया है, जिसे आप अनुवाद में देख लेंगे। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि पडितराज ने जो एक भेद बढाया है, वह मार्मिक है, काव्यो के भेदों को समझनेवाले उसका किसी तरह निषेध नहीं कर सकते। दूसरे, काव्यप्रकाशकार की अपेक्षा उन्होंने उसे विशद

भी अच्छा किया है और अप्पयदीक्षित के साथ शास्त्रार्थ करके ध्वनि का मर्म समझने की शैली भी स्पष्ट कर दी है।

रस

अब रसो की ओर ध्यान दीजिए। यह इतना गंभीर विषय है कि इसपर आज तक अनेक विद्वानो ने विचार किया है और आगे भी न जाने कहाँ तक होता रहेगा। परतु हम प्रस्तुत विषय की ओर चलने के पहले आपसे नाटकों (दृश्य[1] काव्यो) की उत्पत्ति के विषय मे कुछ कहना चाहते हैं। इसका कारण यह है कि रस का अनुभव, श्रव्य-काव्यो की अपेक्षा, दृश्य-काव्यो मे ही स्पष्ट रूप से होता है। अतएव आज दिन तक उन्हीं को लेकर इस विषय का विवेचन किया गया है।

जब किसी भी प्राणी को इष्ट (जिसे वह चाहता है उस) की प्राप्ति और अनिष्ट (जिसे वह नहीं चाहता उस) की निवृत्ति होती है तो उसके अगो में अपने-आप ही एक प्रकार की स्फूर्त्ति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् प्रकृति का नियम है कि आनदित प्राणी के अग-उपाग विचलित हो उठते हैं। जो प्राणी गभीर होते हैं उनमे वह स्फूर्ति केवल मुख-विकास नेत्र-विकास आदि ही करके रह जाती है। पर, जो इतने गंभीर नहीं होते, वे ऐसी घटनाओं के होते ही एकदम उछल पड़ते हैं, और उनका वह आनद इस तरह सब पर प्रकट हो

१—काव्य की पुस्तकें दो विभागों में विभक्त हैं—एक दृश्य और दूसरे श्रव्य। दृश्य-काव्य उन्हें कहते हैं, जिनमें वर्णित चरित्रों का अभिनय किया जाता है—जैसे शाकुन्तल आदि और श्रव्य-काव्य उनका नाम है, जिनका अभिनय नहीं होता, किन्तु लोग उन्हें सुनकर ही आनन्द उठा लेते हैं—जैसे रघुवश आदि।

जाता है। परिणाम यह होता है कि वह आनन्द उस व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता, किंतु जो लोग उसके सुहृत्, सबंधी अथवा हितैषी होते हैं, जिनमे ईर्ष्या-द्वेष की प्रवृत्ति उस आनद के अनुभव का प्रतिबध नहीं करती, वे भी आनदित हो उठते हैं, और उससे सहानुभूति प्रकट करने लगते हैं। बच्चो मे यह बात बहुत स्पष्ट रूप से देख पड़ती है। यही उछल-कूद नाट्य की आदि-जननी है। शुरू-शुरू में इष्टप्राप्ति अथवा अनिष्टनिवृत्ति के समय उसका प्राप्त करनेवाला और उससे सहानुभूति रखनेवाले लोग इसी तरह उछल-कूद किया करते थे।

पर प्रकृति का एक नियम और है। मनुष्य को वास्तविक वस्तुओ के देखने मे जो आनंद प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक उसका अनुकरण देखने में प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि एक सिटल्लू बनिया आप का पड़ोसी है, जिसे आप सदा देखा करते हैं, और उसकी चाल-ढाल आदि को देखकर आप को कुछ कौतुक भी हुआ करता है, पर उसके देखने मे आपको वह आनद नहीं आ सकता, जिसे कि एक भॉड अथवा बहुरूपिया उन्हीं सेठजी की नकल दिखलाकर अनुभूत करा सकता है।

इसके बाद एक बात और भी है। वह यह कि वास्तविक एव वर्त्तमान व्यक्ति के हर्षादि के अनुकरण में हमें सहानुभूति भी नहीं हो सकती, क्योकि उसके वर्त्तमान होने से हमारा उसके साथ किसी-न-किसी प्रकार का राग-द्वेषमूलक सबध हो जाता है, इसलिये उस अनुकरण को देखकर राग-द्वेष की प्रवृत्तियाँ जग उठती हैं, और वे सहानुभूति मे, और कभी कभी तो अभिनय में हो, बाधक हो जाती हैं, और विना सहानुभूति के आनन्द की अभिव्यक्ति होती नहीं। इस कारण, यदि किसी प्राचीन अथवा कल्पित घटना का अनुकरण किया जाय तो उस घटना से सबद्ध व्यक्तियो के साथ हमारा आधुनिक सबध

न होने के कारण हमें अभिनय के द्वारा उद्बोधित आनद का यथार्थ अनुभव हो सकता है, क्योंकि वहाँ बाधक प्रवृत्तियाँ नहीं रहतीं। अतएव अततोगत्वा मनुष्यों के मनोरंजन के लिये इस तरह के अनुकरणमूलक अभिनय होने लगे।

इन अभिनयों के लिये कवि प्राचीन अथवा कल्पित घटनाओं को पद्यादिबद्ध कर देते थे, जिससे वे और भी अधिक रोचक हो जायँ, जैसे कि आज कल भी कई-एक ग्राम्य खेलों में होता है। इन्हीं अभिनयों का विकसित रूप हैं आपके दृश्य-काव्य और आधुनिक नाटक-ड्रामा आदि। बस, दृश्य-काव्यों की बात हम इतनी ही करेंगे, क्योंकि हमारे इस प्रकरण से इसका इतना ही सबध है।

१—प्रारभ ही प्रारंभ में लोग जब इन अभिनयों को देखने लगे तब उन्हें अनुभव हुआ कि इनमें कुछ आनद अवश्य है। साथ ही उनमें से जो लोग बुद्धिमान् और तर्कशील थे, उन्होंने सोचना शुरू किया कि नाट्य की वस्तुओं में से यह आनंद किस वस्तु में रहता है। फिर क्या था, उसकी खोज प्रारभ हुई। वही वस्तु साहित्य की परिभाषा में 'रस्यतेऽसौ रसः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा 'रस' कही जाती है।

सोचते-सोचते पहले-पहल वे लोग स्थूल विचार के द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे कि जिससे हम प्रेम आदि करते हैं, वह प्रेम आदि का आलंबन अर्थात् प्रेमपात्र, नट को अभिनय करते देखकर, हमारे ध्यान में आ जाता है और उसका बार-बार अनुसंधान करने से हमें आनद का अनुभव होता है, अतः वह प्रेम आदि का आलबन—वह विभाव ही रस है। वे कहने लगे कि—"भाव्यमानो विभाव

१—इस बात के समझने के लिए 'नाट्यशास्त्र' का छठा अध्याय देखिए।

एव रस." । अर्थात् बार-बार अनुसधान किया हुआ प्रेम-आदि का आलबन ही रस है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में नौवाँ है।

२—पर, पीछे से लोगों को इस बात के मानने में विप्रतिपत्ति हुई। उन्होंने सोचा कि यदि प्रेम आदि का आलबन ही रसरूप हो तो जब वह प्रेम-आदि के प्रतिकूल चेष्टा करे, अथवा प्रेम आदि के अनुकूल चेष्टाओ से रहित हो, तब भी उसे देखकर हमें आनद आना चाहिए, क्योंकि आलबन तो तब भी वही था और अब भी वही है, उसमें कुछ फेर-फार तो हुआ नहीं। पर ऐसा होता नहीं। इस बात को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर लीजिए। कल्पना कीजिये कि एक नट ने पहले दिन सीता अथवा शकुतला का पार्ट लिया था और उसे देखकर—उसे अपने प्रेम का आलबन मानकर—सहस्रो सामाजिक (दर्शक) मुग्ध हो गए थे। उसी नट को, यदि कोई, दूसरे दिन, उन वेष-भूषाओं और चेष्टाओं से रहित देखे, तो क्या तब भी वह उसी आनन्द को प्राप्त कर सकेगा? कभी नहीं। बस, तो यही समझकर लोगो के विचारो में परिवर्तन हुआ और उन्होंने सोचा कि दृश्य काव्यों में प्रेम आदि का आलबन रस नहीं, किंतु बार-बार अनुसधान की हुई उसकी चेष्टाएँ और शारीरिक स्थितियाँ, जिन्हें अनुभाव कहा जाता है, रस हैं। वे कहने लगे कि "अनुभाव-स्तथा"। अर्थात् बार-बार अनुसधान की हुई विभाव की चेष्टाएँ और शारीरिक स्थितियाँ रस हैं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में दसवाँ है।

३—इसके बाद लोग कुछ और आगे बढे। उनका ध्यान प्रेम-पात्र की चित्तवृत्तियों की तरफ गया। उन्होने सोचा कि कोई भी नट या नटी हजार लटका करे, पर यदि वह उस पात्र के अतःकरण के भावों को दर्शकों के सामने यथार्थ रूप में प्रकट न कर सके तो कुछ भी मजा नहीं आता। अतः यह मानना चाहिए कि न विभाव रस हैं, न अनुभाव, किंतु प्रेम आदि के आलंबन अथवा आश्रय की जो

चित्तवृत्तियाँ हैं, जिन्हें व्यभिचारी भाव कहा जाता है, वे बार-बार अनुसधान करने पर रसरूप बनती हैं। वे कहने लगे कि "व्यभिचार्येव तथा-तथा परिणमति"। अर्थात् प्रेम आदि के आलबन तथा आश्रय की चित्तवृत्तियाँ ही उस-उस रस के रूप मे परिणत होती हैं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक मे ग्यारहवाँ है।

४—इसके अनतर उनमें से बहुतेरे लोगो ने पूर्वोक्त मतो की आलोचना आरभ की। उन्होने सोचना शुरू किया कि इन तीनो मतो मे से कौन ठीक है। अनेक नाट्यों के देखने से उन्हें अनुभव हुआ कि किसी नाट्य में सुदर और सुसज्जित पात्र, किसी में उनक नयन-विमोहक अभिनय तथा किसी में मनोभावो का मनोहर विश्लेषण मनुष्य को मुग्ध करता है और किसी में ये तीनो ही रद्दी होते हैं और कुछ मजा नहीं आता। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि इन तीनो में से जहाँ जो चमत्कारी हो, जो कोई दर्शक के चित्त को आह्लादित कर सके, वहाँ उसे रस कहना चाहिए, और यदि चमत्कारी न हो तो तीनो मे किसी को भी रस कहना उचित नहीं। वे कहने लगे—"त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा तु त्रयोऽपि न"। अर्थात् तीनो में से जो कोई चमत्कारी हो, वही रस है, और यदि चमत्कारी न हों तो तीनो ही रस नहीं कहला सकते। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में आठवाँ है।[1]

१—पंडितराज इस मत के अनुसार भी भरत सूत्र (विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति.) की व्याख्या करते हैं। यदि यह मत भरत-सूत्रों के बनाने के अनंतर चला हो तो मानना पडेगा कि इस समय जो 'नाट्यशास्त्र' प्राप्त होता है वह भरत का बनाया हुआ नहीं है; क्योंकि उसमें स्थायी भावों को रसस्वरूप मानने का विस्तृत विवरण है और विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव इन तीनों में से किसी

५—अब आगे चलिए। आगे यह बात हुई कि रस का अन्वेषण करते करते जब लोगो की दृष्टि मनो-भावो की तरफ गई तो उनका भी विवेचन होने लगा। विवेचन करने पर विदित हुआ कि उन भावों में से ८ अथवा ९ भाव ऐसे हैं कि जो नाट्य भर में प्रतीत होते रहते हैं, जैसे शृङ्गार के अभिनय में प्रेम, करुण के अभिनय में शोक इत्यादि। और शेष ऐसे विदित हुए कि जो कभी प्रतीत होते थे और और कभी नहीं, जैसे हर्ष, स्मृति, लज्जा-आदि। जो भाव नाट्य भर में प्रतीत होते रहते थे, उन्हें लोग स्थायी कहने लगे, क्योंकि वे स्थिर थे और, जो कभी-कभी प्रतीत होते थे, उन्हें व्यभिचारी अथवा सञ्चारी कहा जाने लगा, क्योंकि वे व्यभिचरित होते रहते थे अर्थात् कभी प्रेम के साथ रहते थे तो कभी शोक आदि के साथ। जब स्थायी भावों का ज्ञान हो गया तब उन्होंने पूर्वानुभूत रस को उन्हीं के अनुसार नौ भेदो मे विभक्त कर दिया, जिनका सविस्तर वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में है।

जब यह विभाग हो गया, तब लोगो को पूर्वोक्त चारों मतो की निस्सारता प्रतीत हुई। उनको ज्ञात हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन तीनों में से किसी एक को (फिर वह चमत्कारी हो अथवा अचमत्कारी) रसरूप मानना सर्वथा भ्रम है। इसका कारण यह था कि जिस तरह व्याघ्र आदि प्राणी भयानक रस के विभाव होते हैं, वैसे ही वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी हो सकते हैं, क्योकि वे जिस प्रकार भय के आलंबन होते हैं, उसी प्रकार

एक को रस मानने का तो कहीं नाम भी नही है। और यदि यही नाट्यशास्त्र भरत-निर्मित है तो कहना पडेगा कि यह व्याख्या कल्पित है। पर, इस झगडे को ऐतिहासिकों पर छोड देने के सिवाय, इस समय, हमारे पास और कोई उपाय नहीं है।

उत्साह, आश्चर्य और क्रोध के भी आलंबन हो सकते हैं। इसी प्रकार अश्रुपात आदि भी जैसे शृङ्गार-रस के अनुभाव होते हैं, वैसे ही करुण और भयानक रस के भी हो सकते हैं; क्योंकि ये जिस तरह प्रेम के कारण उत्पन्न होते हैं, उसी तरह शोक और भय के कारण भी उत्पन्न हो सकते हैं। व्यभिचारी भावो की भी यही दशा है, क्योंकि चिंता आदि चित्तवृत्तियाँ जिस तरह शृङ्गार-रस के स्थायी भाव प्रेम को पुष्ट करती हैं, उसी तरह वीर, करुण और भयानक रसों में यथावसर उत्साह, शोक और भय को भी पुष्ट कर सकती हैं। अब यदि इन तीनो में किसी एक को रस माना जाय, तो जो प्रेम आदि एक ही चित्तवृत्ति की प्रत्येक नाट्य के पूरे भाग में स्थिर रूप से प्रतीत होती है, वह न बन सके। अतः वे लोग यह मानने लगे—"विभावादयस्त्रय. समुदिता रसाः"। अर्थात् विभावादिक तीनो इकट्ठे रसरूप हैं, उनमें से कोई एक नहीं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में सातवाँ है।

६—स्थायी भावो का ज्ञान हो जाने और उसके अनुसार रस का विभाग स्थिर हो जाने के अनंतर विद्वानो ने उस पर फिर विचार किया और उन्हें पूर्वोक्त मत भी न जँचा। उनको विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव तीनों ही पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित—किसी भी रूप में—रस नहीं हो सकते, क्योंकि जिस वस्तु का हम आस्वादन करते हैं, जिससे हमें यह आनंद प्राप्त होता है, वह ये नहीं, किंतु वही पूर्वोक्त चित्तवृत्ति है, जो भिन्न-भिन्न नाट्यों में भिन्न भिन्न रूपों में स्थिरतया प्रतीत होती रहती है। अर्थात् यह निर्णीत हुआ कि प्रेम आदि स्थायी भावों का नाम रस है। साथ ही यह भी विदित हुआ कि विभाव उस चित्तवृत्ति को उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उसके द्वारा उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारी भाव उसके साथ रहकर उसे पुष्ट करते हैं। इसलिये यह सिद्ध हो गया कि इन सब में स्थायी भाव ही प्रधान हैं, क्योंकि ये सब उसके उपकरणभूत हैं; और इन

तीनो के सयोग से वह रसरूप बनकर हमे आनदित करता है। अर्थात् नाट्यादिक में हम इन तीनो से संयुक्त, परतु इन सब से प्रधान[1], उसी चित्तवृत्ति का आस्वादन करते हैं।

इसी विमर्श को नाट्य-शास्त्र के परमाचार्य महामुनि भरत ने लिखा है। उन्होने पूर्वोक्त सिद्धान्त को अपने नाट्य-शास्त्र मे अच्छी तरह स्थिर कर दिया, और

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

यह सूत्र बनाया। यह सूत्र आज दिन तक प्रमाण माना जाता है और अनतरभावी आचार्यों ने इसी सूत्र पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इस सूत्र का अर्थ यो है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के सयोग—अर्थात् मिश्रण—से स्थायी भाव रसरूप बनते हैं। यद्यपि इस सूत्र की अनेक व्याख्याएँ हुई हैं, तथापि हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार यह प्रतीत होता है कि भरत मुनि ने इस सूत्र को पूर्वोक्त अर्थ में ही लिखा है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में इस सूत्र की जो व्याख्या[2] लिखी गई है, उससे यही बात सिद्ध होती है।

१—यथा नाराणा नृपति. शिष्याणा च यथा गुरुः।
एव हि सर्वभावाना भावः स्थायी महानिह।

नाट्यशास्त्र, अ० ६

२—"को दृष्टातः? अत्राह—यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसयोगाद्रसनिष्पत्ति.। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।" इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह गुड वगैरह वस्तुओं, मसालों और धनिया-पोदीना वगैरह से चटनी वगैरह तैयार की जाती है, उसी तरह अनेक भावों से मिश्रित भी स्थायी भाव ही रस बनते हैं।

भरत मुनि ने इस बात को दृष्टांत देकर स्पष्ट करने के लिये जो दो श्लोक लिखे हैं उन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं; क्योंकि इनसे उनके विचार विशदरूपेण विदित हो जाते हैं। वे ये हैं—

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥

अर्थात् जिस तरह भात के रसज्ञ पुरुष अनेक पदार्थों से मिश्रित दाल शाक आदि अनेक व्यञ्जनो से युक्त भात को खाते हुए भात का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोग भावों और अभिनयों से सबद्ध स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं, अतः (स्थायी भावो को) नाट्य के 'रस' कहा जाता है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि विभावादिक रसरूप नहीं, किंतु इनसे परिष्कृत स्थायीभाव रसरूप होते हैं[1]।

१—यद्यपि इसके आगे हमें अग्निपुराण का रस विवेचन लिखना चाहिए था, क्योंकि भरत के अनंतर वही क्रमप्राप्त है तथापि शुद्ध पुस्तक प्राप्त न होने के कारण हम उस पर विशेष विवेचन न कर सके। इस कारण, जो कुछ हमें उपलब्ध हुआ उस भाग को और उसके यथा-मति भावार्थ को हम टिप्पणी में दे रहे हैं। आशा है कि विद्वान् लोग इसका यथा-विधि उपयोग करेंगे। अग्निपुराण में लिखा है—

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमज विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्द. सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

पूर्वोक्त भरत-सूत्र की सबसे पहली व्याख्या[1] आचार्य भट्ट-लोल्लट ने लिखी है जिसे मीमासा के अनुसार माना जाता है। उन्होने इस सूत्र

आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृत ।
ततोऽभिमानस्तत्रेद समाप्त भुवनत्रयम् ॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥
तद्भेदा. काममितरे हास्याद्या अप्यनेकश ।
स्वस्वस्थायिविशेषोथ (त्थ) परिवो (पो) षस्वलक्षणा ॥
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मन ।
रागाद् भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते ॥
वीरोऽवष्टम्भजः सङ्कोचभूर्बीभत्स इष्यते ।
शृगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः ॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्ति. स्याद् बीभत्साद् भयानकः ।
शृङ्गारवीरकरुणरौद्रवीरभयानकाः ॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्या. स्वभावाच्चतुरो (?) रसाः ।
लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा ॥

अर्थात् जिसे वेदान्तों में अविनाशी, नित्य, अजन्मा, व्यापक, अद्वितीय, ज्ञानरूप, स्वत· प्रकाशमान अथवा तमोनिवर्त्तक और सर्वसमर्थ परब्रह्म कहा गया है उसमें स्वत सिद्ध आनद विद्यमान है। वह आनद किसी समय प्रकट हो जाया करता है। और उस आनंद की वह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार अथवा रस नाम से पुकारी जाती है। उसी (अनदरूप परब्रह्म) का जो पहला विकार है उसे अहकार माना जाता है। उस अहकार से अभिमान अर्थात् ममता उत्पन्न होती है, जिसमें यह सारी त्रिलोकी समाप्त हो गई है। तात्पर्य यह कि त्रिलोकी में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो किसी न किसी की ममता

की व्याख्या यो की है—'कामिनी-आदि आलवन विभाव रति-आदि स्थायी भावो को उत्पन्न करते हैं, बाग-बगीचे आदि उद्दीपन विभाव उन्हे उद्दीप्त करते हैं, कटाक्ष और हाथो के लटके आदि अनुभाव उनको प्रतीत होने के योग्य बनाते हैं तथा उत्कंठा आदि व्यभिचारी भाव उन्हे

का पात्र न हो। उसी अभिमान—अथवा ममता—से रति अर्थात् प्रेम अथवा अनुराग उत्पन्न होता है। वही रति व्यभिचारी-आदि भावों की समनता से—अर्थात् समान रूप में उपस्थित व्यभिचारी आदि से—परिपुष्ट होकर शृंगार-रस कहलाती है। उसी के हास्यादिक अन्य भी अनेक भेद हैं। (वही रति सत्त्वादि गुणो के विस्तार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और सकोच इन चार रूपों में परिणत होती है, उनमें से) राग से शृगार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और सकोच से बीभत्स की उत्पत्ति मानी जाती है। स्वभावतः ये चार ही रस है। पर, बाद में, शृगार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। (और रति—अथवा अनुराग के अभाव रूप निर्वेद से शात रस की उत्पत्ति हुई, अर्थात् रति-भाव से आठ रसो की और रति के अभाव से एक रस की उत्पत्ति हुई।) इस तरह रसों के शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ नाम हुए। जिस तरह किसी के पास लक्ष्मी—अर्थात् सपत्ति—हो, पर वह किसी भी काम में उसका त्याग—अर्थात् व्यय अथवा दान—न करता हो, तो वह शोभित नहीं होती—लोगों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, ठीक वही दशा बिना रस की वाणी की होती है। अर्थात् नीरस वाणी कृपण के धन के समान निरुपयोगी अरौ प्रभावशून्य होती है और उसका होना न होना समान है।

१—यहाँ से चार मतों के क्रम आदि काव्यप्रकाश तथा काव्यप्रदीप से लिए गए हैं।

पुष्ट करते हैं और तब वे रसरूप बन जाते हैं।' इसके अनतर उन्होने इस पर यो विमर्श किया है कि यह सब तो ठीक है, पर यह सोचिए कि वे रति-आदि स्थायी भाव, जिन्हे आप रसरूप मानते हैं, रहते किसमे हैं? मान लीजिए कि आप एक ऐसे काव्य का अभिनय देख रहे हैं जिसमे दुष्यन्त और शकुंतला के प्रेम का वर्णन है। अब यह बताइए कि वह प्रेम काव्य मे वर्णन किए हुए दुष्यंत से संबध रखता है अथवा आप जिसका अभिनय प्रत्यक्ष देख रहे हैं उस नट से? आपको विवश होकर यही कहना पडेगा कि दुष्यंत से; क्योकि काव्य मे वर्णित शकुतला का प्रेम नट से तो हो नहीं सकता। पर यदि ऐसा माने तो यह शंका उत्पन्न होती है कि, भला, उस दुष्यत के प्रेम से सामाजिक (दर्शक) लोगो को कैसे आनद मिल सकता है, क्योंकि दुष्यत तो उनके सामने है नहीं, है तो नट। इसका समाधान वे यह करते हैं कि सामाजिक लोग नट को उसी रग ढग का देखकर उस पर दुष्यत का आरोप कर लेते हैं—अर्थात् उसे झूठे ही दुष्यत समझ लेते हैं। बस, इसी कारण उन्हे आनद प्राप्त होता है, दूसरा कुछ नहीं। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में पॉचवॉ है।

७—पर, इसी सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार आचार्य श्रीशंकुक को, जिनकी व्याख्या न्यायशास्त्र के अनुसार मानी जाती है, यह बात न जँची। उन्होने कहा—आप जो यह कह रहे हैं कि "रस मुख्यतया दुष्यत आदि में रहता है, और नट पर उसका आरोप कर लिया जाता है" सो ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि खीच-खॉचकर नट पर रस का आरोप कर लेने पर भी दर्शक लोगो से तो उसका कुछ सबध हुआ नहीं, फिर बतलाइए, उन्हे किस तरह आनद आ सकता है? यदि आप कहे कि उन्हें नट के ऊपर आरोपित रस का ज्ञान होता है—वे उसे जानते हैं, अतः उन्हे आनद का अनुभव होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योकि यदि जान लेने मात्र से ही आनद प्राप्त होता हो

तो यदि कोई 'रस' शब्द बोले और हम उसका अर्थ समझ ले, तब भी हमें वही आनद प्राप्त होना चाहिए, क्योंकि हमें शब्द के द्वारा रस का ज्ञान तो हो ही गया। पर यदि आप यह युक्ति बतलाएँ कि अनुभाव आदि के विज्ञान के बल से जो नट पर आरोप किया जाता है उससे आनन्दानुभाव होता है, केवल शब्दार्थज्ञान से नहीं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि चन्दनादि के लेप आदि से जो आनन्द आता है, उसमें हमे न अनुभाव की आवश्यकता होती है, न विभाव की। केवल स्पर्शेंद्रिय से, अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से, ज्ञान होते ही आनन्द आने लगता है। दूसरे, इस बात में कोई प्रमाण भी नहीं है कि ऐसी कल्पना की जाय। रही भरत सूत्र की बात, सो वह दूसरी तरह भी लगाया जा सकता है।

सो श्री शकुक ने इस सूत्रका तात्पर्य यों समझाया—"विभावादि के द्वारा नटमें अनुमान किया जानेवाला और जिस दुष्यंतादि का अनुकरण किया जा रहा है, उसमें रहनेवाला रति-आदि स्थायी भाव रस है।' अर्थात् मुख्यतया रस दुष्यन्तादि में ही रहता है, नट में उसका अनुमान मात्र कर लिया जाता है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने लिखा है कि जगत् में चार तरह के ज्ञान प्रसिद्ध हैं, सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, सशयज्ञान और सादृश्यज्ञान। राम के देखनेवाले को जो 'यह राम ही है' 'यही राम है' और 'यह राम है ही' ये तीनो ज्ञान होते हैं, वे सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। इनमें से पहले—अर्थात् 'यह राम ही है' इस ज्ञान में 'इसके राम न होने' का—अर्थात् 'यह राम नहीं है' इस ज्ञान का निवारण होता है, दूसरे—अर्थात् 'यही राम है' इस ज्ञान से 'इसके अतिरिक्त अन्य किसी के राम होने का—अर्थात् 'राम और कोई है' इस ज्ञान का—निवारण होता है, और तीसरे अर्थात् 'यह राम है

हीं' इस ज्ञान मे 'सर्वथा राम न होने' का—अर्थात् 'यह राम है ही नहीं' इस ज्ञान का निवारण होता है। इन्ही तीनो निवारणो को सस्कृत में क्रमश. अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यंतायोगव्यवच्छेद कहते हैं।

मिथ्याज्ञान उसे कहते हैं, जिसमें पहले से 'यह राम है' ऐसा जान पड़ने पर भी पीछे से जान पडे कि 'यह राम नहीं है'। 'यह राम है अथवा नही' इस परस्पर विरोधी ज्ञान को **संशयज्ञान** कहा जाता है, और 'यह राम के समान है' इस समानता के ज्ञान को **सादृश्यज्ञान** कहते हैं।

इन चारो ज्ञानो के अतिरिक्त एक और भी ज्ञान होता है, जो कि जगत् में प्रसिद्ध नहीं है, जैस किसी घोडे का चित्र देखकर 'यह घोडा है' ऐसा ज्ञान। बस, इसी ज्ञान के द्वारा सामाजिक लोग नट को दुष्यत आदि समझ लेते हैं और फिर उन्हें सुदर काव्य के अनुसधान के बल से तथा शिक्षा और अभ्यास के द्वारा उत्पन्न की हुई नट की कार्यपटुता से, स्थायी भाव के कारण, कार्य और सहकारी, जिन्हे विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहा जाता है, कृत्रिम होनेपर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् सामाजिको को उनके बनावटीपनका बिलकुल खयाल नही रहता, और तब वे लोग नट में स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं। बस, उस अनुमान का नाम ही रस का आस्वादन है, और वह आस्वादन सामाजिको को होता है, अत. यह कहा जाता है कि रस सामाजिको मे रहता है।

पर, यहाँ एक शका हो सकती है। वह यह कि किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष होने पर ही आनन्द होता है, अनुमान मात्र से नहीं, अन्यथा हम सुख का अनुमान करने पर भी सुखी क्यो नहीं हो जाते। इसका समाधान वे यो करते हैं कि रति-आदि स्थायी भावों में कुछ ऐसी सुदरता है कि उसके बल से वे हमे अत्यन्त अभीष्ट अथवा परम

सुखरूप प्रतीत होते हैं, अतः यह मानना पडता है कि वे अन्यान्य अनुमेय पदार्थों से विलक्षण हैं, उनमें यह नियम नहीं लगता। तात्पर्य यह कि स्थायी भावो की सुन्दरता का सामाजिकों पर ऐसा प्रभाव पडता है कि वे उनका अनुमान करने पर भी अनन्दित हो उठते हैं और नटको प्रत्यक्ष देखने पर भी यह निश्चय नहीं कर पाते कि यह दुष्यत नहीं है।

८—भरत-सूत्र के तृतीय व्याख्याकार आचार्य भट्टनायक को, जिनकी व्याख्या साख्य सिद्धान्त के अनुसार मानी जाती है, यह बात भी न जॅची। उन्होने कहा—श्रीशकुक का यह कहना कि 'रस का अनुमान किया जाता है' उचित नहीं, क्योकि संसार में जो यह बात प्रसिद्ध है कि प्रत्यक्ष ज्ञान से आनन्द प्राप्त होता है, अनुमानादि से नहीं, उसका तिरस्कार करके यह कल्पना करना कि रति-आदि की सुन्दरता के बल से अनुमान करने पर भी आनन्द प्राप्त हो जाना है' ठीक नहीं। यदि कहो कि सूत्र का अर्थ इसी तरह अनुकूल होता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योकि उसका अर्थ दूसरी तरह भी ठीक किया जा सकता है।

अतः यह मानना चाहिए कि काव्य की तीन क्रियाएँ हैं—अर्थात् वह तीन हरकतें पैदा करता है। उनमें से एक है अभिधा, जिसके द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है; दूसरी है भावना—अर्थात् उस अर्थ का अनुसन्धान, जिसके द्वारा काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि पात्रों की विशेषता निवृत्त हो जाती है और वे साधारण बनकर हमारे रसास्वादन के अनुकूल हो जाते हैं, और तीसरी है भोग—अर्थात् आत्मानन्द में विश्राम, जिसके द्वारा हम रस का अनुभव करते हैं, अथवा जो स्वय ही रसरूप है। इस तरह काव्य की क्रियाओं से ही हमारा सब कार्य सिद्ध हो जाता है, न आरोप की आवश्यकता

रहती है, न अनुमान की। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में दूसरा है और इसका विशेष विवरण भी वहीं है।

९—पर, आचार्य अभिनव गुप्त ने, जो 'ध्वन्यालोक' की 'लोचन' नामक व्याख्या के निर्माता हैं जिनका साहित्यशास्त्र के विद्वानों में बहुत ऊँचा स्थान है और जिन्हे इस सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार भी कहा जा सकता है, इस मत को भी पसन्द न किया। उन्होंने कहा—आपने जो 'भावना' और 'भोग' नामक दो क्रियाओं की कल्पना की है, उसमें कोई प्रमाण तो है नहीं, कोरी मनगढत है। फिर भला इसे कोई कैसे स्वीकार करेगा?

अतः यो मानना चाहिए कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो से अभिव्यक्त रति-आदि स्थायी भावों का नाम रस है'। प्रस्तुत पुस्तक में प्रथम मत के 'क' और 'ख' भागो में इसी सिद्धात का, किंचिन्मात्र मतभेद से, सविस्तर प्रतिपादन किया गया है, सो आप इनका विशेष विवरण वहाँ देख लें। आज दिन तक रस के विषय में यही सिद्धात प्रामाणिक माना जाता है और मम्मट भट्ट प्रभृति साहित्य-शास्त्र के महाविद्वान् इसे परम-आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं।

अब रहा प्रथम मत का 'ग' भाग। उसमें पडितराज ने यह सिद्ध किया है कि पूर्वोक्त 'क' और 'ख' मतों में रति आदि के साथ आत्मा-नद तो आपको भी लगाना ही पडता है, उसके लगाए बिना तो छुट-कारा नहीं, और यह भी सिद्ध ही है कि रस आनद से शून्य नहीं है; तब जो श्रुतियो में आनदमय आत्मा को रसरूप माना गया है, उसके अनुसार, आनदसहित रति-आदि की अपेक्षा, रति-आदि से उपहित आनद को ही रसरूप मानना उचित है और पडितराज के हिसाब से यही वास्तविक मत है।

इसके अनतर इस विषय मे दो मत और उत्पन्न हुए हैं। उनमे से—

१०—नवीन विद्वानो का कथन है कि रस को आत्मानदसहित तथा वासनारूप मे विद्यमान स्थायी भावो के रूप मे मानना ठीक नहीं; किंतु यो मानना चाहिए कि जब हमें काव्य सुनने अथवा नाट्य देखने से विभाव आदि का ज्ञान हो जाता है, तब हम व्यजनावृत्ति के द्वारा, शकुतला आदि के साथ दुष्यंत आदि के जो प्रेम आदि थे, उन्हें जान लेते हैं। उसके अनतर सहृदयता के कारण हम उन सुने अथवा देखे हुए पदार्थों का बार-बार अनुसधान करते हैं। वही बार बार अनुसधान, जिसे भावना कहा जाता है, एक प्रकार का दोष है। उसके प्रभाव से हमारा अत.करण अज्ञान से आच्छादित हो जाता है और तब उस अज्ञानावृत अतःकरण में, सीप में चाँदी की तरह, अनिर्वचनीय रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनका हमें आत्मचैतन्य के द्वारा अनुभव होता है। बस, उन्हीं रति-आदि का नाम रस है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक में तीसरा है।

और—

११—दूसरे विद्वानो का यह कहना है कि न तो दुष्यंत-आदि के रति-आदि को समझने के लिये व्यजनावृत्ति की आवश्यकता है और न अज्ञानावृत अंतःकरण में अनिर्वचनीय रति-आदि की कल्पना की, किंतु यों मानना चाहिए कि हम नट की अथवा काव्य-पाठक की चेष्टा आदि के द्वारा शकुतला आदि के साथ जो दुष्यंत आदि का प्रेम था, उसका अनुमान कर लेते हैं, तब पूर्वोक्त भावनारूपी दोष से हम अपने-को दुष्यत समझने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे अतःकरण में ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि हम शकुतला आदि से जो व्यक्ति प्रेम-आदि रखता है उससे अभिन्न हैं। बस, इसी भ्रम का नाम रस

है। यह मत प्रस्तुत पुस्तक मे चौथा है। ये हैं रस के विषय में ११ मत।

अंतिम दो मतों की अमान्यता का कारण

पर, अंतिम दोनो मतो का बिलकुल प्रचार नहीं हुआ। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि एक तो सभी काव्य सुननेवाले अथवा नाटक देखनेवाले को रस का आस्वादन नहीं होता, अतः यह मानना ही पड़ता है कि जिनमे वासनारूप से रति आदि विद्यमान होते हैं, उन्हें ही रसानुभव होता है। अतएव लिखा गया है कि—

> सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
> निर्वासनास्तु रङ्गान्त.काष्ठकुड्याश्मसंनिभाः॥

अर्थात् (नाटकादि देखने पर भी) जो सभ्य वासनायुक्त होते हैं, अर्थात् जिनमें वासनारूप रति-आदि भाव रहते हैं, उन्हें ही रस का आस्वादन होता है, और जिन लोगो में वह वासना नहीं होती, वे तो नाट्यशाला के अतर्गत लकड़ी, दीवार और पत्थरो के समान हैं—यदि उन्हे कुछ मजा आवे तो इन्हें भी आ सकता है।

सो उन वासनारूप रति-आदि को छोडकर अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना निरर्थक है। दूसरे, रस को सीप की चॉदी की तरह मानना सहृदयो के हृदय के विरुद्ध भी है, क्योंकि रस की प्रतीति बाधित नहीं है। अर्थात् उसकी प्रतीति होने के अनतर हमें यह बोध नहीं होता कि अब तक जिन रति-आदि और आनद की प्रतीति हो रही थी, वे कुछ हैं ही नहीं।

इसी तरह रस को भ्रमरूप मानना भी शास्त्र और अनुभव दोनो प्रमाणो से शून्य है, क्योकि न तो अयथार्थ ज्ञान को किसी शास्त्र में ही आनंदरूप माना गया है और न अनुभव ही इस बात को स्वीकार

करता है। सहृदयो के अनुभव से तो यह सिद्ध है कि रस का आनद के साथ अभेद सबध मानो चाहे भेद सबंध, पर वह उससे रहित है नहीं।

उपसंहार

अब हम पूर्वोक्त मतो का सिंहावलोकन करते हुए इस विषय को समाप्त करते हैं।

१—लोगो ने प्रारम्भिक दृश्य-काव्यों का अभिनय देखकर सबसे प्रथम यह निश्चय किया कि इन अभिनयों के देखने से हमें जो आनद प्राप्त होता है वह रति-आदि भावों के आलबन अर्थात् प्रेमपात्र आदि में, जो नट-आदि के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, रहता है।

२—तदनंतर उन्होंने सोचा कि आलम्बन के हाव-भावो और चेष्टाओं में, जिन्हें नट-आदि प्रकाशित करते हैं, वह रहता है।

३—फिर उन्होंने समझा कि आलम्बन मनोवृत्तियों में, जो नट-आदि के अभिनय के द्वारा ज्ञात होती हैं, वह रहता है।

४—पीछे से विदित हुआ कि इन तीनो में से जो चमत्कारी होता है, उसमें वह रहता है।

५—बाद में पता लगा कि इकट्ठे तीनों में अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के समुदाय में, वह रहता है।

६—इसके अनतर भरत मुनि, अथवा उनके पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने यह स्थिर कर दिया कि यह आनंद इन तीनों के अतिरिक्त, जिन्हें स्थायी भाव कहा जाता है, उन चित्तवृत्तियो में रहता है और उनका साथ होने पर ये (विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव) भी आनद देने लगते हैं।

तत्पश्चात् इस मत की व्याख्याएँ होने लगीं। व्याख्याकारो ने इस बात को मान लिया कि यह आनद रति-आदि चित्तवृत्तियों में रहता है; पर अब यह खोज शुरू हुई और ये प्रश्न उपस्थित हुए कि वे चित्त-वृत्तियाँ किसकी हैं, काव्य में वर्णित नायक-नायिका आदि की अथवा सामाजिको की ? और यदि नायक-नायिका आदि की हैं तो नट को अभिनय करते देखकर सामाजिकों को उनसे कैसे आनद मिलता है ? फिर इन प्रश्नो के प्रत्युत्तरों की बारी आई और पहलेपहल पुरः—स्फूर्त्तिक दृष्टि से यह समझा गया कि ये चित्तवृत्तियाँ काव्य में वणित नायक-नायिका आदि की हैं। इस प्रकार पहले प्रश्न का तो प्रत्युत्तर हो गया। अब रहा दूसरा प्रश्न। उसका प्रत्युत्तर सबसे पहले इस सूत्र के प्रथम व्याख्याकार आचार्य भट्ट लोल्लट ने यों दिया कि सामाजिक लोग उन चित्तवृत्तियो को नट पर आरोपित कर लेते हैं और उन आरोपित चित्तवृत्तियो के ज्ञान से सामाजिको को आनंद प्राप्त होता है।

७—श्रीशकुक ने इस मत का खडन किया और कहा—सामाजिक लोग उन चित्तवृत्तियो का अनुमान कर लेते हैं, पर

८—भट्टनायक ने इन बातो को स्वीकार न किया, उन्होने कहा—नहीं, तुम्हारा कहना टीक नहीं। असली बात यह है कि किसी भी काव्य के सुनने अथवा उसका अभिनय देखने से तीन काम होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ में आता है, तदनतर उस अर्थ का चिंतन किया जाता है, जिसका हमारे ऊपर यह प्रभाव होता है कि हम उसमें सुनी और देखी हुई वस्तुओ के विषय मे यह नही समझ पाते कि वे किसी दूसरे से सबध रखती हैं अथवा हमारी ही हैं, और उसके बाद हमारे सत्त्वगुण की अधिकता से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं और हम आत्मचैतन्य से प्रकाशित एव साधारण रूप में उपस्थित रति-आदि भावो का अनुभव करते हैं। अर्थात् जिन रति-आदि भावों के अनुभव

से यह आनद प्राप्त होता है, वे न नायक-नायिका आदि के होते हैं, न सामाजिको के, वे तो बिलकुल साधारण होते हैं, उनके विषय में सामाजिको को कुछ ज्ञान नहीं होता कि वे किसके हैं।

६—अभिनवगुप्त और मम्मट-भट्ट को यह बात भी न जँची। उन्होने भट्टनायक का खडन करते हुए कहा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के द्वारा एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है। उससे अथवा यो कहिए कि विभावादिको के आस्वादन के प्रभाव से ही, हमारे आत्मचैतन्य का आवरण—अज्ञान—दूर हो जाता है। तदनतर यह होता है कि हमारे हृदय में, सांसारिक अनुभवों के कारण, वासना-रूप से विद्यमान रति-आदि का उस आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाश होता है और उस आनदरूप आत्मचैतन्यसहित उन रति-आदि भावो का यह आनदानुभव है। अर्थात् यह अनुभव साधारण रूप से हुए रति आदि का नहीं, किंतु आत्मानदसहित और सामाजिको के हृदय मे वासनारूप से विद्यमान रति-आदि का है।

पर, पंडितराज को यह बात भी पसद न आई। उन्होने कहा कि और सब बात आपकी ठीक है, पर जब आपने यह स्वीकार कर लिया है कि इस अनुभव मे रति-आदि का और आत्मानद का साथ है, तब उस आनंद को गौण और रति आदि को प्रधान मानना उचित नहीं। अतः यह मानना चाहिए, जो श्रुति-सिद्ध भी है, कि यह आनद आत्म-रूप ही है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह आनद रति-आदि से परिच्छिन्न होकर प्रतीत होता है, समाधि की तरह अपरिच्छिन्न रूप में नहीं।

इसके अनतर जो दो मत उत्पन्न हुए हैं, उनमें से एक में—

१०—इस आनद को आत्मचैतन्य से प्रकाशित और भ्रांति से उत्पन्न रति-आदि का माना गया है। और दूसरे में—

११—केवल भ्रमरूप।

गुण

भरत और भामह

अब इसके आगे प्रस्तुत पुस्तक में विवेचनीय विषय हैं गुण। गुणो के विषय मे प्रधानतया दो मत हैं—एक प्राचीनों का और दूसरा नवीनो का। प्राचीनों ने श्लेष[1], प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और काति ये दश गुण माने हैं। इनके आविष्कारक भरत अथवा उनके पूर्ववर्ती कोई आचार्य हैं। पर भामह[2] ने अपने ग्रथ में इनमे से केवल तीन ही गुणो के नाम लिखे हैं और आगे जाकर काव्यप्रकाशकारादिकों ने प्राचीनो के सब गुणों का इन्हीं में समावेश कर दिया है, वे हैं माधुर्य, ओज और प्रसाद। सो इस सबका साराश यह हुआ कि दशगुणवाद के आविष्कारक हैं भरत और त्रिगुणवाद के हैं भामह।

प्राचीनों के मतभेद

यद्यपि प्राचीनो को दशगुणवादी कहा जाता है, तथापि उनमें परस्पर बड़ा मतभेद है। सच पूछिए तो काव्यप्रकाशकार के पहले इस

१—श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

—नाट्य-शास्त्र।

पर हमने जो क्रम लिखा है वह दण्डी का है और इस क्रम को छोड़कर उस क्रम के ग्रहण करने का कारण यह है कि रसगगाधर में वही क्रम लिया गया है।

२—'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसाद च सुमेधस। समासवन्ति भूयासि न पदानि प्रयुञ्जते। केचिदोजोऽभिधित्सन्त समस्यन्ति बहून्यपि।' (भामह का 'काव्यालङ्कार')

विषय में अराजकता ही रही है और जिसकी जैसी इच्छा हुई, उसने उसी प्रकार के लक्षण बनाकर उतने ही गुण मान लिए हैं। उस अराजकता के समय का भी कुछ दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

गुणों के विषय में प्राचीनो के पॉच मत विशेषतः प्रसिद्ध हैं और उनके प्रवर्त्तक क्रमशः भरत, अग्निपुराण, दडी, वामन और भोज हैं। उनमें से भरत के गुण हम गिना चुके हैं।

अग्निपुराण ने श्लेष[1], लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदाहरता, सती (?) और यौगिकी (?) इस तरह सात शब्दगुण, माधुर्य[2], सविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढि और सामयिकत्व इस तरह छः अर्थगुण, और प्रसाद,[3] सौभाग्य, यथासख्य, उदारता, पाक और राग इस तरह छः उभयगुण—अर्थात् शब्द और अर्थ दोनो के गुण यो सब मिलाकर उन्नीस गुण गिनाए हैं। पर इनमें से कुछ भरतादि के गुणो में समाविष्ट, कुछ अप्रचलित और शुद्ध पुस्तक की अप्राप्ति के कारण अस्पष्ट से हैं, अतः उन्हें प्रपचित करके हम इस भूमिका का आकार बढ़ाना नहीं चाहते।

दंडी ने नाम और सख्या तो भरत की ही रखी है, पर उनके क्रम और लक्षणो में बहुत कुछ फेर-फार कर दिया है। पर उनमे से

१—'श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यें सौकुमार्यमुदारता। सत्येव (?) यौगिकी (?) चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।

२—माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता। प्रौढि. सामयिकत्व च तद्भेदाः षट् चकासति।

३—तस्य प्रसाद सौभाग्य यथासंख्यमुदारता। पाको राग इति प्राज्ञैः षट् (प्र) पञ्च (?।.) प्रपञ्चिता.।

भी कुछ अप्रचलित और अधिकांश वामन के गुणो मे समाविष्ट हो जाते हैं, अतः उनका विस्तार भी निरर्थक है।

वामन ने इन गुणो का बहुत ही विशद विवेचन किया है और काव्यप्रकाशकार-आदि ने उसे ही प्राचीनो का मत माना है। यह तो नही कहा जा सकता कि भरत और दडी के लक्षित गुणो का उनमे सर्वांश मे सग्रह हो जाता है, पर इसमे सदेह नहीं कि अधिकाश मे वे उनमे समाविष्ट हो जाते हैं। रसगगाधर मे जो अत्यत प्राचीनों के दस शब्दगुण और दस अर्थगुण लिखे हैं, वे वामन के मत से ही सगृहीत किए गए हैं। सो उनके लक्षणो और उदाहरणो को आप देख ही लेंगे।

अब रहे भोजराज[1]। उन्होने वामन के दस शब्दगुणो के अतिरिक्त उदात्तता, ऊर्जितता, प्रेयान्, सुशब्दता, सूक्ष्मता, गभीरता, विस्तर, सक्षेप, समितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि इस तरह चौदह अन्य गुण मानकर इनकी सख्या चौबीस कर दी है। पर इन सब का समावेश प्रायः वामन के गुणो में हो जाता है, अतः इसे आप केवल नाम-भेद सा ही समझिए।

१—श्लेष. प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥
ओजस्तथाऽन्यदौर्जित्य प्रेयानथ सुशब्दता।
तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्य च गाम्भीर्यमथ विस्तर॥
सक्षेपः संमितत्व च भाविकत्व गतिस्तथा।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिः . ...॥

—सरस्वतीकठाभरण

इन सबके अनतर वाग्भट ने दडी के, और पीयूषवर्ष ने भरत के, मत का पुनः स्पर्श किया है। उनमें से वाग्भट ने तो प्रायः दंडी के गुणो का अनुवाद कर दिया है, सो उसे तो अतिरिक्त मत कहा ही नहीं जा सकता। हॉ, पीयूषवर्ष ने भरत के दस गुणों में से काति को शृंगार रस मे और अर्थव्यक्ति को प्रसाद-गुण में समाविष्ट करके उन्हें आठ ही रख लिया है और एकाध गुण के लक्षण में भेद भी कर दिया है, पर कोई नई बात उसमें भी नहीं है।

इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि भरत ने दस गुण माने, अग्निपुराण ने उन्नीस, भामह ने तीन, दडी ने पुन. दस, वामन ने बीस, भोजदेव ने चौबीस, वाग्भट ने पुन दस और पीयूषवर्ष ने आठ। इसके अतिरिक्त प्रत्येक आचार्य ने इनके लक्षणो में भी इच्छानुसार फेर-फार कर दिया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों पर रस की तरह यथोचित विमर्श नहीं किया और जिस समय जिसे जो कुछ सूझ पड़ा, तदनुसार वे गुणों में अधिकता, न्यूनता अथवा लक्षण-भेद करते चले गए। पर इन सबने अधिकाश में गुणों का नामकरण भरत के अनुसार ही रखा है, अतः इन्हें दशगुणवादी अथवा भरत के अनुयायी कहा जा सकता है।

मतभेदों की निवृत्ति

बारहवीं शताब्दी में काव्यप्रकाशकार महामति मम्मट को यह अराजकता खटकी। उन्होंने खूब विमर्श करके भामह का पक्ष लिया, और उन्हीं तीन गुणों में, उस समय में सर्वाधिकरूपेण प्रचलित वामन के गुणों में से अधिकाश का समावेश कर दिया और शेष को काट-छॉटकर ठीक ठाक कर दिया। यह काट छॉट प्रस्तुत पुस्तक में आ चुकी है, सो आप उसे देख ही लेंगे। परिणाम यह हुआ कि अग्निपुराण का मत तो पहले से ही प्रचलित नहीं था, और भरत से लेकर भोज तक के सब

गुण प्रायः वामन के मत में सगृहीत हो चुके थे, सो सबके सब उड गए और उन्हीं तीन गुणो का प्रचार रह गया। इसके बाद भी वाग्भट ने दडी के मत से और पीयूषवर्ष ने भरत के मत से गुणों के लक्षणादि लिखे, पर वे काव्यप्रकाशकार की युक्तिपूर्ण विवेचना के सामने न टिक सके और साहित्यदर्पणकार एव रसगगाधरकार ने इसी पक्ष को विमृष्ट करके स्थिर कर दिया।

गुणों का स्थान

यह तो हुई मत-भेद की बात। अब यह सोचिए कि साहित्य-शास्त्र में गुणों का स्थान क्या है ? इस विषय में वामन और भोजदेव दोनो कहते हैं—

युवतेरिव रूपमङ्ग ! काव्य स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणय निरन्तराभि. सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभि ॥
यदि भवति वचश्च्युत गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनाया।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि सश्रयन्ते ॥

अर्थात् काव्य युवती के रूप के समान है, क्योंकि वह भी अच्छे गुणो (लावण्य, माधुर्य आदि) से युक्त और एक के बाद एक आए हुए अनेक अलंकारो की कल्पनाओं से सबद्ध होकर आनंद देता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस तरह स्त्री के रूप के लिये लावण्यादि की और आभूषणों की आवश्यकता है, उसी प्रकार काव्य में भी गुणो और अलकारों की आवश्यकता है। पर यदि कवि की उक्ति गुणो से रहित हो तो कामिनी के यौवन-रहित शरीर की तरह होती है और लोकप्रिय अलकार भी अवश्य ही दुर्भग हो जाते हैं। अतः गुणो का होना काव्य के लिये अत्यावश्यक है।

इसके अतिरिक्त भोजदेव ने तो यह भी लिखा है कि—

अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगयोः ॥

अर्थात् अलकारों से युक्त भी गुणों से रहित काव्य सुनने के योग्य नहीं होता; अतः काव्य के गुणो और अलकारो से युक्त होने की अपेक्षा गुणों से युक्त होना मुख्य है।

काव्यप्रकाशकारादिको का भी यही मत है कि गुण सीधे रसो को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्दों और अर्थों के द्वारा, अतः काव्य में गुण अलकारो से अधिक अपेक्षित है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि साहित्यशास्त्र में गुणो का स्थान अलकारो से ऊँचा और रसादि व्यंग्यो से नीचा है और वे अलकारो की अपेक्षा अधिक आवश्यक हैं।

गुण क्या वस्तु है

अब हम इस बात का विचार करेंगे कि गुण हैं क्या वस्तु, उन्हें लोग अब तक किस-किस रूप में समझते आए हैं।

महामुनि भरत दोषो का वर्णन करने के अनतर कहते हैं कि "गुणा विपर्ययादेषाम्" अर्थात् दोषो के विपरीत जो कुछ वस्तु है वे गुण हैं।

अग्निपुराण में लिखा है कि "जो[1] काव्य में (शब्द) बड़ी-भारी शोभा को अनुगृहीत करता है—अर्थात् पदावली को शोभा प्रदान करता है वह शब्दगुण होता है, जो[2] शब्द से प्रतिपादित की जानेवाली वस्तु को

१—'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः।'

२—'उच्यमानस्य शब्देन यस्य कस्यापि वस्तुनः।
उत्कर्षमावहन्नार्थो गुण इत्यभिधीयते।'

उत्कृष्ट बनाता है वह अर्थगुग होता है, और जो[1] शब्द और अर्थ दोनो को उपकृत करता है वह उभयगुण होता है।

दंडी ने इन्हे 'वैदर्भमार्ग—[2]विशिष्ट रचना के प्राण' माना है, और वामन का कहना है कि—"काव्य[3] मे जो शोभा होती है—जिसके कारण काव्य को काव्य कहा जाता है उस शोभा के उत्पादक धर्मों का नाम गुण है"।

इस सबका तथा इन सब ग्रंथों में विवेचित गुणो के लक्षणादि का निष्कर्ष यह है कि जो वस्तु शब्द को, अर्थ को अथवा उन दोनो को उत्कृष्ट बनाती है उसका नाम गुण है।

अब इस बात का विवेचन आरम्भ हुआ कि—जब गुण भी शब्द और अर्थ को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलकार भी तब इन दोनो मे भेद क्या है? क्यो न गुणो को भी अलकार ही समझ लिया जाय? इसका उत्तर दडी ने यो दिया कि गुण रचना के प्राण हैं और अलकार काव्य में शोभा को उत्पन्न करनेवाले; अर्थात् गुणो से काव्य में काव्यत्व आता है और अलकार उसे शोभित[4] करते हैं—उसे उत्कृष्ट मात्र बनाते हैं। इसी बात को वामन ने स्पष्ट शब्दो में यो लिखा है कि "काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा., अर्थात् काव्य की शोभा के जनक—काव्य[5] में काव्यत्व लानेवाले—धर्मों का नाम गुण है और उस शोभा को—उस काव्यत्व को—उत्कृष्ट बनानेवाले धर्मों का नाम है अलंकार।"

१—'शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुण स्मृतः'।

२—'एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।'—काव्यादर्श।

३—'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः'—अलंकारसूत्र।

४—'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।'—काव्यादर्श।

५—काव्यप्रकाश के अनुसार इस सूत्र की यही व्याख्या है।

पर जब 'ध्वनिकार' ने काव्य के आत्मा[1] ध्वनि (व्यंग्यो) का और उनमें से भी प्रधान रस का अन्वेषण करके उसका स्वरूप स्पष्ट कर दिया तब लोगों के विचारों में परिवर्त्तन हुआ। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने प्राचीनों के विचारों पर विप्रतिपत्ति की और कहा कि यदि आप गुणों को ही काव्य में काव्यत्व लानेवाले मानते हैं तो जिन काव्यो में ओज आदि गुण तो हो और रसादिक न हों उन्हे भी काव्य कहा जा सकेगा। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिए कि कोई मनुष्य 'इस पहाड पर बड़ी आग जल रही है, यह बहुतेरा धुआँ निकल रहा है' इस बात को श्लोक बनाकर यो बोले कि—

'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरच्चैः प्राज्य. प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूम'।'

तो इस वाक्य में आपके हिसाब से उत्कट शब्द-रचना होने से ओज गुण तो हुआ ही, क्योकि आप रस के साथ तो गुणो का कोई सबध

१—काव्य की आत्मा के विषय में विस्तृत विवेचन यद्यपि आगे है, तथापि यहाँ कुछ मतों का उल्लेखमात्र किया जाता है। अग्निपुराण में लिखा है कि "काव्य की आत्मा रस है।" वामन कहते हैं कि "पदों की विशिष्ट रचना काव्य की आत्मा है।" आनन्दवर्धन का सिद्धात है कि "काव्य की आत्मा ध्वनि (व्यग्य) है।" यही बात विद्यानाथ ने भी मानी है और 'व्यक्तिविवेक'-कार भी इसी से सहमत हैं। कुतक (वक्रोक्तिजीवितकार) ने 'बडी चतुराई से बात के प्रतिपादन कर देने' को काव्य की आत्मा कहा है। साहित्यदर्पणकार 'असंलक्ष्यक्रम-व्यग्यों को काव्य की आत्मा' मानते हैं। क्षेमेंद्र का कथन है कि 'काव्य का जीवन औचित्य है।' इनमें से कुछ कथन आलकारिक भी हैं, वे वास्तव में 'काव्यात्मा' के अन्वेषण में नहीं लिखे गए हैं। पूरा विवरण आगे पढ़िए।

मानते नहीं, केवल रचना के साथ मानते हैं, सो यहाँ वैसी रचना है ही। अत यह भी काव्य होना चाहिए, क्योकि जो वस्तु काव्य में काव्यत्व लाती है वह (ओज गुण) यहाँ भी विद्यमान है। पर, बताइए, कौन सहृदय ऐसा होगा जो केवल रचना के कारण ही इसे काव्य मानने लगे ? अतः यो मानना चाहिए कि काव्य में काव्यत्व लानेवाली वस्तुएँ तो रसादिक व्यग्य हैं और उन्हे उत्कृष्ट बनानेवाले जो धर्म हैं उनका नाम है गुण, जैसे कि मनुष्य को जीवित बनानेवाला आत्मा है और उसे उत्कृष्ट बनानेवाले हैं शूरवीरता आदि गुण[1]।

ध्वनिकार के अनुयायियो ने काव्य के आत्मादिक का विवरण आलकारिक भाषा मे यो किया है—'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूर-वीरता आदि की तरह हैं, दोष कालेपन आदि की तरह हैं और अलकार आभूषणो की तरह।'[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रसो के साथ गुणो का अतरग सबध है और अलकारो का बाह्य, गुण काव्य की आत्मा रस को उत्कृष्ट करते हैं और अलकार उसके शरीररूप शब्द और अर्थ को।

साथ ही गुणो की वास्तविकता का पता लगाने के लिये इस बात का भी अन्वेषण हुआ कि प्राचीन लोग जिन्हें गुण शब्द से व्यवहृत करते आए हैं, उन बीस में से, यदि नवीन प्रणाली से जिन दोषों का विवेचन किया गया है उनके अभावरूप गुणो को पृथक् कर दिया जाय,

---

१—'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्याद[illegible]इवात्मन ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' (काव्यप्रकाशः)
('रसस्येति—अलक्ष्यक्रमोपलक्षणम्' इत्युद्द्योते [illegible]

२—"काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रस्यादि[illegible], गुणा. शौर्यादिवत्, अलङ्कारा कटककुण्डलादिवत्" इति।

तो क्या बच रहता है। सोचने पर विदित हुआ कि शेष सब गुण कोमल, कठोर और स्पष्टार्थक तीन प्रकार की रचनाओ में विभक्त किए जा सकते हैं। इस तरह वे बीस के तीन हुए और उनके नाम भामह की प्रणाली से माधुर्य, ओज और प्रसाद रखे गए।

इसके अनतर यह भी सोचा गया कि कौन सी रचना किस रस के अनुरूप है? विमर्श करने पर विदित हुआ कि शृगार, करुण और शात रसो के लिये कोमल रचना की, वीर रौद्र और बीभत्स रसों के लिये कठोर रचना की आवश्यकता है और स्पष्टार्थक रचना का होना तो सभी रसों में अपेक्षित है।

जब यह निर्णय हो गया तब यह खोज हुई कि इन रचनाओ से युक्त उन रसो के आस्वादन से अतःकरण पर क्या प्रभाव होता है? अनुभव से ज्ञात हुआ कि कोमल रचना से युक्त रसो के आस्वादन से चित्त पिघलता है, कठोर रचना से युक्त रसो के आस्वादन से चित्त उद्दीप्त होता है—उसमें जोश आ जाता है, और स्पष्टार्थक रचना से युक्त रसो के आस्वादन से चित्त विकसित होता है। थोडा और सोचने पर यह भी पता लगा कि यह काम वास्तव में रसों से होता है, रचनाओं से नहीं, क्योकि यदि मधुर रचना से ही चित्त द्रुत होता हो तो वैसी रचना से वीर आदि रसों में चित्त की द्रुति क्यों नहीं होती। अतः यह निर्णय हुआ कि गुण रचना से विलक्षण वस्तु हैं और उनका रसों के साथ सबध है, रचनाओ के साथ नहीं। अततो गत्वा काव्यप्रकाशकार ने यह निर्णय किया कि शृगार, करुण और शात रसों में जो एक प्रकार की आह्लादकता रहती है, जिसके कारण चित्त द्रुत हो जाता है, उसका नाम माधुर्य है, वीर, रौद्र और बीभत्स रसों में जो उद्दीपकता रहती है, जिसके कारण चित्त जल उठता है, उसका नाम ओज है, और जो सूखे[1] ईंधन में आग की

१—यह दृष्टात ओजस्वी रसों के लिये है।

तरह और स्वच्छ[1] शर्करा अथवा वस्त्रादि में जल की तरह चित्त को रस से व्याप्त कर देता है, उस विकासकत्व का नाम प्रसाद है। अतः यों समझना चाहिए कि गुण मुख्यतया रस के धर्म हैं और इन्हें जो रचना आदि के धर्म कहा जाता है, सो औपचारिक है।

पर साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के आशय को बिना समझे ही उसका खंडन कर दिया। उन्होंने पहले तो काव्यप्रकाशकार की इसी बात को लिख दिया कि 'गुण[2] शौर्यादिक की तरह रस के धर्म हैं', पर आगे जाकर यह निश्चित किया कि द्रुति, दीप्ति और विकासरूपी चित्तवृत्तियों का नाम ही माधुर्य, ओज और प्रसाद है, तथा अपने इस सिद्धांत के अनुसार काव्यप्रकाशकार के विषय में यह कह डाला कि माधुर्य[3] को जो द्रुति का कारण बताया जाता है वह ठीक नहीं, क्योंकि द्रुति स्वयं रसरूप आह्लाद से अभिन्न है, इस कारण, जैसे रस कार्य नहीं हो सकता, वैसे वह भी कार्य नहीं हो सकती। पर उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं उठाया कि काव्यप्रकाशकार ने द्रुति को माधुर्य माना कब है? वे तो शृंगारादि मे जो द्रुति-जनकता (प्रयोजकता) रहती है उसे माधुर्य कहते हैं। आपने पहले तो गुणो को रस का धर्म बताया और अब उन्हें चित्तवृत्तिरूप कह रहे हैं। जरा सोचिए तो सही कि रति (जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है) रूप रस का धर्म द्रुतिरूप चित्तवृत्ति कैसे हो सकती है? क्या एक चित्तवृत्ति का दूसरी चित्तवृत्ति धर्म होती है? अतः यह सब अविचारिताभिधान है।

१—यह दृष्टांत मधुर रसों के लिये है।

२—'रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणा. ..'।

३—"यत्तु केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न। द्रवीभावस्यास्वादस्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्य्यत्वाभावात्।"

इसके बाद पडितराज ने गुणों के स्वरूप का प्रामाणिक रूप से निर्णय करके यह स्थिर कर दिया कि वास्तव में द्रुति, दीप्ति और विकास नामक चित्तवृत्तियो के नाम ही माधुर्य, ओज और प्रसाद है, और शृगारादिक रस उनके प्रयोजक हैं, अतः उन्हे मधुर आदि कहा जाता है। सो यह मानना चाहिए कि गुण रसो के धर्म नहीं, किंतु स्वतंत्र चित्तवृत्तियाँ हैं और वे उन-उन शब्दों, अर्थों, और रचनाओ से प्रयुक्त होकर रस को उत्कृष्ट बनाती हैं।

भाव

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथमानन में अब केवल व्यभिचारी भाव रह जाते हैं, पर उनके विषय में इस समय कुछ विशेष वक्तव्य नहीं है, क्योकि इस विषय में विशेष मत-भेद नहीं है, वे भरत के समय से आज दिन तक चौतीस के चौतीस ही हैं, न किसी ने उन्हें घटाया, न बढाया। प्रस्तुत पुस्तक में भावो के लक्षण, स्वरूप तथा कार्य-कारण आदि सब बातो का स्पष्टरूपेण विवरण कर दिया गया है। हॉ, इतना कह देना आवश्यक है कि इस तरह से प्रत्येक भाव को पृथक् पृथक् समझने के लिये उनके भेदक धर्म और कार्य-कारण अन्यत्र नहीं समझाए गए हैं।

इति शुभम्।

वैशाख शुक्ला ७ शुक्रवार
सवत् १९८५
ता० २७ अप्रैल सन् १९२८।

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी
जयपुर

द्वितीय आनन

विषयविवेचन

उपक्रम

प्रथमानन मे 'ध्वनि - काव्य (उत्तमोत्तम काव्य ,' के भेदो का निरूपण करते हुए यह लिखा जा चुका है कि—'ध्वनि-काव्य' के पॉच भेद हैं, रसध्वनि, वस्तुध्वनि अलकारध्वनि, अर्थांतरसक्रमितवाच्य ध्वनि और अत्यततिरस्कृतवाच्य ध्वनि और साथ ही यह भी लिखा जा चुका है कि—इन भेदो में से पहले तीन अभिधामूलक हैं और शेष दो लक्षणामूलक।

इन पॉचो मे से 'रसध्वनि' का सविस्तार वर्णन प्रथमानन के अत तक किया जा चुका है। इस 'आनन' के आरभ मे शेष चार ध्वनि-काव्यो का वर्णन किया गया है और अवशिष्ट भाग में अलकारो का। अभिधामूलक और लक्षणामूलक ध्वनियो के प्रसग से, मध्य मे, अभिधा और लक्षणा का भी यथेष्ट वर्णन कर दिया है। यह है द्वितीय 'आनन' के ध्वनिसबन्धी विषयो का सक्षेप।

'ध्वनि' शब्द के अर्थ

उक्त ध्वनियो के विवेचन से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि—'ध्वनि' शब्द सस्कृत-भाषा में किन किन अर्थों मे व्यवहृत होता है इसका निरूपण कर दिया जाय। 'ध्वनि' शब्द साहित्य-शास्त्र मे

पॉच* अर्थों में आता है—शब्द, शब्द की एक शक्ति व्यंजना, रस आदि पूर्वोक्त पॉचों व्यंग्य, रस आदि व्यंग्यो की प्रतीति—अर्थात् ध्वनित होना और उत्तमोत्तम काव्य।

इनमे से प्रकृत अनुवाद में हमने प्राय 'व्यंग्य' और 'उत्तमोत्तम काव्य' के अर्थ में ही 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार आवश्यकतानुसार किया है। पाठकों को क्लिष्टता न जान पडे इसलिये अन्य अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग हमने नहीं किया। इतने पर भी यदि संस्कृत भाषा के अनवरत अभ्यास के कारण कहीं अन्य अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग हो गया हो तो पाठक प्रसंगानुसार यथोचित अर्थ समझ ले—यह प्रार्थना है।

काव्य का आत्मा

प्रथमानन की भूमिका की टिप्पणी में हम 'काव्य की आत्मा' के विषय में कुछ प्रसिद्ध विद्वानो के मत दिखा चुके हैं और यह प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं कि इन पर विस्तृत विचार द्वितीयानन की भूमिका में किया जायगा। इस ग्रंथ के कर्त्ता ने† व्यंग्य अर्थ को काव्य की आत्मा-

---

* "इह काव्यपुरुषावतारस्य ध्वनिकारस्य व्यवहारात्—ध्वनतीति ध्वनिः शब्दः, ध्वन्यतेऽनेनेति ध्वनि. शब्दादिशक्ति', ध्वन्यत इति ध्वनिः रसादिरर्थ', ध्वनन ध्वनिरिति रसादिप्रतीति., ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः काव्यम् इत्येवं ध्वनियोगा उपलभ्यन्ते।" इति सा० द० भूमिकाया म० म० श्री दुर्गाप्रसादद्विवेदमहाभागा।

† "अस्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते।" (द्वितीय आनन, उपमा का आरंभ) यहाँ व्यंग्य शब्द का अर्थ केवल रस कहना ग्रंथकार के आशय के

माना है, अतः व्यंग्य अर्थ के भेदो पर विचार करने से पूर्व उक्त विषय पर विचार कर लेना प्रसगप्राप्त है, इसलिये यहाँ इस विषय का विचार किया जाता है। सक्षेप में अब तक 'काव्यात्मा' के विषय मे सात मत प्राप्त होते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१—रस (अग्निपुराण)।

२—रीति—अर्थात् विशेष प्रकार की पद-रचना (वामन)।

३—वक्रोक्ति—अर्थात् उक्ति की विचित्रता (कुतक)।

४—भोग—अर्थात् आस्वादन अथवा रसव्यजना (भट्टनायक)।

५—ध्वनि—अर्थात् चमत्कारी व्यंग्य अर्थ (ध्वनिकार और उनके अनुयायी)।

६—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य—अर्थात् रस भाव आदि (विश्वनाथ)।

७—औचित्य (क्षेमेंद्र)।

अलकारसर्वस्व का मत

इन सब मतो का विवेचन करने से पूर्व हम, अलकार शास्त्र के सुबहुमान्य ग्रथ 'अलकारसर्वस्व' के कर्त्ता ने काव्यात्मा के विषय में प्राचीन मतो का सार दिखाते हुए जो सिद्धात स्थिर किया है उसके

विरुद्ध है, क्योंकि एक तो काव्यलक्षण के विवेचन के अवसर पर ही स्वय ग्रथकार ने लिखा है कि "यत्तु रसवदेव काव्यम्' इति साहित्य-दर्पणे निर्णीतम् , तन्न । वस्त्वलंकारप्रधानाना काव्यानामकाव्यत्वा-पत्तेः ·····" इत्यादि। दूसरे, अलकारों से उपस्कार्य प्रधान व्यग्यों में भी उन्होंने तीनों तरह के व्यग्यों को प्रधान माना है। देखिए "इय चैवभेदोपमा वस्त्वलङ्काररसरूपाणा प्रधानव्यङ्ग्यानां वस्त्वलङ्कारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पञ्चधा"।

(काव्यमालासस्करण पृष्ठ १८२) इत्यादि।

निरूपक सदर्भ का अविकल अनुवाद, सदर्भसहित, आप लोगों के समक्ष उपस्थित करते हैं—

*"भामह उद्भट आदि प्राचीन अलकारशास्त्रकार व्यंग्य अर्थ (ध्वनि) को वाच्य अर्थ का उपस्कारक होने के कारण, अलंकारपक्ष के अतर्गत मानते हैं—अर्थात् उनके मत से कोई भी व्यग्य अलकार ही हो सकता है, स्वतत्र नहीं। अतएव पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि अलकारो में जो केवल वस्तु (बात) ध्वनित होती है उसे उन्होंने वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानकर 'कहीं वाच्य अर्थ अपनी सिद्धि के लिये व्यग्य अर्थ का आक्षेप करता है और कहीं व्यंग्य अर्थ के लिये अपना अर्पण कर देता है—अर्थात् कहीं वाच्य अर्थ प्रधान रहता है और कहीं गौण'—इन दो प्रकारों से जहाँ जैसी सगति हुई वैसे प्रतिपादित किया है। साराश यह कि चाहे व्यग्य प्रधान हो अथवा अप्रधान वे उसे वाच्य अर्थ का उपस्कारक, अतएव अलकार ही मानते थे।

रुद्रट ने तो एक प्रधान और दूसरा अप्रधान इस तरह (प्रधान व्यग्य और गुणीभूत व्यग्य दोनो को) दो प्रकार का भावालकार माना है। रूपक, दीपक, अपह्नुति और तुल्ययोगिता आदि में उपमालकार

---

*"इह हि तावद्भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकारा. प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयाऽलङ्कारपक्षनिक्षिप्त मन्यन्ते। तथा हि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्र गम्यमान वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेप' परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोग द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादित तैः।

रुद्रटेन तु भावालङ्कारो द्विधैवोक्तः (गुणीभूतागुणीभूतवस्तुविषयत्वेनेत्यर्थ.)। रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलङ्कारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता। रसव-

को (जो व्यग्य होता है) वाच्य के उपस्कारक रूप में और उत्प्रेक्षा को तो स्वय ही प्रतीयमान (व्यंग्य) कहा है और रसवान्, प्रेय आदि अलकारों में रस, भाव आदि को वाच्य की शोभा का कारण बताया है। इस तरह उन्होने (वस्तुरूप, अलकाररूप और रसादिरूप) तीनो प्रकार का व्यग्य (मान अवश्य लिया है, पर उसे) अलकाररूप से प्रसिद्ध किया है। साराश यह कि आचार्य रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि में तीनों प्रकार के व्यंग्य आ गए थे अवश्य, पर उन्होंने उन्हे स्वतंत्र नहीं, किंतु अलकार-रूप माना है।

"वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा को वक्रोक्ति अलकार कहा है, अतः किसी प्रकार की ध्वनि (व्यग्य) को उनने अलकाररूप कहा है अवश्य, पर काव्य की आत्मा तो उनने केवल रीति को माना है, जो कि गुणव्यजक पदो की रचनारूप है। तात्पर्य यह कि गुण अलकारो से उत्कृष्ट हैं—इस बात को यद्यपि वामन ने समझ लिया है तथापि व्यग्यो के चमत्कार को वह यथेष्टरीत्या न समझ सके, अतएव जो व्यग्य उनके ध्यान में आया उसे उन्होने अलकारो मे निविष्ट करने का ही प्रयत्न किया है।

"रहे वामन से पूर्व के आचार्य उद्भट आदिक, सो उन्होने तो गुणों और अलकारो की प्रायः समानता ही सूचित की है, क्योंकि उन्होंने इन दोनो को विषय-भेद से भिन्न माना है और गुणो को रचना का धर्म माना है।

प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यहेतुत्वेनोक्त । तदेवं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलङ्कारतया ख्यापितमेव।

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारत्व ब्रुवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्त । केवल गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीति काव्यात्मत्वेनोक्ता।

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणा प्रायश साम्यमेव सूचितम्, विषय-मात्रेण भेदप्रतिपादनात्। सघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः।

"इस तरह यह सिद्ध हुआ कि प्राचीन विद्वानो (भामह से लेकर वामन तक—अर्थात् छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी के प्रारभ तक) का मत था कि काव्य मे अलकार ही प्रधान हैं (व्यंग्यो की प्रधानता उनके ध्यान में नहीं आई थी) ।

"वक्रोक्तिजीवितकार ने चतुराई के ढग से बोलना जिसका स्वभाव है उस अनेक प्रकार की वक्रोक्ति (उक्तियों की विचित्रता) को ही काव्य का जीवन (आत्मा) कहा और काव्य मे व्यापार (तरीके) को प्रधान स्वीकार किया । इनके मत में अलकार एक तरह के बोलने के तरीके ही हैं । उन्होने यह भी माना है कि—तीनो प्रकार का व्यंग्य है, पर कवि का सरम्भ व्यापार-रूप उक्ति पर ही होता है । उन्होंने व्यग्यो का समग्र विस्तार स्वीकार भी किया है, पर 'उपचारवक्रता' आदि नामो से । सक्षेप मे उन्होने यह सिद्धात स्थिर किया है कि—काव्य का जीवन केवल उक्तियो की विचित्रता है, व्यग्य अर्थ नहीं ।

"भट्टनायक ने तो प्रौढोक्ति से स्वीकार किए हुए व्यंग्यो के व्यापार को काव्य का एक भाग कहते हुए उसी व्यापार की काव्य में प्रधानता

तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मतम् ।

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां वहुविधा वक्रोक्तिमेव काव्यजीवितमुक्तवान् । व्यापारस्य प्राधान्य च काव्यस्य प्रतिपेदे । अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्काराः । सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः । उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः । केवलयुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्य, न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम् ।

"भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्यैव प्रौढोक्त्याऽभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम् ।

तलाई है, क्योंकि वह व्यापार शब्द और अर्थ के स्वरूप को नीचा कर देता है। उसने अभिधा और भावना नामक काव्य-व्यापारो के पार करने के बाद, रस का आस्वादन जिसका स्वरूप है और जिसका दूसरा नाम भोग है, उस व्यापार को प्रधानतया विश्राम का स्थान स्वीकार किया है। अर्थात् भट्टनायक के मत में शब्द, अर्थ अथवा उक्ति की विचित्रता तक ही काव्य की क्रिया समाप्त नहीं होती, किंतु वह रस के आस्वादन तक पहुँचती है और वहाँ जाकर समाप्त हो जाती है। इस तरह उसके मत में 'रस का आस्वादन' रूपी व्यापार ही प्रधान वस्तु अथवा आत्मा है।

"साराश यह कि—ध्वनिकार श्री आनदवर्धनाचार्य से पूर्व नवम शताब्दी के उत्तरार्ध तक विद्वानो को यह प्रतीति अवश्य हुई कि शब्द और उनके वाच्य से आगे भी एक वस्तु अवश्य है, पर वे उसके विषय में होनेवाले व्यापार को ही प्रधान मानते रहे—असली वस्तु तक नहीं पहुँच पाए।

"इसके अनतर ध्वनिकार (श्री आनदवर्धनाचार्य) ने यह सिद्धात निश्चित किया कि—अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनो व्यापारों (शब्दशक्तियो) के पार करने अनतर एक और व्यापार होता है, जिसे ध्वनन, द्योतन (और आजकल 'व्यजना') आदि

तत्रापि अभिधाभावनात्मकव्यापारद्वयोत्तीर्णो, रसचर्वणात्मा भोगापर-पर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः।

"ध्वनिकारः पुनरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यजनव्यापारस्यावश्यमभ्युपगम्यत्वाद् व्या-

नामों से पुकारा जाता है और वह इतना आवश्यक है कि बिना उसके माने निर्वाह नहीं। परन्तु यह व्यापार (जैसा कि भट्टनायक ने मान लिया है) किसी वाक्य का अर्थ नहीं हो सकना, वाक्य का अर्थ तो होता है (इस व्यापार के द्वारा प्रनीयमान होनेवाला) 'व्यग्य', और वही गुण-अलंकार आदिसे सुशोभित किया जाता है—उसी को वे चमत्कारी बनाते हैं, अतः प्रधान होने के कारण वही विश्राम का स्थान है, न कि 'भोग' या 'आस्वादन' रूप व्यापार यह सिद्धान्त किया, क्योकि व्यापार का स्वरूप विषय (जिसकी प्रतीति के लिये वह व्यापार होता है) को पहले उपस्थित करता है और फिर स्वय उपस्थित होता है—बिना वस्तु के कोई व्यापार नहीं हो सकता, अतः व्यापार की अपेक्षा विषय की प्रधानता हुआ करती है—ऐसा नियम है, इसलिए सारा भार विषय के ऊपर ही रहता है—अर्थात् व्यापार तो एक साधनमात्र है और वाक्य का जिस वस्तु पर दारोमदार रहता है, जिसके होने न होने से वाक्य बनता और बिगडता है वह तो विषय ही है, जिसे 'व्यग्य अर्थ' अथवा 'ध्वनि' कहा जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि यही व्यग्यार्थ काव्य का जीवन अथवा आत्मा कहे जाने के योग्य है, क्योंकि गुणों और अलकारो से आविर्भावित सुन्दरता को स्वीकार करने का साम्राज्य इसे ही प्राप्त है। (इसी के रस

पारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालङ्कारोपस्कर्त्तव्यत्वेन प्रधान्याद्विश्रान्तिधामत्व सिद्धान्तितवान्। व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात्, तत्प्राधान्येन प्रधानत्वात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्। तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वाच्य:, यस्य गुणलङ्कारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम्।

आदि पाँच भेद हैं, जैसा कि लेख के आरंभ में दिखाया जा चुका है।)

"रही यह बात कि—इन रस-आदि को रुद्रट की तरह अलंकार रूप ही क्यो न मान लिया जाय तो इसका उत्तर यह कि रसादिक (व्यंग्य) काव्य के जीवनरूप हैं—आत्मा हैं, अतः उन्हे अलकार नहीं कहा जा सकता, कारण, अलकार सुशोभित करनेवालों का नाम है और रसादिक सुशोभित करनेवाले नहीं किंतु प्रधान होने के कारण, सुशोभित होनेवाले हैं।

"अतः यह सिद्ध हुआ कि **वाक्यार्थस्वरूप व्यंग्य ही काव्य का जीवन है,** और यही पक्ष वाक्यार्थ समझनेवाले सहृदयो को अपनी तरफ झुकाता है, क्योंकि व्यजनानामक शब्दशक्ति को कोई छिपा नहीं सकता और उसे स्वीकार कर लेने पर अन्य कोई पक्ष ठहर नहीं सकता।

"इसके बाद यद्यपि व्यक्तिविवेककार ने वाच्य अर्थ को व्यग्य अर्थ के प्रति हेतु मानकर व्यजना का अनुमान में अंतर्भाव करने का प्रयास किया है, पर वह बिना (अधिक) विचार के है, क्योंकि न तो वाच्य और व्यग्य में तादात्म्य सबध ही है और न वाच्य अर्थ से प्रतीयमान

"रसादयस्तु जीवितभूता नालङ्कारत्वेन वाच्या.; अलङ्काराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीना च प्रधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः। व्यञ्जनव्यापारस्य सर्वैरनपह्नुतत्वात् तदाश्रयणे च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात्।

"यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गितया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह

की उत्पत्ति ही होती है कि जिससे वाच्य अर्थ को व्यंग्य का हेतु माना जाय।"

यह तो हुई 'अलकार-सर्वस्व'कार के विवेचन की बात, जिसका साराश यह है कि '**व्यंग्य अर्थ ही काव्य की आत्मा है**'।

पूर्वोक्त मतों पर विचार

अच्छा, अब पूर्वोद्धृत मतो पर विचार करिए उनमें से २, ३, ४ और ७ सख्यावाले मत तो किसी प्रकार टिक नही सकते। कारण, ३ और ४ सख्यावाले मतो का तो ऊपर लिखे अनुसार अलकारसर्वस्वकार ने, ध्वनिकार का मत उद्धृत करते हुए, स्वय ही स्पष्ट शब्दो मे अकाट्य युक्ति द्वारा खडन कर दिया है। उन्होने लिखा है कि ये लोग एक प्रकार के व्यापार (द्वारभूत क्रिया) को काव्य की आत्मा मानते हैं, पर व्यापार स्वय परमुखापेक्षी है—बिना किसी प्रतिपाद्य अथवा साध्य के उसका जन्म ही नहीं हो सकता। ऐसी दशा मे प्रधानतया प्रतिपाद्य अर्थ (व्यग्य) को छोडकर, व्यापार को, काव्य की आत्मा किसी प्रकार नहीं माना जा सकता।

२ संख्यावाले मत का खडन भी साहित्यदर्पणकार ने अच्छी तरह कर दिया है। वे कहते हैं कि—'विशिष्ट रचना' रूप 'रीति' काव्य का अंगविन्यास मात्र है, और अतएव वह काव्य के शरीर के अतर्गत कही जा सकती है, न कि काव्य की आत्मा।

रहा ७ सख्यावाला मत, सो वह तो एक आलकारिक उक्ति है। क्षेमेंद्र के कथन का तो अभिप्राय केवल इतना ही है कि काव्य में औचित्य अत्यंत अपेक्षित वस्तु है। क्योंकि

तादात्म्यदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम्। तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदक्षीयमतिगहनगहनमिति नेह प्रतन्यते।" (अलंकारसर्वस्व)।

"अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥"

इस ध्वनिकार के सिद्धातानुसार औचित्य रस की पोषक वस्तु है, अतएव वह साध्य नहीं किन्तु साधन है। ऐसी दशा मे कोई भी सहृदय उसे काव्य की आत्मा नहीं कह सकता। अतः इन मतो पर विशेष लिखकर लेख का कलेवर बढाना व्यर्थ है।

अब केवल तीन मत रह जाते हैं—१, ५ और ६ सख्यावाले। इनमे से संख्या १ मे जो रस शब्द आया है उसका अर्थ केवल शृङ्गार आदि परिगणित रस ही नही है, किंतु 'रस्यतेऽसौ रस.' इस 'योग' के अनुसार जिसका आस्वादन किया जाता है वह वस्तु—अर्थात् आस्वादनीय व्यग्य—है, अन्यथा 'भाव' आदि के वर्णनवाले काव्य भी निर्जीव हो जायँगे और 'स्तुति-कुसुमाजलि' एव 'गगालहरी' प्रभृति सहृदयो के माननीय काव्य भी यथार्थ मे काव्य न रहेंगे। अतः १ सख्या-वाले और ५ अथवा ६ सख्यावाले मतो का एक ही अभिप्राय है—यह समझना चाहिए।

अब केवल ५ और ६ सख्यावाले मत रह जाते हैं। उनमें से ५ सख्यावाला—अर्थात् ध्वनिकार श्री आनदवर्धनाचार्य का—मत प्रायः सभी आचार्यों द्वारा सम्मानित है। यहाँ तक कि 'ध्वनि'कार के सिद्धात का खडन करनेवाले 'व्यक्तिविवेक'-कार ने भी लिखा है कि—"काव्यस्यात्मन्यङ्गिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमति.—अर्थात् काव्य की आत्मा और अगी—अर्थात् प्रधानतया प्रतिपाद्य—रस-आदि के विषय में किसी को मतभेद नहीं है" इस मत का विस्तृत विवेचन ऊपर उद्धत 'अलकारसर्वस्व'कार के सदर्भ मे किया जा चुका है, अतः अब इस विषय मे विशेष लिखना व्यर्थ है।

रहा ६ सख्यावाला मत, सो उसमें भी व्यग्यो का काव्यात्मा होना तो मान ही लिया गया है, केवल वस्तुरूप और अलकाररूप व्यग्यों के काव्यात्मा होने में उन्हे विप्रतिपत्ति है। वे कहते हैं—यदि वस्तु, अलकार और रस तीनों व्यग्यो को काव्य की आत्मा माना जाय तो एक तो पहेलियाँ भी काव्यों में गिनी जाने लगेंगी और दूसरे 'देवदत्त गाँव जाता है' इस और ऐसे वाक्यों में 'उसके नौकर का उसके साथ जाना' आदि व्यग्य रहता है, अतः ऐसे वाक्य भी काव्य हो जायँगे।

सिद्धान्त

अच्छा, अब इन विप्रतिपत्तियो पर विचार करने से पूर्व जरा यह देख लीजिए कि जो लोग व्यग्य अर्थ को काव्य की आत्मा मानते हैं, उनका इस विषय में क्या कहना है—वे कैसे व्यग्यों को 'काव्य की आत्मा' मानते हैं और कैसो को नहीं। इस विषय में ध्वनि-कार कहते हैं—

"प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

अर्थात् व्यग्य एक दूसरी ही चीज है जो कि महाकवियो की वाणियों में ऐसे प्रतीत होना रहता है, जैसे अगनाओं में प्रसिद्ध अगों के अतिरिक्त लावण्य*।" और इतना लिखने के बाद लिखते हैं कि—

---

* मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
सलक्ष्यते यदगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।

मोतियों में कान्ति की तरलता (पानी) की तरह जो (चमक) अगों के अंदर दिखाई देती है उसे लावण्य कहा जाता है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोकः श्लोकत्वमागत ॥

अर्थात् वही—महाकवियो की वाणी मे लावण्य की तरह प्रतीत होनेवाला ही—अर्थ काव्य की आत्मा है जैसे कि क्रौंच-पक्षियों के जोडे के वियोग से उत्पन्न आदिकवि (वाल्मीकि) का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो गया ।

इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यग्य अंगनाओं के शरीर के लावण्य की तरह आकर्षक और अन्य किसी से अनभिभूत होकर प्रतीत होता है वही काव्य की आत्मा होता है, अन्यथा 'स एव' में 'एव' शब्द का पूर्ण स्वारस्य नहीं रहता । ऐसी दशा में यह कहना अनुचित न होगा कि स्पष्ट शब्दो मे न लिखने पर भी अचमत्कारी व्यग्य को वे काव्य की आत्मा नहीं मानना चाहते ।

पर इतने पर भी यदि पहेलियो को काव्य माना जाय—जैसा कि सरस्वतीकठाभरणकार आदि ने माना है—तो आप को उनकी भी आत्मा व्यग्य को ही मानना पडेगा, क्योंकि पहेली को सुनने और जानने की इच्छा उसी (व्यग्य) के अधीन है, अतएव 'काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्' इस न्याय से वहाॅ व्यग्य का प्रधानता और चमत्कारजनकता को निह्नुत नहीं किया जा सकता । हमारी राय मे तो जब खड्गबध और मुकुरबध आदि को काव्य माना जाता है तब वस्तुव्यजक पहेली का काव्यजगत् से बहिष्कार कर देना कुछ उचित भी नही प्रतीत होता ।

किंतु हम इस विवाद मे नहीं पडना चाहते । हमे तो यहाॅ इतना मात्र कहना है कि—यदि पहेलियाॅ और 'देवदत्त आता ह' आदि वाक्य किसी तरह काव्यो की गिनती में अ जायॅ—यदि उनमें काव्यलक्षण पूर्णतया घटित हो जाय—तो उनकी आत्मा भी आपको व्यग्य

अर्थ ही मानना पडेगा और यदि वे काव्य ही नहीं हैं तो फिर उनमें व्यग्य के प्रतीत हो जाने मात्र से उनका काव्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। देखिए, समस्त दर्शनो के अनुसार मनुष्य, पशु-पक्षी और कीट-पतंग सबमें आत्मा एक ही प्रकार की है, किंतु मनुष्य का लक्षण पशु-पक्षी आदि में घटित न होने के कारण उन्हे मनुष्य नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी तरह इनमे भले ही व्यग्य रहे, कितु यदि इनमें काव्य-लक्षण घटित नहीं होता तो इन्हे काव्य कैसे कहा जा सकता है। अत. केवल इस निरर्थक भय से समस्त सलक्ष्यक्रम व्यग्यो को काव्य की आत्मा न मानकर केवल असलक्ष्यक्रम व्यग्यो को ही काव्य की आत्मा मानना युक्तिसगत नहीं प्रतीत होता।

दूसरे, यदि ऐसा माना जाय—अर्थात् सलक्ष्यक्रम व्यग्यो को काव्य की आत्मा न माना जाय—तो 'धन-मद से मनुष्य को सुधि-बुधि नहीं रहती' इत्यादि व्यग्यो की प्रधानतया प्रतीति करवानेवाले

*कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात है यह पाए बौराय॥—बिहारी।

इत्यादि काव्य भी निर्जीव—अतएव चमत्कारशून्य—हो जायँगे। इतना ही नहीं, कितु वस्तु अथवा अलकार को प्रधानतया अभिव्यक्त करनेवाले सभी काव्यो की यही दशा होगी।

अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्य की आत्मा व्यग्य अर्थ है और उसी को उपस्कृत करने के लिये गुण, अलकार आदि की रचना की जाती है, अन्यथा वे अनुपस्कारक होने के कारण अपने नामों की यथार्थतया सार्थक नहीं कर सकते।

---

* इस पद्य में 'यदेव व्यङ्ग्य तदेवोच्यते यथा तु व्यङ्ग्य न तथोच्यते' इस न्याय से उक्त व्यग्य प्रधानतया प्रतीत होता है।

व्यङ्ग्य अर्थ और उसके प्रबन्धक

इस 'काव्य की आत्मा रूप' व्यङ्ग्य अर्थ के विषय मे सहृदय-शिरोमणि श्री आनदवर्धनाचार्य ने क्या ही सुन्दर लिखा है। वे कहते हैं—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्त प्रतिभाविशेषम्॥

महाकवियो की वाणी से वह व्यङ्ग्यअर्थरूपी स्वादु (रसमय) वस्तु झरती रहती है—उनके शब्दो से अनायास ही उसका प्रवाह-सा निकलता रहता है, और इस तरह वह वाणी चमचमाते हुए उनके असाधारण प्रतिभा-विशेष को अभिव्यक्त करती है। इसका सार यह है कि—व्यङ्ग्य अर्थ ऐसी वस्तु है कि उसके विषय में विशेष न जानने वाला भी, जैसे बच्चा दूध अथवा मिश्री की तरफ आकृष्ट होता है वैसे, सुनते ही उसकी ओर आकृष्ट* होता है तथा वह वस्तु न तो बलात् लाई जा सकती है और न ऐरे-गैरे लोग वैसे काव्यो के लिख ही सकते हैं—वे तो केवल महाकवियो के ही बॉट मे आए हैं।

व्यङ्ग्य अर्थ के ज्ञाता

इस व्यङ्ग्य अर्थ को समझते कौन हैं, इसके विषय मे भी उन्होने बडा सुदर लिखा है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स हि काव्यर्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥

व्यङ्ग्य अर्थ, शब्द-शास्त्र और पदार्थ शास्त्र—अर्थात् व्याकरण और न्याय आदि—के जानने मात्र से समझ में नहीं

---

* जैसे हिंदी में तुलसीकृत रामायण। आज भी सैकडो व्यक्ति बिना उसकी विशेषताओं को जाने भी उसकी तरफ आकर्षित होते हैं और रसानुभव करते हैं।

आ सकता। उसे तो केवल काव्यार्थ के तत्त्वज्ञ ही समझ सकते हैं। अर्थात् चाहे कोई कितना ही बडा विद्वान् हो वह व्यंग्य अर्थों को समझ ही लेगा—यह आशा व्यर्थ है, उसके समझने के लिये काव्यमर्मज्ञ होने की आवश्यकता है—ऐसे-वैसे अर्थात् सहृदयता से शून्य लोगों की वहाँ तक पहुँच नहीं।

*शब्दो की शक्तियाँ और उनके प्रतिपाद्य अर्थ

व्यग्य अर्थ के भेदों पर विचार करने से पूर्व हम शब्दशक्तियो के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। यद्यपि यह क्रम अनुवाद्य ग्रथ के

---

* इस प्रसग में इतना और जान लेना भी उत्तम होगा। साहित्य-शास्त्र में वृत्तियों का वर्णन इन ग्रथों में पाया जाता है—अग्निपुराण, अभिधावृत्तिमातृका, शब्द-व्यापार-विचार, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, वृत्तिवार्त्तिक और रसगगाधर। इनमें से अग्निपुराण का निरूपण कुछ दूसरे ही प्रकार का है। उसे हमने खूब दिमाग लडाने के बाद जिस रूप में समझ पाया है उसे हम अनुवाद सहित नीचे दे रहे हैं। इससे पूर्व आप अन्य पुस्तकों का सक्षिप्त हाल सुन लीजिए। अभिधावृत्तिमातृका में प्राय. मीमासकों के मत का अनुसरण किया गया है और व्यजना नहीं मानी गई। शब्दव्यापारविचार एव काव्यप्रकाश के निर्माता एक ही व्यक्ति है श्रीमम्मटाचार्य, अत उनमें मतभेद के लिये कोई गुंजाइश नहीं। साहित्यदर्पण भी इस विषय में काव्य-प्रकाश का ही अनुसरण करता है और जो कुछ विशेषताएँ उसमें हैं उन पर और अन्य ग्रथों के मतभेदों पर भी आगे विचार किया ही जा रहा है।

अच्छा, अब अग्निपुराण की बात सुनिए। साहित्य-शास्त्र में सबसे पहले शब्द-शक्तियों का वर्णन इसी ग्रथ में मिलता है। वह

अनुसार नहीं है, क्योकि उसमे प्रथमत. व्यग्य के भेदो पर विचार

बडा विचित्र है। वहाँ इन वृत्तियों को भी अलकारो में ही वर्णन किया गया है। अग्निपुराण में तीन प्रकार के अलकारो का वर्णन है--शब्दालकार, अर्थालकार और शब्दार्थालकार। इनमें से शब्दार्थालकारों का वर्णन करते समय एक अलकार 'अभिव्यक्ति' नाम से माना गया है। उसका विवरण करते हुए लिखा है--

प्रकटत्वमभिव्यक्ति, श्रुतिराक्षेप इत्यपि।
तस्या भेदौ, श्रुतिस्तत्र शाब्द स्वार्थसमर्पणम् ॥
भवेन्नैमित्तिकी पारिभाषिकी द्विविधैव सा।
सकेत. परिभाषेति तत स्यात् पारिभाषिकी।
मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा ॥
सा(स्वा ?)भिधेयस्खलद्वृत्तिरमुख्यार्थस्य वाचक ।
यया शब्दो निमित्तेन केनचित् सौपचारिकी ॥
सा च लाक्षणिकी, गौणी लक्षणा गुणयोगत ।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥
अभिधेयेन सबधात् सामीप्यात् समवायत ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥
गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता, तद्विवक्षया।
अन्यधर्मस्ततोन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृत. ॥
श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति सचेतन (साम् ?)।
स आक्षेपो ध्वनि स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यत ॥
शब्देनार्थेन यत्रार्थं. कृत्वा स्वयमुपार्जनम् (स्वमुपसर्जनम् ?)।
प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥
तमाक्षेप ब्रुवन्त्यत्र.........॥

अग्निपुराण अध्याय ३४५ श्लो० ७--१५ई

करके तब शक्तियों पर विचार किया गया है, किंतु वह क्रम समझने में जरा कठिन पडता है, इसलिये यह शैली स्वीकार की गई है।

(शब्द से अर्थ के) प्रकट होने को अभिव्यक्ति कहते हैं। उसके दो भेद हैं—श्रुति (अभिधा-लक्षणा) तथा आक्षेप (व्यजना)। उनमें से शब्द का अपने अर्थ को अर्पित करना—या समझाना—श्रुति कहलाती है। श्रुति दो प्रकार की है—नैमित्तिकी (किसी निमित्त अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय आदि को अथवा किसी प्रयोजन को मानकर होने-वाली) और पारिभाषिकी (किसी परिभाषा को मानकर होनेवाली अर्थात रूढि)। (बिना किसी निमित्त के किए गए) सकेत को परिभाषा कहते हैं, उसके द्वारा होनेवाली श्रुति पारिभाषिकी कहलाती है। नैमित्तिकी और पारिभाषिकी दोनों ही श्रुतियाँ मुख्या (अभिधा) और औपचारिकी (लक्षणा) इस तरह दो-दो प्रकार की होती हैं। जिस श्रुति के द्वारा, अपने वाच्य में जिसकी स्थिति स्खलित हो रही है ऐसा (अर्थात् वाच्य अर्थ को ठीक-ठीक प्रतिपादन न करनेवाला) शब्द किसी निमित्त (प्रयोजन अथवा रूढि) के कारण मुख्य से भिन्न अर्थ का वाचक हो जाता है वह श्रुति औपचारिकी मानी जाती है और उसे ही लाक्षणिकी (रूढ लक्षणारूप ?) कहते हैं। गौणी लक्षणा गुणों के योग (अर्थात् सादृश्य) के कारण होती है। वाच्य अर्थ से संबद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं।

वाच्य अर्थ के साथ (साधारण) संबध द्वारा, समीपता द्वारा, समवाय (सयोग) द्वारा, विपरीतता द्वारा और क्रिया के योग द्वारा, लक्षणा पाँच प्रकार की मानी गई है। गौणी लक्षणा गुणों के अनत होने के कारण अनत प्रकार की होती है। जहाँ लोक-मर्यादा का उल्लघन न करते हुए (अर्थात् पारम्परिक समय को न तोडते हुए) व्यक्ति के द्वारा

शब्दों मे तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यजना। इनमें से वैयाकरणो और आलकारिको के अतिरिक्त अन्य शास्त्रोवाले प्राय. व्यंजना को नही मानते--उनके हिसाब मे दो ही शक्तियाँ हैं—अभिधा और लक्षणा। पर वैयाकरणो और आलकारिकोने व्यजना की सिद्धि मे कुछ ऐसे अकाट्य प्रमाण दिए हैं कि यदि निरर्थक हठ छोड दिया जाय तो विवश होकर व्यजना अवश्यमेव माननी पडती है। अस्तु।

इन शक्तियो को सस्कृत के ग्रथो में प्रायः 'वृत्ति' के नाम से पुकारा जाता है। यदि केवल 'शक्ति' शब्द आवे तो उसका अर्थ 'अभिधा' होता है। यह याद रखिए।

अभिधा

हम देखते हैं—नौकर से 'घडा' ये दो अक्षर कहते ही वह एक 'लवे गलेवाले बर्तन' की तरफ दौडता है, वह थाली या चमचे की तरफ नहीं दौडता और न अन्य किसी वस्तु की तरफ ही दौडता है। अतः मानना पडेगा कि—इन पूर्वोक्त 'घडा' रूपी कुछ अक्षरों का, अथवा यो कहिए कि इस पद का, उस वस्तु

'गौणी' के कथन की इच्छा से अन्य वस्तु का धर्म उससे भिन्न वस्तु में आधान (आरोपित) किया जाता है उसे इस शास्त्र में समाधि कहते हैं।

श्रुति (अभिधा-लक्षणा) द्वारा न प्राप्त होनेवाला अर्थ जिस वृत्ति के द्वारा सहृदयों को प्रतीत होता है, वह वृत्ति 'आक्षेप' कहलाती है और वही ध्वनि है, क्योंकि वहाँ ध्वनि के द्वारा शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं एवं जहाँ कोई विशेषता बताने की इच्छा से निषेध-सा होता है उसे (भी) आक्षेप कहते हैं।

के साथ अवश्यमेव कोई सबध है। यदि ऐसा न होता तो नौकर उस बर्तन के बजाय अन्य वस्तु अथवा व्यक्ति की तरफ क्यो न दौडता। इसी तरह अन्यान्य पदो का भी अन्यान्य पदार्थों के साथ अवश्य ही सबध है। पद और पदार्थ के इसी पारस्परिक सबध को 'अभिधा' शक्ति कहते हैं। इस सबंध अथवा अभिधा के ज्ञात होने पर ही हमें पद से पदार्थ का बोध होता है, अन्यथा नहीं। अतः किसी भी शब्द के अर्थ को समझने के लिये इस पूर्वोक्त सबधरूपी अभिधा का ज्ञान आवश्यक है।

अच्छा अब यह भी समझ लीजिए कि अभिधा के ज्ञान के द्वारा शब्द से अर्थ का ज्ञान कैसे होता है। सबधियो के विषय में यह नियम है कि—एक सबधी का बोध होने पर दूसरे सबधी का अपने-आप स्मरण हो आता है, जैसे 'राम' का घर देखने पर 'राम' का। इसी नियम के अनुसार हमें किसी भी नाम (जो एक प्रकार का शब्द है) के सुनते ही उससे सबध रखनेवाली वस्तु का, और किसी भी वस्तु के देखते ही उसके नाम का स्मरण हो आता है, और इस तरह अभिधा-शक्ति के द्वारा हमें उन-उन शब्दो से उन उन अर्थों का बोध होता है।

अभिधा है क्या वस्तु ?

इस सबध—अथवा अभिधा—को नैयायिक लोग 'इस पद से यह पदार्थ समझो' इस रूप में होनेवाली ईश्वर की इच्छा (अथवा किसी

यद्यपि ये आक्षेप के भेद ध्वनि के अतर्गत ही हैं तथापि कुवलयानदकार ने आक्षेप के द्वितीय भेद को अलङ्काररूप ही माना है। जैसा कि कुवलयानद में लिखा है—

"निषेधाभसामाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते।
नाह दूती तनोस्तापस्तस्या कालानलोपम.।—लेखक।

प्रकार हम लोगो की इच्छा) मानते हैं, किंतु मीमासको का कहना है कि यह शब्द की एक शक्ति है और स्वतंत्र पदार्थ है—अर्थात् इसे इच्छा आदि अन्य किसी पदार्थ के अतर्भूत नहीं किया जा सकता। इस विषय में बात मीमासकों की ही ठीक जॅचती है, जिसके हेतु प्रकृत अनुवाद मे यथास्थान दिए ही गए हैं और उनके अतिरिक्त एक और भी हेतु है कि यदि अभिधा को ईश्वरेच्छारूप माना जाय तो लक्षणा (और विशेषतः रूढ लक्षणा) को भी ईश्वरेच्छारूप क्यों न माना जाय। सो इस विषय मे वैयाकरण और आलकारिक विद्वान् मीमासकों का ही मत मानते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि—अभिधा का अर्थ है पद और पदार्थ का पारस्परिक सबध और वह एक प्रकार की शब्द की शक्ति है।

अभिधा समझने के साधन

किस पद से किस पदार्थ का सबध है इसके जानने के अनेक साधन हैं। कुछ साधन हिंदी-भाषा-भाषियों की जानकारी के लिये नीचे लिखे जाते हैं—

व्याकरण—प्रकृति, प्रत्यय आदि की अभिधा का ज्ञान व्याकरण से होता है; जैसे 'ज्ञाता' शब्द में 'ज्ञा' का अर्थ जानना और 'तृच् (ता)' का अर्थ कर्त्ता (अर्थात् 'ज्ञाता' आदि शब्दो के 'ज्ञान का कर्त्ता' अथवा 'जाननेवाला' इत्यादि अर्थ व्याकरण से ज्ञात होते हैं)।

उपमान (तुलना)—जैसे 'नीलगाय गाय के समान होती है' इस गाय की तुलना के द्वारा 'नीलगाय' पद का।

कोश—जैसे 'राजहस' पद का सबध उस पक्षी से है जिसकी चोच और पैर लाल हों और सब शरीर श्वेत, क्योंकि कोश में लिखा है कि

"राजहसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिता ।"

प्रामाणिक पुरुष का कथन—जैसे अध्यापक ने समझा दिया कि 'पिक' शब्द का अर्थ कोयल है।

व्यवहार—जैसे एक बालक के सामने एक बुड्ढे ने एक युवक से कहा—'घडा लाओ'। बाद मे कहा 'घडा ले जाओ और थाली लाओ'। यहाँ बालक ने 'घडा' पद का दो बार प्रयोग सुना और उस पदार्थ को देखा आर वह समझ गया कि इस पदार्थ का नाम घडा है।

प्रधान वाक्य का कोई अगरूप वाक्य—जैसे यज्ञ के प्रकरण मे लिखा है कि 'यवमयश्चरुर्भवति—'यव' का चरु होता है' यहाँ आर्य लोगो मे 'यव' शब्द का अर्थ 'जौ' है और म्लेच्छो मे 'कॉगनी'। तब भ्रम हो जाता है कि इस वैदिक वाक्य मे 'यव' शब्द का क्या अर्थ किया जाय। किंतु इसी के अगभूत अन्य वाक्य मे 'यव' का वर्णन करते हुए लिखा है कि "वसन्ते सर्वसस्याना जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः।—अर्थात् वसत मे सब फसलो के पत्ते गिर जाते हैं, किंतु यवो मे बाले आती हैं और बडे मजे में रहते हैं।" इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि 'यव' शब्द का अर्थ 'जौ' होता है, कॉगनी नही। कॉगनी के लिये उसका प्रयोग भ्रम से होने लग गया।

विवरण--(अर्थात् किसी समानार्थक वाक्य का प्रयोग)—जैसे "वारि अर्थात् पानी" यहाँ 'अर्थात् पानी' लिख देने से 'वारि' शब्द का अर्थ समझ में आ गया।

पूर्वपरिचित पद अथवा पदों का समीपवर्त्ती होना—जैसे "आमों की अवलि पर पिको की पंक्ति अति मधुर स्वर से कूक रही

है।" यहाँ अन्य शब्दो के परिचित होने से 'निक' शब्द 'कोमल' अर्थ में अपने-आप समझ मे आ जाता है।

अभिधा के भेद

अभिधा के तीन भेद हैं—रूढि, योग और योगरूढि। कुछ लोग यौगिक रूढि नाम का एक चौथा भेद भी मानते हैं। इन सबका उदाहरणसहित विवरण प्रकृत ग्रथ मे यथा-स्थान यथेष्ट रूप मे आ गया है। अतः यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है।

वाच्य अर्थ

इस अभिधा अथवा शक्ति नामक वृत्ति से जिस अर्थ का बोध होता है उसे 'वाच्य-अर्थ' कहा जाता है। इस बात को दूसरे शब्दो मे यो कह सकते हैं कि किसी शास्त्र से, किसी गुरु आदि प्रामाणिक पुरुष के मुख से अथवा व्यवहार आदि से हम पद के जिस अर्थ को समझते हैं उसका नाम वाच्य-अर्थ है।

इसी वाच्य अर्थ को अभिधेय, शक्य अथवा मुख्य अर्थ के नाम से भी पुकारा जाता है।

वाचक शब्द

अभिधाशक्ति द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द वाचक कहलाता है।

लक्षणा

शब्दो का प्रयोग पूर्वोक्त मुख्य अर्थ मे तो कहीं उससे अतिरिक्त अर्थ में भी होता देखा जाता है। एक बुढिया सास अपनी पतोहू से उसकी सेवा के कारण प्रसन्न होकर कहती है—

'तेरी चूडियॉ अमर रहें', अध्यापक विद्यार्थी मे बार-बार अर्थ न समझने पर चिटकर कहता है—'तुम तो पागल हो', पॉच मिनिट के काम में १५ मिनिट लगा देने पर मालिक नोकर से कहना है—'डेढ पहर लगा दी'। इन वाक्यो में, क्रमश., 'चूडियो' का अर्थ 'सौभाग्य', पागल का अर्थ 'मंदबुद्धि' और 'डेढ पहर' का अर्थ 'पद्रह मिनिट' है। पर दुनिया के किसी विद्वान् से पूछ देखिए, किसी कोश को उठाकर देख लीजिए—ये अर्थ आप को नहीं मिलेगे। अतः मानना पड़ता है कि इन अर्थों का 'चूड़ी' आदि शब्दों से कोई सीधा सबध नहीं—अथवा यो कहिए कि ये अर्थ उन शब्दों के वाच्य नहीं हैं—यदि ऐसा हो तो कोश-आदि में उन शब्दों के ये अर्थ क्यो न लिखे रहते। भला कहिए तो फिर ये अर्थ ज्ञात हुए कैसे ?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि—शब्द प्रथमतः अपने संबध के द्वारा अपने वाच्य अर्थ को समझाता है, पर जब वह अर्थ वक्ता के तात्पर्य को नहीं समझा सकता—उसमे जो बात वक्ता कहना चाहता है वह या तो बिलकुल ही या पूरी तरह से समझ में नहीं आती, तब उस पद के वाच्य अर्थ से सबंध रखनेवाले किसी अन्य अर्थ को, जो वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल होना है, उस पद का अर्थ मानना पड़ना है। साराश यह कि—ऐसा अर्थ पद और पदार्थ के पारस्परिक सबध द्वारा नहीं, किंतु पद के वाच्य अर्थ से सबध रखने के कारण प्रतीत होता है।

इस बात को यों समझिए कि—प्रत्येक पद दो तरह से अर्थ का प्रतिपादन करता है—एक अपने साक्षात् सबध द्वारा और दूसरा पर-परा सबध—अर्थात् अपने सबधी (वाच्य) अर्थ के सबंध द्वारा। इनमें से पहले सबध को अभिधा और दूसरे सबंध को लक्षणा कहते

हैं। जब पहला सबब काम नहीं कर सकता तभी दूसरा सबब काम में लाया जाता है। अतएव वृत्तियो में अभिधा का नंबर पहला और लक्षणा का दूसरा है। इस तरह यह बात सिद्ध हुई कि—**वाच्य (मुख्य) अर्थ के संबंध का नाम लक्षणा है।**

इस विषय में 'अभिधावृत्तिमातृका' के कर्त्ता भट्ट मुकुल का यह श्लोक ध्यान में रखने योग्य है—

"शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ॥

अर्थात् जिसकी शब्द से सीधी प्रतीति होती है वह अर्थ मुख्य कहलाता है और जो अर्थ अर्थ के द्वारा समझा जाता है—अर्थात् जिस अर्थ के समझने मे मुख्य अर्थ बीच में पडता है—उस अर्थ को लक्षणा द्वारा प्रतीत हुआ समझना चाहिए।"

लक्षणा की प्रवृत्ति के कारण

अब यह सोचिए कि—लक्षणा होती क्यो है—किन कारणो के उपस्थित होने पर लक्षणा का आश्रय लेना पडता है। उनमें से सबसे पहला कारण है मुख्य अर्थ का बाधित होना—अर्थात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार मुख्य अर्थ का वाक्य के अर्थ में अन्वित न होना। तात्पर्य यह कि जब मुख्य अर्थ प्रकृत वाक्य में या तो सर्वथा ही अन्वित न हो सके अथवा वह वक्ता के तात्पर्यार्थ को पूर्णतया प्रतीत न करवा सके तब लक्षणा होती है।

पर यदि केवल यही मान लिया जाय तो वक्ता कुछ भी बोले और कुछ भी अर्थ लगावे तो उसे रोका नही जा सकता और ऐसी स्थिति में वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है यह समझना एकदम असंभव हो जाय; अतः लक्षणा के दो नियामक कारण और ढूँढे गए हैं। वे हैं—

रूढि (प्रसिद्धि) और प्रयोजन। अत. मुख्यार्थ के बोधित होने के अतिरिक्त इन दोनो में से किसी एक का होना भी लक्षणा के लिये अनिवार्य है।

इस सबका साराश यह हुआ कि—मुख्य अर्थ से सबध न रखने-वाले अर्थ की तो किसी प्रकार प्रतीति हो ही नही सकती, क्योंकि मुख्य अर्थ के सबध का नाम ही लक्षणा है, पर उस अर्थ को भी वह तभी समझा सकता है कि—जब या तो उस अर्थ मे वह शब्द प्रसिद्ध (रूढ) हो गया हो या कोई प्रयोजन सिद्ध करना हो।

तब यह सिद्ध हुआ कि—मुख्यार्थ का वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल अथवा पर्याप्त न होना और उस अर्थ में उस शब्द की प्रसिद्धि अथवा कोई प्रयोजन—इन दोनो मे से एक—इस तरह लक्षणा के दो कारण हैं। ये जब तक न हो तब तक कोई लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा के लक्षण में सुधार

प्राचीन विद्वान् '*वाच्य अर्थ के सबध द्वारा वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ की स्मृति' को लक्षणा मानते थे। पर नवीन विद्वानो को यह बात न जॅची। कारण, शब्द से अर्थ की स्मृति होने मे जिसका ज्ञान कारणरूप हो वह पदार्थ शब्द की वृत्ति (आजकल के व्यवहार के अनुसार शक्ति) कहलाता है, वह वस्तु स्मृतिरूप नहीं, किंतु सबधरूप है, क्योकि 'पूर्वोक्त स्मृति (ज्ञान) का ज्ञान' लक्ष्य अर्थ के बोध का कारण नहीं है, किन्तु 'वाच्य अर्थ के सबध' का ज्ञान कारण है, अतः उसे ही लक्षणा मानना उचित है, न कि उसकी स्मृति को। इस तरह नवीन विद्वान् 'वाच्य-अर्थ के सबध' को लक्षणा मानने लगे और वही लक्षण 'रसगगाधर-कार' ने भी माना है।

---

* 'शक्यसबधेनाशक्यप्रतिपत्तिर्लक्षणा' इति प्राचीनाना लक्षणम्।

लक्षणा के भेद

ऊपर लिखा जा चुका है कि—लक्षणा के दो कारण हैं—एक रूढि (प्रसिद्धि), दूसरा प्रयोजन। इन दोनो कारणो को लेकर लक्षणा के प्रथमतः दो भेद होते हैं। रूढि के कारण होने वाली लक्षणा को रूढा अथवा निरूढा लक्षणा कहते हैं और प्रयोजन के कारण होनेवाला लक्षणा को प्रयोजनवती। अतिप्राचीन आचार्यों ने रूढा लक्षणा के भेद नहीं माने, पर पीछे के आचार्यों ने उसके गौणी और शुद्धा इस तरह केवल दो भेद माने हैं। साहित्यदर्पणकार के अतिरिक्त अन्य सभी आचार्य निरूढा लक्षणा के इससे अधिक भेद नही मानते, पर दर्पणकार के भेदो पर हम बाद मे विचार करेंगे।

प्रयोजनवती लक्षणा के साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने छः भेद माने हैं। वे यो हैं—प्रथमत. इस लक्षणा के निरूढा की तरह दो भेद होते हैं—गौणी और शुद्धा। उनमे से प्रयोजनवती गौणी के दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना और प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद होते हैं—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। इस तरह प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा जहत्स्वार्था, शुद्धा अजहत्स्वार्था, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना—ये छः भेद होते हैं। अभिधावृत्तिमातृका के कर्त्ता भट्ट मुकुल एव शब्दव्यापारविचार तथा काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मट भट्ट ने इतने ही भेद माने हैं।

जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था के दूसरे नाम

इनमे से जहत्स्वार्था को **जहल्लक्षणा** अथवा **लक्षणलक्षणा** और अजहत्स्वार्था को **अजहल्लक्षणा** अथवा **उपादान-लक्षणा** भी कहते हैं। यह याद रखिए।

जहदजहत्स्वार्था पृथक् नहीं है

वृत्तिवार्त्तिककार अप्पयदीक्षित ने वेदान्तियों के मतानुसार प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा का एक जहदजहल्लक्षणा नाम का भेद और माना है, पर उसके मानने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण, वह जहत्स्वार्था से अतिरिक्त नहीं है। नागेश भट्ट ने इस भेद का खंडन करते हुए काव्य-प्रदीप की उद्द्योत नामक व्याख्या में लिखा है—'वस्तुत तो यह (जहदजहल्लक्षणा) जहत्स्वार्था ही है, क्योंकि जहाँ वाचक शब्द अपने को वाच्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के लिए अर्पित कर दे वहाँ जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। यह बात दूसरी है कि—वह अपने अर्थ को सर्वांश मे छोड अथवा किसी एक अंश में।' किन्तु यदि आप यह शंका करे कि—आखिर जहदजहत्स्वार्था में अपने अर्थ का छोडना और न छोडना दोनों बातें हैं तो सही, ऐसी दशा में प्रमाण के अभाव से न तो उसे जहत्स्वार्था ही कह सकते हैं और न अजहत्स्वार्था ही। तब फिर उसे तीसरा भेद मानना ही उचित है। तो इसका उत्तर वृत्तिदीपिकाकार ने बडा सुन्दर दिया है। वे कहते हैं कि—अजहत्स्वार्था का अर्थ है—जो अपने अर्थ को न छोडे—अर्थात् जहत्स्वार्था न हो। ऐसी दशा मे 'प्रतियोगिविशेषित अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी (जिसका अभाव है उस वस्तु) का ज्ञान कारण हुआ करता है—बिना किसी वस्तु का ज्ञान हुए उसके अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता' इस नियम के अनुसार पहले जहत्स्वार्था का ज्ञान होता है और पीछे अजहत्स्वार्था का। तब यदि इस भेद का उक्त (नागेश की बताई) रीति से जहत्स्वार्था में समावेश हो सकता है तो अजहत्स्वार्था तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। और इस तरह जहदजहत्स्वार्था को जहत्स्वार्था से अतिरिक्त मानने में कोई विशेष कारण नहीं है।

सब भेदों का संग्रह

इस तरह लक्षणा के कुल आठ भेद होते हैं। यही भेद प्रस्तुत पुस्तक में लिखे हैं और यही साहित्य-शास्त्र में उपयोगी भी हैं। स्पष्टता के लिये हम यहाँ इन भेदों का नकशा दे देते हैं—
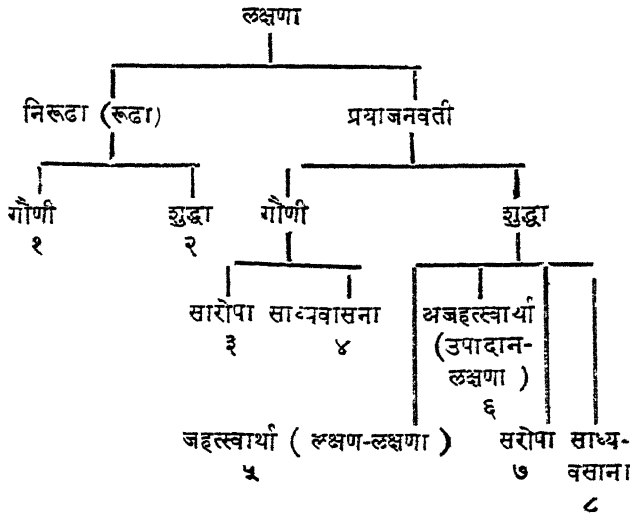
आठों भेदों के उदाहरण

यद्यपि मूल ग्रंथ में यथास्थान लक्षणा के उदाहरण आवश्यकता-नुसार दिए अवश्य हैं, किन्तु वहाँ वे अस्पष्ट-से हैं, अत: स्पष्टता के लिये हम यहाँ नीचे सब उदाहरण लक्षण-संगतिपूर्वक 'हमारे संस्कृत रत्नाकर' के लेख में से उद्धृत करते हैं—

१ **निरूढा गौणी**—जैसे 'अनुकूल'। यहाँ 'अनुकूल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'किनारे का अनुगमन करनेवाला—किनारे किनारे

चलनेवाला'। पर जब हम किसी मनुष्य के लिये कहते हैं कि 'यह हमारे अनुकूल है' तब यह अर्थ बाधित हो जाता है, क्योंकि 'हम' कोई नदी तो हैं नहीं कि हमारा कोई किनारा हो और वह उसका अनुगमन करे। हाँ, वह हमारे गुणो का अनुगमन अवश्य कर सकता है। इस तरह 'अनुगुण' शब्द के प्रयोग के स्थान पर लक्षणा के द्वारा 'अनुकूल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह लक्षणा पारम्परिक प्रसिद्धि के कारण प्रचलित है अतः निरूढा है और अनुकूल तथा अनुगुण मे सादृश्य-सबध होने के कारण गौणी है।

२ **निरूढा शुद्धा**—जैसे 'नीला घडा'। यहाँ 'नीला' शब्द के 'नीला रग' और 'नीले रंगवाला' ये दो अर्थ मानने की अपेक्षा 'नीला रंग' अर्थ मानना सीधा और सर्वसम्मत है। ऐसी दशा में 'नीला रग' घडे का विशेषण कैसे हो सकता है, अतः 'नीला' शब्द की 'नीले रगवाला' इस अर्थ में लक्षणा माननी पडती है और तब 'नीला घडा' यह प्रयोग ठीक हो जाता है। यह लक्षणा भी पारम्परिक प्रसिद्धि के कारण प्रचलित है, अतः निरूढा है और गुण (नीला रग) तथा गुणी (नीले रगवाला) इनमें सादृश्य सबध न होकर समवाय सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा है।

३ **प्रयोजनवती गौणी सारोपा**—जैसे 'मुख चद्र'। यहाँ मुख और चद्र को अभिन्न मानकर उनका विशेषण-विशेष्य के रूप में प्रयोग किया गया है। पर यह प्रत्यक्ष मे विरुद्ध है—मुख और चद्र को अभिन्न न कभी किसी ने देखा है, न देखने की सभावना है, अतः बाधित है। इसलिये 'चद्र' शब्द की 'चद्र के सदृश' अर्थ मे लक्षणा करनी पडती है और तब 'चद्रमा के सदृश मुख' इस तरह वाक्य का अर्थ ठीक हो जाता है। यह लक्षणा इसलिये की गई है कि मुख चद्रमा से अभिन्न अतएव अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो। इसलिये

प्रयोजनवती है। और मुख तथा चद्रमा में परस्पर सादृश्य रूप सबंध होने के कारण गौणी है। सारोपा यह इस तरह है कि—उपमा (तुलना) में उपमान—चद्र आदि—को विषयी और उपमेय—मुख आदि—को विषय कहा जाता है, जहाँ विषय और विषयी दोनो को अलग अलग लिखकर उनका अभेद किया जाता है वहाँ उस अभेद को आरोप कहते हैं। प्रकृत उदाहरण में विषय मुख और विषयी चद्र दोनो को पृथक्-पृथक् लिखकर अभेद माना गया है, अतः यह लक्षणा सारोपा है।

४ **प्रयोजनवती गौणी साध्यवसाना**—जैसे 'या पुर महलन में बसत विमल सुधाकर-पाँति'। यहाँ असली चद्रमा महलो में नहीं, किन्तु आकाश मे रहता है और न वह एक से अधिक है कि उसकी 'पाँति' हो सके। इस तरह मुख्य अर्थ बाधित है। तब यहाँ 'सुधाकर' शब्द का अर्थ असली चद्रमा नहीं, किन्तु 'कामिनियो के मुख' करना पडता है। यह अर्थ कोश-आदि मे लिखा हुआ नहीं है अतः यहाँ लक्षणा है और उपर्युक्त उदाहरण मे लिखित प्रयोजन तथा सबध यह भी होने के कारण उसी के समान प्रयोजनवती तथा गौणी है। साध्यवसाना यह इस तरह है कि—विषय और विषयी में से एक को कहकर दूसरे का उसमे अभेद मान लेना अध्यवसान कहलाता है। यह जहा हो वह साध्यवसाना है। यहाँ विषयी—चंद्रमा—को लिखा गया है और उसमें अनुक्त विषय—मुख—का अभेद मान लिया गया है, अतः साध्यवसाना है।

५ **प्रयोजनवती शुद्धा जहत्स्वार्था**—जैसे 'आपका गाँव तो गगा में है' यहाँ 'गंगा' शब्द का मुख्य अर्थ होता है 'बहता हुआ जल', उसमें गाँव का होना बाधित है। इसलिये लक्षणा द्वारा 'गगा' शब्द का 'गगा का तट' अर्थ करना पडता है। अब यह सोचिए कि

जब किसी आदमी का दिमाग ठिकाने हो, वह बिना किसी प्रयोजन के, 'गगातट' के स्थान पर 'गगा' शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते', इसलिये यही मानना पड़ता है कि वक्ता उनके गॉव की भूमि को उतनी ही शीतल और पवित्र बताना चाहता है जितनी कि स्वय गंगा है, अतः यह प्रयोजनवती है। गगा और गगातट से सादृश्य नहीं, किन्तु समीपता रूपी सबध है, इसलिये यह शुद्धा है, और 'बहते जल' रूपी मुख्य अर्थ के सर्वथा छोड देने के कारण 'जहत्स्वार्था' है। विपरीतलक्षणा (जैसे किसी दुष्ट से कहना कि 'आप तो बहुत भले आदमी हैं') भी इसी भेद के अतर्गत है।

६ **प्रयोजनवती शुद्धा अजहत्स्वार्था**—जैसे 'बदूके जा रही हैं' यहॉ बन्दूके जड पदार्थ है—वे अपने आप जा नहीं सकतीं, अतः उनका 'जाना' क्रिया का कर्ता होना बाधित है। इसलिये यहॉ लक्षणा द्वारा 'बन्दूकें' का अर्थ 'बदूकवाले आदमी' करना पड़ता है। 'बदूक वाले' के स्थान पर 'बदूक' का प्रयोग उनकी भी बन्दूको के समान हत्या-प्रवणता को सूचित करने के प्रयोजन से किया गया है, अतः यह लक्षणा प्रयोजनवती है। बदूको और बदूकवालो में सादृश्य सबध नहीं है, किन्तु सयोग सबध है, अतः यह शुद्धा है और 'जाने' मे बदूके भी साथ हैं—इसलिये यह अजहत्स्वार्था है।

७ **प्रयोजनवती शुद्धा सारोपा**—जैसे 'सुख सज्जन को सग'। यहॉं 'सुख' आत्मा का धर्म है—आत्मा में रहनेवाली चीज है, और यहॉ सज्जन के और हमारे मिलने को सुखरूप बताया गया, अतः मुख्य अर्थ बाधित है। इसलिये 'सुख' शब्द को 'सुखकारी' अर्थ में लक्षणा है। 'सुखकारी' को 'सुख' कहना अन्य सुखकारी वस्तुओ से इसका विलक्षणता बताने के लिये है, अतः यह प्रयोजनवती है। सुख और सज्जन-सग में सादृश्य से भिन्न 'पैदा होने' और 'पैदा करने' रूपी (प्रयोज्य-

प्रयोजक भाव) सबंध होने के कारण शुद्धा है और विषय 'सज्जन संग' और विषयी 'सुख' के अलग अलग लिखे रहने के कारण सारोपा है।

८ **प्रयोजनवती शुद्धा साध्यवसाना**—जैसे 'जनलोचन-आनँद बसत ब्रज-वीथिन के बीच'। यहाँ भी भगवान् कृष्ण जनता के नेत्रों के आनंदकारी हैं, न कि आनंद, इसलिये लक्षणा है। प्रयोजन और संबंध वही उपर्युक्त हैं, अतः प्रयोजनवती और शुद्धा है। यहाँ केवल विषयी (आनंद) ही लिखा है और विषय (भगवान् कृष्ण) नहीं, अतः साध्यवसाना है।

लक्षणा के भेदों का उपयोग

इनमें से निरूढा लक्षणा व्यंग्य रहित होती है, अतः साहित्यशास्त्र में उसका कोई चमत्कारी उपयोग नहीं होता, अतएव उसके आधार पर न कोई ध्वनि है, न अलंकार। प्रयोजनवती के भेदों में से गौणी सारोपा का रूपक अलंकार में, गौणी साध्यवसाना का रूपकातिशयोक्ति में और शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यसाना का दोनों प्रकार के हेतु-अलंकार में उपयोग होता है। रहे दो भेद, उनमें से शुद्धा जहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अत्यंत तिरस्कृत वाच्य' नामक ध्वनि और शुद्धा अजहत्स्वार्था को मूल मानकर 'अर्थांतर-संक्रमित वाच्य' नामक ध्वनि ये दो भेद होते हैं।

अन्य भेद

पहले लिखा जा चुका है कि—प्रयोजनवती में जो प्रयोजन होता है वह 'व्यंग्य' रूप होता है। यह व्यंग्य दो प्रकार का होता है—एक स्पष्ट, दूसरा अस्पष्ट अथवा गूढ। तदनुसार काव्यप्रकाश के मत में प्रयोजनवती के पूर्वोक्त छः भेदों में से प्रत्येक भेद 'अगूढ व्यंग्य' और 'गूढ व्यंग्य' इन नामों से दो-दो प्रकार के हो जाते हैं।

इस तरह काव्यप्रकाश के हिसाव से दो निरूटा के और बारह प्रयोजनवती के यों लक्षणा के सब मिलाकर १४ भेद होते हैं।

साहित्यदर्पण के भेदों पर विचार

आजकल साहित्यदर्पण का अधिक प्रचार है और केवल हिंदी जाननेवालो मे तो अधिकाश लोग सस्कृत ग्रथो मे से उसे ही पहचानते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो उसमे साहित्यशास्त्रीय यावन्मात्र विषयो का जैसा सग्रह है वैसा अन्यत्र नहीं है और दूसरे वह है भी अन्य ग्रथो की अपेक्षा सरल। अतः यदि उसमे लिखे भेदो पर विचार न किया जायगा तो, मै समझता हूँ, यह लेख अधूरा ही रह जायगा। इसलिये आइए जरा उसके भेद-प्रपच पर भी विचार कर ले।

साहित्यदर्पणकार ने जैसे प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद माने हैं वैसे ही चार-चार भेद निरूढा गौणी, निरूढा शुद्धा तथा प्रयोजनवती गौणी के भी मान लिए हैं। इस तरह चारो भेदों में से प्रत्येक के चार-चार अवातर भेद हो जाने के कारण आठ निरूढा के और आठ प्रयो-जनवती के यो लक्षणा के प्रथमत. सोलह भेद हुए। बाद मे निरूढा के भेद तो उनसे आगे बढ नहीं पाए, पर वेचारी प्रयोजनवती को उन्होंने और भी धर घसीटा। उसके आठ भेदो मे से प्रत्येक को काव्यप्रकाश के अनुसार, अगूढव्यग्य और गूढव्यग्य रूप में विभक्त करके आठ के सोलह भेद तो किए सो किए ही, पर उनमे से एक एक को धर्मगत और धर्मिगत इस तरह दो-दो रूप में और मानकर प्रयो-जनवती के कुल ३२ भेद कर डाले।

अब निरूढा के आठ और प्रयोजनवती के ३२ इस तरह लक्षणा के जो ४० भेद हुए उन्हें प्रत्येक को पदगत (पद में रहनेवाला) और वाक्यगत (वाक्य में रहनेवाला) इस तरह दो-दो भेदो में बाँटकर लक्षणा के कुल ८० भेद बना दिए।

यह भेदो का आडबर अनुपयोगी है। यदि इसका फल है तो केवल यही कि विद्यार्थियो की कठिनता बढ गई है, इससे अधिक कुछ नहीं, क्योकि विचार करने पर इनमें से कुछ भेद तो बन ही नहीं सकते और शेष चमत्कारहीन एव निस्सार हैं।

देखिए, सबसे प्रथम तो जो निरूढा लक्षणा के आठ भेद लिखे गए हैं सो सर्वथा व्यर्थ विस्तार है। कारण, निरूढा लक्षणा में कोई व्यग्य अथवा प्रयोजन तो होता नहीं—वह तो रूढि-मूलक होती है। प्राचीनो ने तो उसके शुद्धा और गौणी दो भेद भी नहीं किए, क्योकि रूढ लक्षणावाले शब्द चाहे सादृश्य-सबध के कारण प्रचलित हुए हों, चाहे अन्य किसी सबध के कारण, उनका प्रयोग करने में वक्ता को कोई स्वतत्रता नही—वैसे शब्दो का निर्माण तो जनता के वाक्यप्रवाह के वश में है। अतएव तो अभिधावृत्तिमातृका तथा काव्य-प्रकाश में कुमारिल भट्ट का यह श्लोक उद्धृत किया गया है कि—

> "निरूढा लक्षणा. काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।
> क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित॰॥

अर्थात् कुछ लक्षणाएँ अभिधा की तरह (प्रसिद्धिरूपी) सामर्थ्य के कारण निरूढ हो गई हैं—उनमे रद्दोबदल करने का किसी को कोई अधिकार नहीं। हाँ, कुछ लक्षणाएँ अब भी (प्रयोजनवशात्) बनाई जाती हैं और कुछ अशक्ति (प्रयोजन अथवा रूढि के अभाव) से नहीं। साराश यह कि निरूढ लक्षणा का निर्माण वक्ता के वश मे नहीं। वे तो भाषा के प्रवाह के साथ बनी हुई हैं। हाँ, प्रयोजनवती के विषय में यह बात नहीं है।"

ऐसी दशा में इस निष्प्रयोजन प्रपच में पडना बेचारे छात्रों के क्लेश को बढा देने के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं रखता। यद्यपि उपर्युक्त पद्य में बनाई रीति के अनुसार निरूढलक्षणामूलक शब्दो के

सकेतित शब्दो के समान होने के कारण उनके मूल सबध को खोजना भी चमत्कार की दृष्टि से अत्यावश्यक नही है, तथापि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यदि कोई जानना चाहे तो इसके लिये लक्षणरूप सबध सादृश्यरूप है अथवा अन्य सबधरूप इतना जान लेना पर्याप्त है और इसी लिये मध्यवर्ती आचार्यों ने निरूढा के गौणी और शुद्धा दो भेद मान लिए हैं, किंतु उनमे जहत्स्वार्था आदि भेदो की कल्पना तो सर्वथा अनपेक्षित ही है। जब कि 'कुशल' आदि शब्दो का आजकल रूढि के कारण मुख्य अर्थों में भी लोग प्रयोग नहीं करते तब उनके ऐसे भेदो का काव्य-आदि मे क्या फल हो सकता है ? इसलिये निरूढा लक्षणा दो प्रकार की है—यही मानना उचित और सुबोध है और अधिक भेदों की कल्पना अन्याय्य ही है।

यह तो हुई निरूढा के भेदों की बात। अब प्रयोजनवती के भेदो पर विचार करिए। उसमें जो गौणा के भी जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये भेद मान लिए गए हैं वे असम्भव हैं, क्योकि गौणी लक्षणा सर्वदा जहत्स्वार्था ही होती है, अजहत्स्वार्था नहीं। इसका कारण यह है कि अजहत्स्वार्था तभी हो सकती है जब मुख्य अर्थ भी साथ मे रहे, पर भला, आप ही सोचिए मुख्य अर्थ का मुख्य अर्थ से सादृश्य कैसा ? क्योकि सादृश्य भिन्न वस्तु के साथ ही होता है, अपने-आपके साथ नहीं। अतः गौणी के जो प्राचीनो ने सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद माने हैं वे ही ठीक हैं, और वे हमेशा जहत्स्वार्था में ही होते हैं*।

---

* तदेतत् स्पष्टीकृत "शुद्धैव सा द्विधा (काव्यप्रकाश २।१०)" इति प्रतीकं विवृण्वता काव्यप्रदीपकारेण—

"ननु शुद्धैवेत्यनुपपन्नम्। गौण्या अपि तथात्वसंभवात्। तथा हि—'गौर्वाहीक' इत्यादौ लक्षणलक्षणा तावत् स्फुटैव। उपादानलक्षणा

ऐसी दशा मे गौणी के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था ये दो भेद अशुद्ध ही हैं, क्योंकि वह अजहत्स्वार्था हो ही नहीं सकती। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्राचीनों की परिपाटी के अनुसार उसके छः भेद ही उचित हैं, न कि साहित्यदर्पण के अनुसार आठ भेद।

अब व्यंग्य के गूढ और स्पष्ट होने मे जो चमत्कार की न्यूनाधिकता होती है (क्योंकि गूढ व्यंग्य कुछ लोगों की ही समझ में आ सकता है और अगूढ सबके) उसके अनुसार छः प्रकार की प्रयोजनवती के प्रत्येक भेद के दो-दो प्रकार के होने के कारण काव्यप्रकाश मे बताई हुई रीति से गौण के बारह भेद अलबत्ता हो सकते हैं, किंतु धर्मधर्मिगतता और पदवाक्यगतता के कारण और भी अधिक भेदों की कल्पना एक तो चमत्कारशून्य है, दूसरे, लक्षणा वास्तव अर्थ का सबंध है, न कि शब्द का, अतः वह साक्षात् पदगत अथवा वाक्यगत हो भी नहीं सकती, और तीसरे यदि ऐसे चमत्कारशून्य भेद माने जायँ तो इसी तरह जातिगत, गुणगत, क्रियागत और द्रव्यगत आदि अन्य भी अनेक भेदों की कल्पना की जा सकती है इसलिये ऐसे भेदों की कल्पना छात्रों

तु गोबाहीकोभयविषये 'गाव एते समानीयन्ताम्' इत्यादाविति चेत्। नैवम्। अत्रोपचारबीजं सम्बन्ध सादृश्यमन्यो वा? आद्ये शक्यसादृश्यस्य शक्यावृत्तितया कथ शक्यस्यापि लक्ष्यता? येनोपादानलक्षणा (अजहत्स्वार्था) स्यात् (अयं भाव:—अजहत्स्वार्थाया हि शक्यरूपस्य स्वार्थस्यात्याग आवश्यक, अन्यथा अजहत्स्वार्थात्वमेव न स्यात्। स च सादृश्यस्य लक्षणामूलत्वे (प्राचीनमतेनैतत्, नव्यमते सादृश्यस्यैव लक्षणात्वात्) न सभवति, स्वार्थस्यात्यागे सादृश्यस्यासभवात्। न हि स्वेन स्वस्य सादृश्य क्वचिद् दृश्यते। तेन सादृश्ये अजहत्स्वार्थात्व न सभवत्येव)। अन्त्ये (= सादृश्येतरसबंधसत्त्वे) कथ गौणी, सादृश्यसम्बन्धप्रयुक्तलक्षणाया एव गौणीत्वात्।" इति।

के क्लेश बढाने के अतिरिक्त अन्य किसी विशेष फल को देने मे असमर्थ है—इस बात को विद्वान् लोग खूब सोचकर समझ सकते हैं, इसलिये इस विषय का अधिक विस्तार न करना ही उचित है।

इस तरह अन्ततो गत्वा यह सिद्ध हुआ कि—लक्षणा के यदि अधिक से अधिक भेद हो सकते हैं तो चौदह, जिनमे से दो निरुढा के और बारह प्रयोजनवती के। और यदि गूढ व्यग्य और अगूढ व्यग्य के कारण भेद न माने जायँ तो अधिक से अधिक दो प्रकार की निरूढा लक्षणा और छः प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा होती है, जैसी कि प्रकृत पुस्तक मे लिखी गई हैं।

लक्ष्य अर्थ और लाक्षणिक शब्द

लक्षणा वृत्ति द्वारा प्रतिपादित होनेवाले अर्थ को लक्ष्य, औपचारिक, लाक्षणिक, अमुख्य आदि शब्दो से कहा जाता है। इसी तरह लक्षणा द्वारा किसी अर्थ के प्रतिपादक शब्द को लक्षक अथवा लाक्षणिक कहा जाता है।

व्यंजना

उक्त दोनो वृत्तियो (अभिधा और व्यजना) के अतिरिक्त, शब्द मे, एक अन्य वृत्ति भी रहती है। उदाहरणार्थ 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य को लीजिए। इस वाक्य को यदि मजदूर मालिक से कहता है तो वह समझता है 'छुट्टी का समय हो गया', यदि ऋषिकुल अथवा गुरुकुल का अध्यापक ब्रह्मचारियो से कहता है तो वे समझते हैं 'साय सन्ध्यावदन आरभ करो', यदि दूकानदार अपने नौकर से कहता है तो वह समझता है 'चीजे समेटो' इत्यादि। भला यह तो बताइए—इस वाक्य के ये अर्थ किस कोश मे लिखे हैं? और यदि कही नहीं लिखे हैं तो इस वाक्य के द्वारा ये और ऐसे

ही अन्य अर्थ समझे कैसे जाते हैं ? आप यह तो कह नहीं सकते कि ये अर्थ इस वाक्य के द्वारा समझ में ही नहीं आते। अतः मानना पडेगा कि इन अर्थों को समझाने की शक्ति भी इस वाक्य मे अवश्यमेव है। पर इस शक्ति को 'अभिधा' तो कह नहीं सकते, क्योंकि ये अर्थ इस वाक्य के सीधे अर्थ नहीं हैं—सीधा अर्थ तो है 'एक तेज का पुंज क्षितिज के नीचे चला गया—अथवा आँखों से ओझल हो गया'। बस अभिधा तो यहीं खतम हो जाती है। वह इससे अधिक कोई अर्थ नहीं समझा सकती।

अब यदि आप इन अर्थों का लक्षणा द्वारा ज्ञात समझे तो यह भी नही बन सकता, क्योंकि लक्षणा तभी हो सकती है, जब कि मुख्य अर्थ का बाध हो—अर्थात् सीधा अर्थ करने पर या तो उस अर्थ का वाक्य के अन्य अर्थों के साथ अन्वय न हो सके अथवा उस अर्थ से वक्ता का तात्पर्य पूर्णतया न समझा जा सके। सो यहाँ है नही, क्योंकि यहाँ ऐसा कोइ शब्द नही, जिसमे कोई ऐसी गड़बड हो। अतः आपको उक्त वाक्य से उक्त अर्थों को समझानेवाली भी एक शक्ति अवश्य माननी पडेगी। बस, इसी शक्ति को कहते हैं 'व्यजना'। साराश यह कि जब अन्य शक्तियाँ (अभिधा और लक्षणा) काम नहीं करती, तब जिस शक्ति से अर्थ का बोध होता है, उस शक्ति का नाम व्यंजना है। अतएव साहित्य- दर्पणकार ने इसका लक्षण लिखा है—

विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो लक्ष्यते पर ।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।।

अर्थात् अभिधा आदि शक्तियो के निवृत्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध होता हैं उस वृत्ति को व्यजना कहते हैं और वह न केवल शब्द मे ही रहती है, किंतु अर्थ आदि में भी रहती है।

नागेश भट्ट और अप्पयदीक्षित ने व्यजना का लक्षण नैयायिको की प्रक्रिया के अनुसार यों बनाया है—"किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध अर्थ

के विषय में उम ज्ञान के उत्पन्न करानेवाली वृत्ति का नाम व्यंजना है जो ज्ञान मुख्य अर्थ मे संबंध रखनेवाले और संबंध न रखनेवाले दोनों को समान रूप मे समझा सके और जिसमें मुख्य अर्थ का बाधित होना आदि निमित्त न हो।” इमका साराश यह हुआ कि—अभिधा केवल प्रसिद्ध (संकेतित) अर्थों को ही समझा सकती है, अप्रसिद्ध अर्थों को नहीं, और लक्षणा मुख्य अर्थ से संबद्ध अर्थ को ही समझा सकती है और सो भी मुख्य अर्थ के बाधित होने पर ही, किंतु व्यंजना के लिये ऐसी किसी भी शर्त की आवश्यकता नहीं है, वह तो सर्वत्र अप्रतिहत रूप से चलती है। अतएव 'सूर्य अस्त हो गया' के उपर्युक्त अर्थ करने में न तो व्याकरण और कोश मे उन अर्थों के लिखे रहने की ही आवश्यकता पडती है और न मुख्य अर्थ में रुकावट पडने की ही।

व्यंजना के सहकारी

पर इसका अर्थ यह न समझिए कि व्यंजना में कोई निमित्त ही नहीं और वहाँ तो जो चाहे सो जैसा चाहे वैसा अडंगा लगा सकता है। आचार्य मम्मट ने शब्दव्यापारविचार मे लिखा है—“व्यंजक शब्द, व्यंग्य अर्थ के प्रकाशित करने में, प्रतिभा की निर्मलता, चतुर लोगो के परिचय और प्रकरण आदि के ज्ञान की अपेक्षा रखता है—बिना इनके व्यंग्य अर्थ को यथार्थतया समझना अशक्य है।” नागेश ने भी मंजूषा में लिखा है—“व्यंजना से अर्थ का बोध उत्पन्न करने में वक्ता, श्रोता और वाच्य अर्थ की विशिष्टता का ज्ञान और प्रतिभा सहकारी हैं अथवा यों कहिए कि वैसे ज्ञान की उत्पत्ति में परंपरया कारण हैं।”

अतः यह सिद्ध हुआ कि इन सहकारियो के अभाव में कोई भी व्यक्ति व्यंग्य अर्थ को नहीं समझ सकता।

क्या व्यजना अनुमान है ?

यह भ्रम भी नहीं करना चाहिए कि—व्यजना और अनुमान एक ही वस्तु है—अर्थात् 'सूर्य अस्त हो गया' इत्यादि वाक्यों के द्वारा उन-उन अर्थों का अनुमान कर लिया जाता है। कारण, अनुमान मे हेतु का निर्दोष होना आवश्यक ही नहीं किंतु अनिवार्य है, क्योंकि यदि हेतु दूषित हुआ तो सारा अनुमान दूषित हो जायगा। पर व्यजना में यह बात नहीं होती, वहाँ हेतु दूषित हो अथवा अशुद्ध, व्यग्य अर्थ अवश्यमेव प्रतीत हो जाता है। इसी तरह कुछ अन्य बाते भी हैं जिनके कारण व्यंजना को अनुमान नहीं कहा जा सकता। पर उन सब बातों को हम यहाँ प्रपंचित करना उचित नहीं समझते।

व्यंजना अर्थ में भी रहती है

व्यजना वृत्ति अभिधा अथवा लक्षणा की तरह केवल शब्द से ही सबंध नहीं रखती, किंतु निरे अर्थ से भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। साराश यह कि—व्यंग्य अर्थ की प्रतीति जिस तरह किसी विशेष शब्द के प्रयोग के कारण होती है उसी तरह वाच्य और लक्ष्य अर्थों के एव चेष्टा आदि के द्वारा भी हो जाती है।

व्यंजक

व्यजना द्वारा अर्थ का प्रतिपादक शब्द अथवा अर्थ व्यजक कहलाता है। व्यजक शब्द को ध्वनि-शब्द भी कहते हैं।

व्यंग्य अथवा ध्वनि

व्यंजना द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ को व्यंग्य अथवा ध्वनि कहतें हैं।

व्यंग्यो के भेद

यह नियम है कि—जब अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा शब्द अपना अर्थ उपस्थित कर चुकते हैं, उसके बाद ही व्यग्य अर्थ की प्रतीति होती है। बिना अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा शब्द का कोई अर्थ ज्ञात हुए, प्रथमतः ही, किसी शब्द से व्यग्य अर्थ प्रकाशित नही हो सकता। अतः व्यंग्य अर्थ सबसे प्रथम दो विभागो में विभक्त किए जाते हैं—एक वे जो अभिधा से शब्द का अर्थ प्रतिपादन किए जाने के बाद प्रतीत होते है, दूसरे वे जो लक्षणा से अर्थबोध हो चुकने के बाद। इनमें से पहले व्यंग्यो को अभिधामूलक और दूसरे व्यग्यों को लक्षणामूलक कहते हैं। इन्हीं को काव्यप्रकाशकार आदि, क्रमशः, 'विवक्षितान्यपरवाच्य' और 'अविवक्षितावाच्य' भी कहते हैं।

पहले लिखा जा चुका है कि—प्रथमानन मे उक्त पॉच व्यग्यों मे से तीन—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि—अभिधामूलक हैं और दो—अर्थातरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य लक्षणामूलक।

अभिधामूलक व्यग्यो से रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यग्य और वस्तुध्वनि तथा अलकारध्वनि को सलक्ष्यक्रमव्यग्य कहा जाता है। उनमें से असलक्ष्यक्रम व्यग्य को ध्वनिकार तथा उनके अनुयायी काव्य-प्रकाशकार आदि ने, इसके व्यजको के—प्रबन्ध (पूरा ग्रंथ), वाच्य, पद, पद का एक भाग (प्रत्यय आदि), वर्ण और रचना—इस तरह छः भेद होने के कारण, छः प्रकार का माना है। इन सबका वर्णन प्रथमानन के अत में किया जा चुका है। वहाँ यह बात भी बताई जा चुकी है कि—वर्ण तथा रचना को रसव्यजक मानना उचित नहीं, वे गुणों के व्यंजक हैं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—काव्य-प्रकाशकार आदि के मतानुसार असलक्ष्यक्रमव्यग्य के प्रबधगत, पदगत,

पदैकदेशगत, वर्णगत और रचनागत—इस तरह छ: भेद हैं और रसगंगाधरकार के मतानुसार यद्यपि वर्णगत और रचनागत इन दो भेदो के छोड देने से चार ही भेद होते हैं, तथापि उन्होने राग आदि को (आदि शब्द से यहाँ छंद लिया जाना उचित है) भी रस-व्यंजक माना है, अतः उनके मत से भी छः ही भेद हो जाते हैं। स्पष्टता के लिये हम दोनो पक्षो के छहो भेद नीचे लिख देते हैं—

असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य
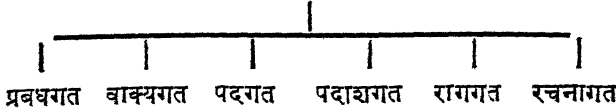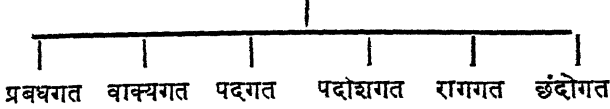
इस तरह दोनो मतो के अनुसार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य छः प्रकार के होते हैं, जिनका वर्णन प्रथम आनन के अन्त में किया जा चुका है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेद

इस आनन के आरंभ में संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के भेदों पर ही विचार किया गया है। आइए, हम भी जरा उन भेदो को स्पष्ट कर लें। यह तो पहले लिखा जा चुका है कि—प्रथम वाच्य अर्थ की प्रतीति होने के अनंतर ही व्यंग्य अर्थ प्रतीत होता है। वह व्यंग्य अर्थ दो प्रकार का ही हो सकता है—या तो वस्तुरूप अर्थात् साधारण अथवा अलंकाररूप अर्थात् विचित्रता लिए हुए। ये अर्थ कहीं शब्द

के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं और कहीं अर्थ के सामर्थ्य से। जहाँ शब्द के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं वहाँ ये व्यग्य शब्द-शक्तिमूलक कहलाते हैं और जहाँ अर्थ के सामर्थ्य से प्रतीत होते हैं वहाँ अर्थशक्तिमूलक। इस तरह प्रथमतः सलक्ष्यक्रमव्यग्य के ये ही दो भेद होते हैं। उनमे से शब्दशक्तिमूलक व्यग्य के तो उक्तरीत्या केवल दो ही भेद हैं—वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि। पर अर्थशक्तिमूलक आठ प्रकार का होता है। इसका कारण यह है कि—प्रथम तो, जैसा कि लिखा जा चुका है, प्रत्येक अर्थ वस्तुरूप अथवा अलकाररूप दो प्रकार का होता ही है, पर काव्यो में उनमे से प्रत्येक फिर दो तरह का देखा जाता है—एक स्वाभाविक अर्थात् प्रकृति-सिद्ध और दूसरा कवि के द्वारा कल्पित। स्वाभाविक अर्थ को साहित्य-शास्त्रवाले 'स्वतःसभवी' कहते हैं और कविकल्पित को 'प्रौढोक्तिसिद्ध'। अब आपने समझ लिया होगा कि अर्थशक्तिमूलक व्यग्य जिन अर्थों के बल पर अभिव्यक्त होते हैं वे चार प्रकार के हुए—स्वत.सभवी वस्तु, स्वत.सभवी अलकार, कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु और कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलकार। ये चार प्रकार के व्यजक अर्थ जब कभी किसी अर्थ को अभिव्यक्त करेगे तो वह अर्थ भी या तो वस्तुरूप होगा या अलकार-रूप। इस तरह अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम व्यग्य के कुल आठ भेद होते हैं, जैसे कि द्वितीय आनन के आरभ में दिखाए गए हैं। उन नामों को दुहराकर हम भूमिका का व्यर्थ विस्तार नही करना चाहते।

किंतु काव्यप्रकाशकार ने प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ को दो प्रकार का माना है—कवि के द्वारा कल्पित और कवि के ग्रथ मे लिखे वक्ता के द्वारा कल्पित। कवि के द्वारा कल्पित को 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं और कवि के लिखे वक्ता द्वारा कल्पित को 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं। यह जो अतिम भेद उन्होने माना है उसके अर्थ भी वही दो प्रकार के होंगे—वस्तुरूप और अलंकाररूप और उनमें से प्रत्येक

उन्हीं दो अर्थों को अभिव्यक्त भी करेगा, अत. इन चार भेदो के और बढ जाने के कारण काव्यप्रकाशकार के अनुसार अर्थशक्तिमूलक व्यंग्य के बारह भेद होते हैं।

इनके अतिरिक्त काव्यो में कहीं-कहीं कोई ऐसे भेद भी दिखाई देते हैं, जिनमे एक व्यग्य को अभिव्यक्त करने में कुछ शब्दो का सामर्थ्य और कुछ अर्थ का सामर्थ्य दोनो मिलकर काम करते हैं। ऐसे व्यग्य को 'शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ' कहते हैं।

इस तरह सलक्ष्यक्रम व्यग्य के मोटे तौर पर तीन भेद हुए— शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक। उनमें से प्रथम के दो, द्वितीय के (काव्यप्रकाश के मत से) बारह और तृतीय का केवल एक भेद है।

पर साहित्य-शास्त्र के विधाता इतने मोटे भेद ही इनके करके छोड़ देते यह कैसे हो सकता था? उनके विमर्शानुसार शब्दशक्तिमूलक के उक्त दो भेदों मे से प्रत्येक भेद पदगत और वाक्यगत इस तरह दो दो प्रकार का होता है—अतः उसके कुल चार भेद होते हैं। अर्थशक्तिमूलक के बारह भेदो मे से प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत और प्रबधगत—इस तरह तीन तीन भेद होते हैं, अतः उसके कुल ३६ भेद होते हैं। हाँ, उभयशक्तिमूलक केवल वाक्यगत ही हो सकता है, अतः उसका एक ही भेद होता है।

रहे लक्षणामूलक दोनो व्यग्य। सो वे दोनो भी प्रत्येक पदगत और वाक्यगत इस तरह दो प्रकार के होते हैं, अतः चार भेद ये हुए।

इस तरह अभिधामूलक के (४ + ३६ + १ = ४१) कुल ४१ भेद हुए और लक्षणामूलक के ४। सो सलक्ष्यक्रम व्यंग्यों के कुल ४५

भेद हुए। इनमें यदि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यों के उक्त ६ भेद और मिला दिये जायँ तो व्यंग्यो के समग्र शुद्ध (अमिश्रित) भेद ५१ होते हैं।

रसगंगाधर का मत

पर रसगगाधरकार इतने भेद नहीं मानना चाहते। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, वे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थों को पृथक् नहीं मानते, अतः उनके मत से अर्थशक्तिमूलक व्यंग्यो के ३६ भेदों में से १२ भेद तो यों कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे सलक्ष्यक्रम व्यंग्यों को पूरे प्रबध से अभिव्यक्त होनेवाले भी नहीं मानते, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उनने प्रबधगत भेदो के उदाहरण नहीं दिये हैं। इसका कारण सभवतः यह प्रतीत होता है कि पूरे ग्रंथ से तो कोई वस्तु अथवा अलकार मात्र ही प्रतीत हो—यह संभव नहीं, और जैसे वाक्य-समूहों को काव्यप्रकाशकारादि ने प्रबधगतता के उदाहरणो मे दिया है, वे एक प्रकार से वक्ता के समग्र अभिप्राय के प्रकाशक वक्तृत्व (Speech) के रूप में एकार्थप्रतिपादक होने के कारण परस्पर सापेक्ष अवातर वाक्यो से निर्मित एक वाक्य ही होते हैं। इसलिये कदाचित् उन्होने उनको प्रबधगतता जैसा महान् नाम देना उचित न समझा हो और वाक्यगत भेदो में ही उनका भी समावेश कर लिया हो, क्योकि ऐसे एक क्रियावाले अनेक वाक्य तो कई ऐसे एक-एक श्लोको में भी मिल सकते हैं जो वस्तु से वस्तु को अथवा अलकार को अभिव्यक्त करते हैं। यदि ऐसा माना जाय तो रसगगाधरकार के हिसाब से अर्थ शक्तिमूलक व्यंग्यो के पदगत और वाक्यगत ये दो ही भेद होते हैं सो आठ भेद और भी कम हुए। इस तरह सब मिलाकर बीस भेद तो सलक्ष्यक्रमव्यंग्यों में कम हो जाते हैं।

इधर असलक्ष्यक्रमव्यंग्यों में भी वे वर्णगत और रचनागत भेद नहीं मानना चाहते—यह लिखा ही जा चुका है। अब यदि नए

बढाये हुए रागगत और छदोगत भेदो को न सम्मिलित किया जाय तो व्यग्यो के उक्त शुद्ध भेदो मे से ११ भेद कम हो जाने के कारण पडितराज के मतानुसार केवल २६ ही भेद रह जाते हैं और यदि उन्हें भी सम्मिलित किया जाय तो ३१ भेद होते हैं।

मिश्रित भेद

यह तो हुई शुद्ध भेदो की बात। पर काव्यप्रकाश में इन भेदों का एक दूसरे से मिश्रण चार प्रकार का माना गया है—सदेहसकर, अगागिभाव सकर, एकव्यजकानुप्रवेशरूप सकर, ये तीन प्रकार के सकर और एक प्रकार की ससृष्टि। तदनुसार एक एक भेद के ५१ भेदों को चौगुने करने पर (५१ × ५१ × ४ =) १०४०४ मिश्रित भेद होते हैं।

पडितराज के हिसाब से उक्तरीत्या मिश्रित भेद (२६ × २६ × ४=) ३३६४ अथवा (३१ × ३१ × ४ =) ३८४४ ही होते हैं।

समग्र भेद

यदि इन मिश्रित भेदो मे शुद्ध भेद जोड दिये जायँ तो प्राचीनों के हिसाब से (१०४०४ + ५१ =) १०४५५ और पडित-राज के हिसाब से (३३६४ + २६=) ३३६३ अथवा (३८४४+३१) ३८७५ व्यग्यों के समग्र भेद होते हैं।

मिश्रित व्यग्यो के विषय में साहित्यदर्पण का मतभेद

साहित्यदर्पणकार और उनके पूर्वज चडीदास, जो काव्य-प्रकाश के एक टीकाकार हैं, मिश्रित भेदो की उक्त सख्या मानने में विप्रति-पत्ति करते हैं। उनका कहना है कि—एक तो अपना अपने साथ कोई मिश्रण नहीं हो सकता, दूसरे जब एक भेद का सकर दूसरे के

साथ लिख दिया गया है तब दूसरे के साथ उस भेद का सकर भी वही चीज हुई—अर्थात् जैसे जब अत्यंततिरस्कृत वाच्य का अर्थांतरसक्रमित-वाच्य के साथ मिश्रण लिखा जा चुका है तो फिर अर्थांतरसक्रमित-वाच्य का अत्यंततिरस्कृत वाच्य के साथ मिश्रण कोई अतिरिक्त भेद नहीं रह जाता, अतः ऐसे सब भेदो की गिनती नही करनी चाहिए। सो उनके मत से कुल मिश्रित भेद ५३०४ ही होते हैं।

किंतु काव्यप्रदीपकार ने इस मत का खडन किया है। वे कहते हैं—एक ही ध्वनि यदि भिन्न-भिन्न रूपो में आवें—जैसे कि कहीं दो प्रकार की वस्तुध्वनि हो—तो उनके सकर एव ससृष्टि मानने में कोई बाधा नहीं, अतः अपना अपने साथ मिश्रण नहीं हो सकता यह कथन निरर्थक है। सो एक बात तो गई। दूसरी बात जो साहित्यदर्पण-कार कहते हैं कि जब अत्यततिरस्कृतवाच्य का अर्थांतर सक्रमित-वाच्य के साथ मिश्रण को अत्यततिरस्कृतवाच्य के भेदो मे लिख दिए जाने पर अर्थांतरसंक्रमितवाच्य के भेदो मे वैसे भेद के लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, सो भी ठीक नहीं। कारण, जैसे सभी ईख के रस साधारण दृष्टि से एक रूप होने पर भी रसज्ञो की दृष्टि में पौडे आदि विशिष्ट ईख के रस और साधारण ईख के रस के स्वाद मे भेद होता ही है। ऐसी दशा मे जैसे जहाँ पौडे के रस की अधिकता और अन्य रस की न्यूनता होगी उसे, और जहाँ अन्य रस की अधिकता और पौंडे के रस की न्यूनता होगी उसे—इन दोनो मिश्रणों को—एकरूप नहीं कहा जा सकता, वैसे ही जहाँ जिस व्यग्य की प्रधानता होगी वहाँ उस व्यग्य के साथ अन्य व्यंग्य का मिश्रण माना जायगा और अन्यत्र अन्य। अतः आपकी यह उपपत्ति भी सुविमृष्ट नहीं है। अब यदि आप कहें कि जहाँ दोनों भेद समान मात्रा मे मिश्रित होंगे—किसी एक की प्रधानता न होगी—वहाँ एक भेद आपको और

मानना पडेगा। तो यह कोई बात नहीं। क्योंकि उसका दोनो नामों में से किसी भी नाम से व्यवहार किया जा सकता है—अर्थात् उस भेद को किसी के साथ भी किसी का मिश्रण कह देने मे कोई हानि नहीं। फिर उसका तीसरा नाम रखने की क्या आवश्यकता है? अतः साहित्यदर्पण के भेदो की अपेक्षा उपयुक्त भेद मानना ही उचित प्रतीत होता है।

एक शका और उसका उत्तर

भेदो के विषय मे यह शका की जा सकती है कि—जब आप लक्षणा के पदगत, वाक्यगत आदि भेद मानने को तैयार नहीं हैं तो व्यग्यो के ये भेद क्यो मानते हैं? इसका उत्तर यह है कि—व्यग्य यदि किसी पद अथवा पद के एक भाग में भी आता है तब भी वह अपने चमत्कार के कारण सारे पद्य को सुशोभित कर देता है। अतएव तो ध्वनिकार ने लिखा है कि—

> विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
> पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥

अर्थात् चमत्कार के कारण सुशोभित होने वाले आभूषण के द्वारा (जो कि केवल एक अग में रहता है) जैसे कामिनी सुशोभित होती है, वैसे ही पद से ध्वनित होने वाले व्यग्य से सुकवि की वाणी सुशोभित होती है। अतः जैसे स्थानों के अनुसार भूषणो का विभाग होता है (यथा कान का आभूषण, हाथ का आभूषण आदि) वैसे ही व्यंग्यो का विभाग भी उचित है। पर लक्षणा में स्वतः कोई चमत्कार नहीं रहता—यदि रहता है तो केवल व्यग्य के द्वारा ही, अतः उसके विभाग बढाना व्यर्थ ही है।

व्यंग्यों के दो प्रकार

ये सभी व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं—एक प्रधान रूप से ध्वनित होनेवाले और दूसरे अप्रधान रूप से। प्रधान रूप से ध्वनित होनेवाले व्यंग्यो को 'ध्वनि' के नाम से पुकारा जाता है, और वह जिस काव्य में ध्वनित होता है उसे भी 'ध्वनि' अथवा उत्तमोत्तम काव्य कहा जाता है। अप्रधान रूप से ध्वनित होने वाले व्यंग्य और उसके ध्वनित करनेवाले काव्य को 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं।

गुणीभूत व्यंग्य

गुणीभूतव्यंग्यो का नाम तो इस ग्रंथ मे कई जगह आया है, पर उनका विवरण कहीं नहीं है, अतः हम पाठको के परिचय के लिये इस विषय को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। गुणीभूतव्यंग्य आठ प्रकार के होते हैं—१ अगूढव्यंग्य, २ अपरांगव्यंग्य, ३ वाच्यसिद्ध्यंग-व्यंग्य, ४ अस्फुटव्यंग्य, ५ संदिग्ध-प्राधान्यव्यंग्य, ६ तुल्यप्राधान्य-व्यंग्य, ७ काकाक्षिप्तव्यंग्य, और ८ असुंदरव्यंग्य।

अगूढव्यंग्य—जिस व्यंग्य को सहृदयो के अतिरिक्त साधारण लोग भी सहज मे समझ ले, वह व्यंग्य एक प्रकार से वाच्य अर्थ के ही समान हो जाता है। ऐसा व्यंग्य अगूढव्यंग्य कहलाता है। यह व्यंग्य प्रधान होने पर भी चमत्कारजनक नहीं होता, अतः गुणीभूत-व्यंग्यो में गिना जाता है। जैसे 'वह तो जीता ही मरा है' 'यहाँ कुछ करने योग्य नहीं है' यह व्यंग्य स्पष्ट प्रतीत होता है।

२ **अपरांगव्यंग्य**—जो व्यंग्य अन्य किसी व्यंग्य का अंग—उपकारक—हो जाता है वह अपरांगव्यंग्य कहलाता है। जैसे किसी मृतक को देखकर यह कहना कि 'यह वह पुरुष है जिसने सैकड़ो को रणांगण में सुलाया है'। यहाँ वीररस करुणा का अंग हो गया है।

३ वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य--जिस व्यग्य के बिना वाच्य अर्थ सिद्ध न हो सके वह व्यंग्य वाच्यसिद्ध्यंग कहलाता है। जैसे 'वैरिवंश दवानल' इस राज-वर्णन में जब तक वैरियों के वंश का 'बॉस' रूप होना न माना जाय (जो कि शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य है) तब तक राजा को 'दवानल' कहना नहीं बन सकता, अतः यह व्यग्य (बॉस होना) वाच्य (दवानल) की सिद्धि का अग हो गया है।

४ अस्फुट व्यग्य--जिसे सहृदय पुरुष भी कष्ट से समझ सकें वह व्यग्य अस्फुट कहलाता है। जैसे 'न तुम्हारे देखने में सुख है, न न देखने में' इस नायिका की उक्ति मे 'जैसे तुम्हारा अदर्शन न हो और वियोग का भय न रहे ऐसा करिए' यह व्यग्य।

५--सदिग्धप्राधान्य व्यग्य—जिस व्यग्य की प्रधानता सदिग्ध हो वह व्यग्य सदिग्धप्राधान्य कहलाता है। जैसे 'शिव जी पार्वतीजी के बिंबाफल-सदृश ओठों को निहारने लगे'। यहाँ 'चुंबन की इच्छा' रूपी व्यग्य प्रधान है अथवा 'निहारना' रूपी वाच्य— यह कहना कठिन है, क्योंकि व्यग्य और वाच्य दोनो ही रसा-विर्भावक हैं।

तुल्यप्राधान्य व्यंग्य—जहाँ वाच्य अर्थ भी उतना ही प्रधान हो जितना कि व्यग्य अर्थ वह व्यग्य तुल्यप्राधान्य व्यग्य कहलाता है। जैसे रावण के दिग्विजय के समय परशुराम के दूत अथवा मत्री ने रावण से कहा कि 'ब्राह्मणों का अपमान न करने मे आपका ही भला है और नहीं तो आपकी अपने मित्र परशुराम से तन जायगी (अथवा ठन जायगी)' यहाँ 'परशुराम से तन जाना' रूपी वाच्य की और 'परशुराम क्षत्रियो की तरह राक्षसों का भी क्षणभर में क्षय कर डालेंगे' इस व्यग्य की प्रधानता समान है। दोनो ही एक-से चमत्कारी हैं।

७ **काकाक्षिप्त व्यंग्य**—प्रश्न आदि के समय हम लोग जो अपना स्वर बदल देते हैं उस 'स्वर बदलने' को संस्कृत मे 'काकु' कहते हैं। जो व्यग्य इस तरह स्वर बदलने से प्रतीत होता है उसे काकाक्षित व्यंग्य कहते हैं। जैसे 'मै कुछ नहीं कर सकता'। इस वाक्य में एक तरह के स्वर से क्रोध और अन्य तरह के स्वर से बेबसी प्रकट होती है। ये दोनो व्यग्य गुणीभूत हैं।

८ **असुन्दर व्यंग्य**—जिस व्यग्य मे वाच्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार न हो उस व्यग्य को असुंदर कहते हैं। जैसे 'कुज में से पक्षियो के उडने की खडबडाहट सुन कर बहू के अग-अग मे वेदना उठ खडी हुई। यहाँ 'जिसे सकेत दिया था वह कुज मे घुसा' इस व्यग्य की अपेक्षा 'बहू के अग-अग मे वेदना उठ खडी हुई' यह वाच्य रसानुगुण होने के कारण कहीं अधिक चमत्कारी है।

शब्दशक्तिमूलक व्यग्यों का शास्त्रार्थ

इस भाग के आरभ मे शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक व्यग्यों के भेद लिखने के अनतर ही शब्दशक्तिमूलक व्यंग्यों की प्रतीति के विषय में तीन मत दिखाए हैं। वे मत शास्त्रार्थी भाषा मे होने के कारण विद्यार्थियो को कुछ कठिन पडते हैं। वे सरलता से समझ में आ जायँ इसलिये प्रथमतः हम यहाँ उनका संक्षेप सरल भाषा में लिखे देते हैं।

१—व्यग्यो के भेद लिखते समय यह लिखा जा चुका है कि—अभिधामूलक व्यग्यो के प्रथमतः दो भेद हैं—एक शब्दशक्तिमूलक, दूसरे अर्थशक्तिमूलक। इनमें से शब्दशक्तिमूलक व्यग्य वहीं होता है जहाँ अनेकार्थक शब्द हों और उनकी सहायता से अन्य अर्थ प्रकट हो। अब देखना यह है कि—अनेकार्थक शब्दो का प्रस्तुत श्लेष से भिन्न स्थानों

पर एक ही अर्थ प्रस्तुत होता है—दूसरे अर्थ का प्रकरण से कोई संबंध नहीं होता। पर ऐसी दशा में भी दूसरा अर्थ हमें प्रतीत अवश्य हो जाता है। यह कैसे होता है ?

इस विषय में प्राचीन आचार्यों का मत है कि—द्वितीय (अप्रस्तुत) अर्थ अभिधा द्वारा नहीं, किंतु व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है, और अतएव उसे व्यंग्य कहा जाना चाहिए। यद्यपि वह द्वितीय अर्थ भी हमें संकेतज्ञान के द्वारा (कोष आदि से शब्दार्थ ज्ञात होने पर) ही विदित होता है, अतः नियमानुसार उसे भी वाच्य अर्थ ही माना जाना उचित है, तथापि वे कहते हैं कि—कोष आदि के द्वारा हमे एक शब्द के अनेक अर्थ ज्ञात होने पर भी संयोगादिक (जिन्हें इस ग्रंथ में कहीं कहीं प्रकरणादिक के नाम से भी व्यवहृत किया है और जिनका पृ० ३४ से पृ० ६० तक वर्णन है) अन्य अर्थ की उपस्थिति को रोक देते हैं। अतः यहाँ अभिधा शक्ति का काम नहीं देती और वह अर्थ व्यंजना द्वारा प्रतीत होता है। व्यंजना द्वारा प्रतीत होनेवाले अर्थ में ऐसी कोई रोक-टोक अडंगा नहीं लगा सकती, क्योंकि वह मानी ही रोकटोकों के उडा देने के लिये जाती है। यह है प्रथम मत का संक्षेप।

२—द्वितीय मत में यह दिखाया गया है कि—संयोगादिको को दूसरे अर्थ का रोकनेवाला मानना अनुचित है। वे तो शब्द के अनेक अर्थों में से वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है—अर्थात् प्रस्तुत अर्थ कौन है—केवल इतना मात्र समझा देते हैं। यह बोध हो जाने पर कि—इस शब्द का यह अर्थ ही वक्ता के तात्पर्य के अनुसार है, हमे इस अर्थ का अन्वयज्ञान होता है, अन्य का नहीं। सारांश यह कि—न तो संयोगादिको के द्वारा केवल एक अर्थ का स्मरण ही होता है और न अप्रस्तुत अर्थ की रुकावट, किंतु उनके द्वारा वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है इस बात का निर्णय हो जाता है—अर्थात् अमुक शब्द के अमुक

अमुक अर्थों मे से यहाँ अमुक अर्थ ही वक्ता के अभिप्राय के अनुकूल है यह निश्चित हो जाता है। इस निश्चित अर्थ का ही हमें अन्वयज्ञान होता है और अन्य अर्थ प्रतीत होने पर भी प्रकृत भाग में अन्वित नहीं होते। ऐसी दशा मे भी जो अन्य अर्थ प्रतीत हो जाता है वह अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं माना जा सकता, क्योकि अभिधा मे तात्पर्य-निर्णय हेतु होने के कारण जिस अर्थ में वक्ता के तात्पर्य का निर्णय हो वही अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत करवाया जा सकता है, अन्य नहीं। इस अवस्था में उस अन्य अर्थ को व्यजना द्वारा प्रतीत अतएव व्यग्य माने बिना गुजारा नहीं।

३—तृतीय मत में इन दानो मतो का खडन किया गया है। वे प्रथम मत की इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि—अनेकार्थक शब्दो के अनेक अर्थों में से, प्रकरणादि के द्वारा, हमें केवल एक ही अर्थ का स्मरण होता है, अन्य का नहीं। कारण, सस्कार और उसके उद्बोधक दोनो के रहने पर स्मरण न होना असंभव है। यदि अनेकार्थक शब्द के एक ही अर्थ का स्मरण हो, अन्य का नहीं, तो 'पय सुदर है' इस वाक्य के 'पय' शब्द का अर्थ जब वक्ता के तात्पर्य के विरुद्ध कोई 'जल' कहे तो प्रकरणादि समझनेवाला यह कहता देखा जाता है कि 'महोदय, यहाँ इस शब्द का अर्थ दूध है, जल नहीं।' ऐसी दशा में यदि श्रोता को प्रकरणादि के कारण दूसरा अर्थ उपस्थित ही न होता हो तो वह उस अर्थ का निषेध कैसे कर सकता है। अतः प्रथम मत कुछ नहीं।

अब दूसरे मत को लीजिए। उसमें जो यह लिखा है कि—वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ में नहीं होता वह (अर्थात् अप्रस्तुत) अर्थ व्यजना द्वारा विदित होता है, क्योकि अभिधा द्वारा प्रतीत होनेवाला अर्थ बिना तात्पर्य-निर्णय के प्रतीत नहीं हो सकता। सो यह उचित नहीं।

इसका हेतु यह है कि 'तात्पर्यज्ञान अभिधा से उत्पन्न होनेवाले बोध में कारण है' इस नियम में कोई उपपत्ति नहीं है। तात्पर्यज्ञान का उपयोग तो केवल इस बात मे है कि—इस शब्द के द्वारा यहाँ यही अर्थ सिद्ध होता है, दूसरा अर्थ तो केवल प्रतीत होता है, वह प्रवृत्ति के योग्य नहीं है। अतः उक्त स्थलों मे दोनो (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) अर्थों को अभिधा द्वारा प्रतीत मानने मे कोई बाधा नहीं। यह तो हुई सभी अनेकार्थक स्थलो में यदि आप अन्य अर्थ की भी प्रतीति मानें तब की बात।

पर यदि आप वक्ता के तात्पर्यज्ञान अथवा श्रोता की विशेष प्रकार की बुद्धि-शक्ति को कारण मानकर यह मानें कि—अप्रस्तुत अर्थ को समझानेवाली व्यजना कहीं उल्लसित होती है और कहीं नहीं, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि तात्पर्यज्ञान को तो, जैसा कि कहा जा चुका है व्यजना का कारण माना नहीं जा सकता—वह तो केवल इतना मात्र समझा देता है कि यहाॅ इस शब्द से यह अर्थ अभीष्ट है। रही श्रोता की बुद्धि-शक्ति। सो उसे व्यजना को उल्लसित करनेवाली मानने के बजाय प्रकरणादि के ज्ञान से दबी हुई अभिधा शक्ति को उद्बुद्ध करने वाली ही क्यों न मान लिया जाय। वह किसी पद की अन्य अर्थ समझानेवाली अभिधा को उद्बुद्ध न कर व्यंजना को खडी करे—यह मानना उपपत्ति-रहित है। इस तरह दोनो मत शिथिल हो जाते हैं।

अब यदि यह माना जाय कि—जहाॅ कोई बाधा न हो वहाॅ तो दूसरे अर्थ को भले ही अभिधा द्वारा ही सिद्ध समझ लो, किंतु जहाॅ दूसरा अर्थ बीभत्स, अतएव बाधित, हो वहाॅ उस अर्थ की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती—वहाॅ तो व्यजना माननी ही पडेगी, तो यह कोई बात नहीं। क्योंकि 'बाधित होने का ज्ञान शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध को नहीं रोक सकता'—इत्यादि उपाय,

जो कि 'इहिं पुर सौधन के शिखर मिलत सूर सो जाइ' इत्यादि कल्पित अर्थों के समझने के लिये किए जाते हैं, उनसे यहाँ भी बोध हो सकता है और जैसे वहाँ बिना व्यंजना के काम चलता है वैसे यहाँ भी चल जायगा। अतः द्वितीय (अप्रस्तुत) अर्थ का बोध व्यजना द्वारा होता है यह नहीं माना जा सकता, किंतु वह अर्थ भी अभिधा द्वारा ही ज्ञात होता है—यही सिद्ध होता है। हाँ, प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों की उपमा अलबत्ता व्यजना द्वारा प्रतीत होती है।

इस तरह प्राचीनो की शिथिल होती युक्ति को सहायता देने के लिये पडितराज ने एक ऐसा स्थल भी ढूँढ निकाला है जहाँ अप्रस्तुत अर्थ बिना व्यजना के प्रतीत ही नहीं हो सकता। वह स्थल है—योगरूढ शब्दो से बने पद्य। ऐसा नियम है कि योगरूढ शब्दो से जब प्रस्तुत अर्थ प्रतीत हो चुके तब भी अप्रस्तुत यौगिक अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत नहीं हो सकता, क्योंकि रूढि के द्वारा यौगिक अर्थ हटा दिया जाता है। और न वह अर्थ लक्षणा द्वारा ही प्रतीत हो सकता है, क्योंकि जब तक मुख्य अर्थ मे बाधा न आवे तब तक लक्षणा होती नहीं। अत. उस अर्थ को व्यजना द्वारा ही अवगत हुआ मानना पडेगा,और तब अन्य अप्रस्तुत अर्थों को भी व्यजना द्वारा प्रतीत मानना ही सरल पक्ष है—यह सिद्ध हो जाता है। यह है उन सब मतों का सक्षेप।

आशा है कि इतना सक्षेप पढ लेने से वह विस्तार उतना कठिन नहीं रह जायगा। इसी लिए यह प्रयास किया गया है।

संयोगादिक और व्यंग्यों के उदाहरण

इसके आगे प्रस्तुत ग्रंथ मे संयोगादिक (जिन्हें एक शब्द के अनेक अर्थों में से, प्रकृत में, वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में है यह

समझने का हेतु माना जाता है) का वर्णन और शब्द-शक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभयशक्तिमूलक व्यंग्यों के उदाहरण दिए गए हैं, उनका विवेचन किया गया है तथा कहीं-कहीं काव्यप्रकाश में आए उदाहरणों पर भी विचार किया गया है। इनमें से व्यंग्यों के भेदों पर तो हम पहले विचार कर ही आए हैं और शेष बातों का सविस्तर वर्णन ग्रंथ में है, अतः उसे यहाँ प्रपचित करना व्यर्थ है।

रूपक का शास्त्रार्थ

शब्दशक्तियों के विषय में हम विस्तार से लिख चुके हैं। इसके आगे इस ग्रथ में 'रूपक में लक्षणा होती है अथवा नहीं'—इस विषय पर सविस्तर विचार किया गया है। वहाँ प्रथमतः गौणी सारोपा लक्षणा का शाब्दबोध दिखाते हुए प्राचीनों के तीन मतों का वर्णन करके यह सिद्ध किया गया है कि 'मुख चद्र' आदि वाक्यों में 'चद्र-सदृश' अर्थ होने पर भी उपमा से क्या विलक्षणता है। फिर नवीनों अर्थात् अप्पयदीक्षित—का मत दिखाते हुए 'वृत्तिवार्तिक' और 'चित्र मीमासा' में लिखे उनके विवेचन से भी सुन्दर विवेचन करके यह बात सिद्ध की गई है कि—रूपक मे लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है और तब स्वय अपना मत देते हुए अकाट्य युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि रूपक में सादृश्य का प्रवेश मानना अनिवार्य है, अतः लक्षणा माने बिना निर्वाह नहीं।

साध्यवसाना लक्षणा

अन्त में साध्यवसाना लक्षणा का शास्त्रीय रीति से शाब्दबोध समझा कर व्यग्यप्रकरण समाप्त कर दिया गया है।

श्रीहरिः

हिंदी-रसगंगाधर

प्रथम भाग

(आरम्भ से लेकर द्वितीय आनन के अलङ्कार प्रकरण से पूर्व तक)

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

❁ ❁ ❁ ❁

अति-कलेस तें मनन-जलधि के उदर-माँझ दै गोत घनी ।
मैं जग में कीन्ही प्रकटित यह, "रसगंगाधर" ललित मनी ॥
सो हरि अंधकार अंतर को हिय शोभित ह्वै गुनि-गन के ।
सकल अलकारन के, करि दै गलित गरब उत्तमपन के ॥

पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी

श्रीहरिः

हिंदी-रसगंगाधर

प्रथम-भाग

तरनि-तनूजा-तट-तरुन तरुनीवृंद मझार।
जे विहरत, ते करहु मुद-मंगल नंदकुमार॥

मंगलाचरण

स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी॥

सुमिरत हूँ जो हरत नरन को तरुनातप करुना करिकैं।
घेरी शत-शत बिजुरिन ते जो भङ्ग-रहित तन-दुति धरिकैं॥
कल कलिन्दतनया के तट के सुरतरु जाके हैं आश्रय।
सो मेघन की माल अलौकिक मम मति चुम्बन करहु सदय॥

जो केवल स्मरण करने पर भी मनुष्यों के तीव्र आतप (संसार के ताप) को, दया करके हरण कर लेती है, जो, जिनकी शरीर-

काति में भग्न होने का स्वभाव ही नही है, उन सैकडों बिजलियों (गोपागनाओं) से परिवृत है और जिसका श्रीकालिंदी के तट के सुरतरु (कदब) आलबन हैं, वह अनिर्वचनीय मेघमाला (श्री कृष्णचद्र की मूर्त्ति) मेरी बुद्धि का चुबन करनेवाली बने—मेरी बुद्धि में विराजमान रहे।

गुरु-वन्दना

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेवाऽध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयम्,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत्सर्वविद्याधरो यः॥

पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्॥

❀ ❀ ❀ ❀

जिन ज्ञानेन्द्र भिक्षु ते सीखी सविधि ब्रह्म-विद्या सगरी।
गुरु महेन्द्र ते कणभुज-गौतम-गहन-गिरा अध्ययन करी॥
शास्त्र जैमिनी को जिन सीख्यो खण्डदेव तें शिवनगरी।
पाइ शेष तें महाभाष्य जिन हृदय सकल विधान धरी॥

जिनकी लीला तें झरत शुचि पियूष पाषान।
लक्ष्मीपति ते पेरुभट वन्दौं गुरु सु-महान॥

जिन्होंने संपूर्ण ब्रह्मविद्याका विस्तार (वेदात शास्त्र) श्रीमान् ज्ञानेंद्र भिक्षु से प्राप्त किया, कणाद और गौतमकी गभीर वाणियाँ (वैशेषिक और न्याय शास्त्र) महेंद्रशास्त्रीसे समझीं—न कि रट लीं,

जिनने परम प्रसिद्ध खंडदेव पंडित से काशीजी में जैमिनीय शास्त्र (पूर्वमीमासा) का अध्ययन किया और शेष वीरेश्वर पडित से पतंजलि की निर्मल उक्तियाँ (महाभाष्य) प्राप्त कीं, इस तरह जो सब विद्याओं के निधान थे, जिनकी लीला से पाषाण (मेरे जैसे जड) से भी अमृत (सरस कविता) झर रहा है, उन लक्ष्मी (मेरी माता) के पति अथवा विष्णुरूप पेरुभट्ट नामक पूज्य पितृदेव का मैं अभिवादन करता हूँ।

प्रबंध-प्रशंसा

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अति-कलेस तें मनन-जलधि के उदर-माझ दै गोत घनी।
मैं जग में कीन्हीं प्रकटित यह "रसगंगाधर" ललित मनी ॥
सो हरि अधकार अतर को हिय शोभित ह्वै गुनि-गन के।
सकल अलंकारन के, करि दै गलित गरब उत्तमपन के ॥

मैंने मननरूपी जलधि के उदर के अन्दर न कि बाहर ही बाहर, बडे क्लेशो के साथ—न कि मनमौजीपन से, गोता लगाकर—अर्थात् पूर्णतया सोच-समझकर, यह "रसगगाधर" रूपी सुंदरमणि निकाली है। सो यह (रसगंगाधर मणि) (साहित्य-शास्त्र-विषयक) भीतरी अंधकार को हरण करती हुई और गुणवानो के हृदय पर आरूढ होती हुई सभी अलकारो (अलंकारशास्त्रों + आभूषणो) को, (इसके

प्रभाव के कारण) अपने आप ही दूर हो गया है गर्व जिनका ऐसे बना दे।' अर्थात् इसमें अन्य सत्र अलकार-शास्त्रो से उत्कृष्ट होने की योग्यता है।

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथापि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता।
तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः॥

❁ ❁ ❁ ❁

करैं परिष्कृत गहरे, अर्थनि, सहृदयतम बुधजन केते।
किन्तु कलेस न मम यह कैसेहु होय व्यर्थ यों करिबे ते॥
करत छुभित जलनिधि को सब दिन मगरमच्छ भारी-भारी।
पै ये मन्दर गिरि के श्रम के ह्वै न सकें निष्फलकारी॥

सहृदय पुरुषो के अग्रणी कुछ विद्वान् लोग अर्थों का परिष्कार करते रहें—उन्हें गम्भीर विचारो से भूषित करते रहे, पर ऐसा करने से मेरा यह क्लेश—यह अत्यधिक श्रम, किसी प्रकार भी, गतार्थ नहीं हो सकता। भले ही बडे बडे मगर-मच्छ समुद्र को अच्छी तरह क्षुब्ध करते रहें, पर क्या इससे अलौकिक रत्नो का उत्पादन करनेवाला मदराचल का परिश्रम व्यर्थ हो सकता है? अर्थात् इन पडितो का परिष्कार करना शास्त्र को निरा क्षुब्ध करना है, पर मैंने उसे मथकर, उसमें से, यह मणि निकाली है; अतः उनका परिश्रम निष्फल है और मेरा सफल।

अन्य निबंधों से विशेषता

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

❀ ❀ ❀

धरी बनाइ नवीन उदाहरनन की कविता ।
परकी कछु हु छुई न, इहाँ मैं, पाइ सुकवि-ता ॥
मृग कस्तूरी-जननशक्ति राखत जो निज तन ।
कहा करत वह सुमन-गन्ध-सेवन हित सु जतन ॥

मैंने, इस ग्रथ में, उदाहरणो के अनुरूप—जिस उदाहरण में जैसा चाहिए वैसा—काव्य बनाकर रक्खा है, दूसरे से कुछ भी नहीं लिया, क्योकि कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति रखनेवाला मृग क्या पुष्पो की सुगध की तरफ मन भी लाता है? अपनी सुगध से मस्त उसे क्या परवा है कि वह पुष्पो के गध की याद करे।

निर्माता और निबंध का परिचय

मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः ।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥

❀ ❀ ❀ ❀

मनन-तरी तरि विद्या-जलनिधि जगन्नाथ पण्डित-नरनाथ ।
"रसगङ्गाधर" नामक काव्यालोचन करत कुतूहल-साथ ॥

जिसने मनन-रूपी नौका से विद्यारूपी समुद्र को पार कर लिया है, वह पंडितराज जगन्नाथ, कुतूहल के साथ, काव्यो की वह आलोचना कर रहा है, जिसका नाम है "रसगंगाधर"।

शुभाशंसा

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरञ्जयतु ।
किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसभ्यान्यञ्चि रञ्जयतु ॥

* * * *

रसगङ्गाधर नाम यह ग्रंथ सरबदा जय लहहु ।
सहज सुभग कविराज-कुल याहि पाइ प्रमुदित रहहु ॥

यह "रसगंगाधर" नामक ग्रंथ बहुत समय के—सदा के लिये विजय प्राप्त करे और स्वभाव से ही उत्तम—जिनको उत्तम बनाने के लिये यत्न की आवश्यकता नहीं, उन कविवरो के समाजों को सुखी करता रहे।

ग्रंथारंभ

काव्य का लक्षण

जिस काव्य के यश, परम-आनद, गुरु, राजा और देवताओ की प्रसन्नता आदि अनेक फल हैं, उस काव्य की व्युत्पत्ति दो व्यक्तियो के लिये आवश्यक है। उनमें से एक है कवि---अर्थात् काव्य बनानेवाला और दूसरा है, उससे आनद प्राप्त करनेवाला---उसके मर्मों को समझनेवाला, सहृदय। (सच पूछिए तो, काव्य से आनद उठाने के लिये, सहृदयता ही मुख्य साधन है। कवि भी यदि सहृदय हुआ, यद्यपि अच्छे कवियो की सहृदयता अनिवार्य है, तो उसे कविता-गत आनद की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।) इस कारण, गुण, अलंकार आदि से जिसका निरूपण किया जाता है, वह काव्य क्या वस्तु है---किसे काव्य कहना चाहिए और किसे नहीं---इस बात को, पूर्वोक्त दोनो व्यक्तियो को, समझाने के लिये पहले उसका लक्षण निरूपण करते हैं।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करनेवाले---अर्थात् जिससे रमणीय अर्थ का बोध हो, उस शब्द को काव्य कहते हैं।

रमणीय अर्थ वह है, जिसके ज्ञान से---जिसके बार बार अनुसधान करने से---अलौकिक आनद की प्राप्ति हो।

यद्यपि यह लक्षण बड़ा ही सरल और सक्षिप्त है तथापि इतना मात्र कह देने से शास्त्रीय पद्धति से विचार करनेवालो का कार्य नहीं चल सकता, अतः इसका विवेचन किया जा रहा है---

'रमणीय' इतना मात्र कह देने मे किसी भी अच्छे पदार्थ मे अतिव्याप्ति हो सकती है, क्योंकि रमणीयता का कोई ठिकाना नहीं—किसी को कुछ रमणीय प्रतीत होता है तो किसी को कुछ। अतः यहाँ पर रमणीयता का अर्थ है 'लोकोत्तर (अलौकिक) आनद के उत्पादक ज्ञान का विषय होना' अर्थात् जिस अर्थ के ज्ञान से अलौकिक आनद प्राप्त हो वह यहाँ 'रमणीय' कहा गया है।

पर इतने से भी बात पूर्णतया ठीक नही होती, क्योकि अलौकिकता का अर्थ यदि 'थोडी बहुत अलौकिकता' माना जाय तो ऐसी अलौकिकता सर्वत्र प्राप्त हो सकती है और यदि 'अत्यन्त अलौकिक' माना जाय तो ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी वस्तु है नहीं, अतः कहते हैं कि 'लोकोत्तरता का अर्थ है सहृदयो का अनुभव जिसका साक्षी है वह आनद मे रहनेवाला जातिविशेष, जिसे दूसरे शब्दो में 'चमत्कारत्व' कहा जा सकता है, और उस चमत्कारत्व से अवच्छिन्न (चमत्कार) का कारण (उत्पादक) है एक प्रकारकी बार-बार की जानेवाली भावना, जो बार-बार अनुसन्धानरूप है। अर्थात् वह चमत्कार बार-बार अनुसन्धान करने से उत्पन्न होता है। साराश यह कि जिस अर्थ को सुनकर सहृदय चमत्कृत हो जॉय वह अर्थ यहॉ 'रमणीय' कहा गया है। अतः उक्त आपत्ति को यहॉ स्थान नहीं, क्योकि इस विवेचन से यह अलौकिकता साधारण अलौकिकता तथा ब्रह्मानन्दवाली अलौकिकता दोनो से पृथक् हो जाती है।

यद्यपि हमसे कोई आकर कहे कि "आपके लडका पैदा हुआ है" "आपको इतने रुपए दिए जाएँगे" (अथवा यो समझिए कि "आपको लाटरी में इतने रुपए प्राप्त हुए हैं") तो उन वाक्यो के ज्ञान से—उनके बार बार अनुसधान से—भी हमें आनद प्राप्त होता है; पर वह आनद अलौकिक नहीं, लौकिक है, इस कारण, उन वाक्यों को हम काव्य नहीं कह सकते। (तत्र नव्य नैयायिकों की रीति से जो बाल

की खाल खींची गई है, उसे छोडकर, यदि इस लक्षण का सार समझें तो यह हुआ कि) "जिस शब्द अथवा जिन शब्दो के अर्थ के बार-बार अनुसधान करने से किसी अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो, उसका अथवा उनका नाम काव्य है" ।

नव्य नैयायिको की शैली से परिष्कार करने पर उक्त लक्षण का फलितरूप इस प्रकार होगा—

(१) ऐसे अर्थ के प्रतिपादक शब्द का नाम काव्य है जो अर्थ चमत्कारजनक भावना का विषय हो । और उक्त विशेषण से विशिष्ट शब्दत्व हुआ काव्यत्व—जो कि काव्य का अवच्छेदक धर्म है । नैयायिकों की सस्कृत में इसे यो कहेंगे—चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्व काव्यत्वम् ।

इस लक्षण में 'भावना' के स्थान पर 'ज्ञान' शब्द यदि रख दिया गया होता तो समूहालम्बन रूप मे भासमान अन्य (अचमत्कारी) अर्थ के प्रतिपादक शब्द मे लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती—अर्थात् कुछ चमत्कारी और कुछ साधारण अर्थों का जिन शब्दों से एक साथ ज्ञान हो जाता हो ऐसे शब्दो को भी काव्य कहा जा सकता था, अतः यहाँ ज्ञान शब्द न रखकर 'भावना' शब्द लिखा गया है ।

(२) किन्तु इतना परिष्कार करने पर भी लक्षण की धारावाही रूप में लबे चौडे ज्ञान के विषयभूत चमत्कारजनक अर्थ के प्रतिपादक वाक्य में अति व्याप्ति हो जाती है—अर्थात् जहाँ लम्बी-चौडी वाक्यावलि चल रही है उसमें से कुछ अश ऐसा भी है जिसकी भावना चमत्कारजनक हो वह वाक्यावलि भी काव्य हो जायगी । अतः कहते हैं कि—

जिस शब्द अथवा जिन शब्दो से प्रतिपादित अर्थ के विषय में होनेवाला भावनात्व चमत्कारजनकता का अवच्छेदक हो अर्थात् जिस शब्द अथवा जिन शब्दो की आनुपूर्वी (अविच्छिन्न परम्परा) से प्रतिपादित अर्थ जिसका विषय है ऐसी भावना अवच्छेदकावच्छेदेन (संपूर्ण-

तया) चमत्कारजनक हो उस शब्द अथवा उन शब्दो को काव्य कहते हैं। नैयायिको की सस्कृत में इसे यों कहेंगे—यत्प्रतिपादितार्थविषयक-भावनात्व चमत्कारजनकतावच्छेदक तत्त्व काव्यत्वम्।

(३) नैयायिको की दृष्टि से लाघव करने के लिए इस लक्षण को यदि और भी परिष्कृत किया जाय—अर्थात् चमत्कारत्व का ही शब्द से सीधा सबंध जोड़ा जाय तो यह लक्षण इस प्रकार होगा कि—जिस शब्द अथवा जिन शब्दो का चमत्कारत्व के साथ 'अपने (चमत्कारत्व) से युक्त (चमत्कार) की जनकता के अवच्छेदक अर्थ की प्रतिपादकता रूपी संबन्ध हो वे शब्द काव्य हैं। यहाँ यद्यपि चमत्कारजनकता भावना में रहती है तथापि उसे विषयता-सबध से अर्थगत मान लिया गया है। नैयायिको की सस्कृत मे इसे यो कहेंगे—स्वविशिष्टजनकता-वच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वं काव्यत्वम्।

(यह तो है पडितराज का काव्य-लक्षण। अब साहित्य शास्त्र के प्राचीन आचार्यों के साथ उनकी जो दलीले हैं, उन्हे भी सुनिए।)

काव्य-प्रकाशकार आदि साहित्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि "दोष-रहित, गुण एवम् अलकार सहित शब्द और अर्थ का नाम काव्य है"। अब इस विषय मे सबसे पहले तो यह विचार करना है कि—काव्य शब्द का प्रयोग केवल शब्द के लिये किया जाता है अथवा शब्द और अर्थ दोनों के लिये। (अच्छा, इस विषय में पडितराज के विचारों को ध्यान में लीजिए वे कहते हैं—)

'शब्द और अर्थ' दोनों काव्य नहीं कहे जा सकते, क्योकि इसमें कोई प्रमाण नहीं। प्रत्युत यदि विचारकर देखे तो "काव्य जोर से पढा जा रहा है" "काव्य से अर्थ समझा जाता है" "काव्य सुना, पर अर्थ समझ में न आया" इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से एक प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं।

आप कहेंगे कि ऐसे व्यवहार के लिये, जिसमें कि काव्य शब्द का प्रयोग 'केवल शब्द' के विषय में किया गया हो, लक्षणा वृत्ति से काम चला लो। हम कहते हैं—हाँ, ऐसा हो सकता है—पर तब, जब कि आप किसी दृढ प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्य शब्द का मुख्य प्रयोग "शब्द और अर्थ" दोनो के लिये ही होता है। वही तो हमे दिखाई नहीं देता। आप कहेंगे—शब्दप्रमाणसे यह बात सिद्ध है, क्योकि काव्यप्रकाशकारादिकों ने इस बात को लिखा है। हाँ, ठीक, पर महाराज, जिस पर अभियोग चलाया जाय उसी के कथन के अनुसार निणय नहीं किया जा सकता। उन्हीं से तो हमारा मतभेद है, अतः उनका कथन प्रमाणरूप मे उपस्थित करना उचित नहीं। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि शब्द ओर अर्थ दोना का नाम काव्य है, इस बात में कोई प्रमाण नहीं, तब हमारे उपस्थित किए हुए पूर्वोक्त व्यवहार के अनुसार "एक प्रकार के शब्द का नाम ही काव्य है" इस बात को कौन मना कर सकता है। इसीसे, "शब्दमात्र के काव्य मानने में कोई साधक युक्ति नहीं है, इस कारण दोनों को काव्य मानना चाहिए" इस दलील का भी जवाब हो जाता है, क्योकि उसमें लौकिक व्यवहारको हम प्रमाणरूप में उपस्थित कर चुके हैं। सो इस तरह एक प्रकार के शब्द का नाम ही काव्य सिद्ध हुआ, अतः उसी का लक्षण बनाने की आवश्यकता है, न कि अपनी तरफ से कल्पित किए हुए शब्द और अर्थ के लक्षण बनाने की। यही बात वेद, पुराण आदि के लक्षणों में भी समझनी चाहिए, अर्थात् उनको भी शब्दरूप समझकर ही उनका लक्षण बनाना चाहिए, नहीं तो यही दुर्दशा उनमें भी होगी।

कुछ लोग एक और तर्क उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि—काव्य शब्द का प्रयोग उसके लिये होना चाहिए, जिससे रस का उद्बोध

होता हो—जिससे हमारे अंतरात्मा मे एक प्रकार का आनदास्वाद जग उठे। यह बात शब्द और अर्थ दोनो में समान है, इस कारण दानों को काव्य कहना युक्ति-संगत है। पडितराज कहते हैं—यह आपकी दलील ठीक नहीं। यदि आनदास्वाद को जगा देनेवाली वस्तु का नाम ही काव्य हो, तो आप राग को भी काव्य कहिए, क्योकि ध्वनिकार प्रभृति सभी साहित्य-मर्मज्ञों ने राग को रसव्यजक (आनदास्वाद का जगानेवाला) माना है। बहुत कहने की आवश्यकता नही, यदि आप रसव्यजक को ही काव्य मानने लगे तो जितने नाट्य के अग हैं—नृत्य-वाद्य आदि, सबको आप काव्य मान लीजिए। ऐसी दशा में आप को यह झगडा हटाना कठिन हो जायगा। इस कारण, जो रसोद्बोधन मे समर्थ हो—जिससे आनदास्वाद जग उठे—उसे ही काव्य मानना चाहिए, यह दलील पोच (निःसार) सिद्ध हुई।

इस विषय में हम आपसे एक बात और पूछते हैं—शब्द और अर्थ दोनो मिलकर काव्य कहलाते हैं, अथवा प्रत्येक पृथक्-पृथक्? यदि आप कहेंगे कि दोनो सम्मिलित रूप में काव्य के नाम से व्यवहृत किए जाते हैं, तब तो जिस तरह एक और एक मिलकर (अर्थात् दो एकों का योगफल) दो होता है—दो सम्मिलित एको का नाम ही दो है, पर दो के अवयव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी प्रकार श्लोक के वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकते; क्योंकि वह उसका एक अवयव—केवल शब्द है। सो इस तरह पूर्वोक्त व्यवहार सर्वथा उच्छिन्न हो जायगा। अब यदि आप कहें कि प्रत्येक को पृथक् पृथक् काव्य शब्द से व्यवहार करना चाहिए, तो "एक पद्य में दो काव्य रहते हैं" यह व्यवहार होने लगेगा। सो है नहीं।

इस कारण वेद, शास्त्र और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का

लक्षण भी शब्द का ही होना चाहिए। अर्थात् शब्द को ही काव्य मानना चाहिए, शब्द-अर्थ दोनो को नहीं।*

(यह तो हुआ "शब्द" को काव्य मानना चाहिए, अथवा "शब्द-अर्थ" दोनो को, इस बात का विचार। अब दूसरी बात लीजिए।) प्राचीन आचार्यों ने, काव्य के लक्षण में, शब्द और अर्थ के साथ एक विशेषण लगाया है 'गुण एवम् अलंकार सहित"। सो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि 'उदितं मण्डलं विधोः' 'गतोऽस्तमर्कः'

---

* इन दलीलों का खंडन नागेश भट्ट ने, इसकी टीका में, बहुत थोडे में, बहुत अच्छे ढंग से किया है। अच्छा, आप वह भी सुन लीजिए—

नागेश कहते है—जिस तरह "काव्य सुना" इत्यादि व्यवहार है, उसी प्रकार "काव्य समझा" यह भी व्यवहार है, और समझना अर्थ का होता है, शब्द का नहीं, अत: काव्य शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप के लिये ही होता है, यह मानना चाहिए। वेदादिक भी केवल शब्द का नाम नहीं है, किंतु शब्द-अर्थ दोनों के सम्मिलित रूप का ही नाम है, अतएव जो महाभाष्यकार भगवान् पतंजलि ने 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनीय सूत्र की व्याख्या करते हुए "शब्द-अर्थ" दोनों को वेदादि रूप माना है, वह संगत हो सकता है। रही आपकी दूसरी दलील—जिस तरह हम एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह दोनों का नाम यदि काव्य हो तो प्रत्येक के लिये उस शब्दका व्यवहार नही हो सकता। सो कुछ नहीं है। ऐसे स्थल पर हम रूढ लक्षणा से काम चला सकते हैं—उसके द्वारा प्रत्येक के लिये भी काव्य शब्द का प्रयोग हो सकता है। इस कारण "शब्द-अर्थ दोनों को काव्य शब्द से व्यवहृत करने में कोई दोष नहीं।'

इन सस्कृत वाक्यो (अथवा "चन्द्र उग्यो नभ माँहि" इस हिंदी वाक्य) को, कोई नायिका दूती अथवा सखी से नायक के सकेत स्थान पर जाने के लिये इस अभिप्राय से कहे—प्रकाश हो गया, अब कहीं काँटा खीला लगने का डर नहीं; अथवा कोई अभिसारिका दूती से, यह समझ कर कि—अब प्रकाश हो गया, कोई देख लेगा, निषेध करने के लिए कहे. यद्वा कोई विरहिणी अपने सुहृद्वर्ग को यह सुझाने के लिए कहे कि अब मै न जी सकूँगी, तो भी आपके हिसाब से वह काव्य न होगा, क्योकि न उसमें कोई गुण है, न अलकार। पर आप यह नहीं कह सकते कि वह काव्य नहीं है, क्योकि यदि उसे आप काव्य न माने तो जिसे आप काव्य कह रहे हैं, उसे भी काव्य मानने के लिए कोई उद्यत न होगा। कारण यह है कि जिस "चमत्कारीपन" को काव्य का जीवन माना जाता है, वह इन दोनो में समान ही है। दूसरे, गुणत्व और अलकारत्व का अनुगम नहीं है—(अर्थात् आज दिन तक यह सिद्ध न हो सका कि गुणत्व और अलकारत्व जिनमे रहते हैं, वे गुण और अलकार अमुक ही हैं। उनकी संख्या अभी तक नियत ही न हो सकी, जिस अलकारिक का जब जैसा विचार हुआ, उसने उसके अनुसार, उन्हें घटा दिया अथवा बढा दिया। अतः गुणो और अलकारो का लक्षण में समावेश करना उचित नहीं, क्योकि जो स्वय ही निश्चित नहीं, उनके द्वारा लक्षण क्या निश्चित हो सकेगा !)

(पर यदि आप कहें कि काव्य अथवा रस के धर्मों का नाम गुण है और काव्य में शोभा उत्पन्न करनेवाले अथवा काव्य के धर्मों का नाम अलकार है, इस तरह गुणत्व और अलकारत्व का अनुगम हो जाता है—अर्थात् जिनमें ये लक्षण दिखाई दे, उन्हें गुण और अलकार समझ लीजिए, उनकी सख्या नियत न हो सकी तो क्या हुआ। तथापि हम कहेंगे कि लक्षण में 'दोष रहित' कहना तो अयोग्य ही है, क्योंकि) लोक में "अमुक काव्य दोषयुक्त है" यह व्यवहार

देखने मे आता है। अर्थात् काव्य-पद का दोषरहित के लिए ही नहीं, दोष सहित के लिए भी प्रयोग किया जाता है। यदि आप कहें कि आप लक्षणा से काम चला लीजिए—(समझ लीजिए कि काव्य—जैसा पदग्रथन उस (दोषयुक्त) में भी है, इस कारण गौणी लक्षणा के द्वारा उसे भी काव्य समझ लेना चाहिए) तो यह भी अनुचित है, क्योकि जबतक कोई मुख्यार्थ का बाधक कारण उपस्थित न हो, तब तक लाक्षणिक कहना ही नही बन सकता। (क्योंकि लक्षणा तभी होती है, जब कि मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ से सबध और रूढि अथवा प्रयोजन ये तीनो निमित्त हो।)*

हॉ, एक दूसरी युक्ति और है। आप कह सकते हैं कि जैसे एक पेडकी जड़ पर पक्षी बैठा है, पर डाली पर नहीं, तब उस पेड़ में एक स्थान पर (जड़ मे) पक्षी का सयोग है और दूसरे स्थान पर (शाखा में) सयोग का अभाव। तथापि सर्वत्र संयोगरहित होने पर भी, एक स्थान पर सयोग के कारण, उस वृक्ष को संयोगी कह सकते हैं। ठीक इसी तरह अन्य सब स्थानों पर दोषरहित होने के कारण वह काव्य कहला सकता है और एक स्थान पर दोष युक्त होने के कारण दोषी भी। सो यह भी ठीक नहीं, क्योकि जैसे जड़ पर पक्षी को बैठा देखकर, सब मनुष्यो को, यह प्रतीति होती है कि इस वृक्ष की जड़ में पक्षी का सयोग है, पर शाखा में नहीं, उस तरह किसी को भी इस बात का ठीक ठीक अनुभव नहीं होता कि यह पद्य पूर्वार्ध में काव्य है और उत्तरार्ध मे नहीं। अतः यह दृष्टात यहॉ नहीं लग सकता। दृष्टात के द्वारा अनुभव का अपलाप असभव है—जो बात हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, वह दृष्टात से नहीं हटाई जा सकती।

---

* लक्षणा का विशेष विवरण द्वितीय आनन के आरम्भिक भाग में होगा, अतः हमने यहाँ विशेष प्रपंच नहीं किया है।

एक और भी बात है कि जिसके कारण गुण एव अलकार काव्य-लक्षण में प्रविष्ट नहीं किए जा सकते। वह यह है कि जिस तरह शूर-वीरता आदि आत्मा के धर्म हैं, वैसे ही गुण भी काव्य के आत्मा रस के धर्म हैं, और जिस तरह हारादिक शरीर को शोभित करनेवाली वस्तुएँ हैं, उसी तरह अलकार भी काव्य को अलकृत करनेवाले हैं। अतः जिस तरह वीरता अथवा हारादिक शरीर के निर्माण में उपयोगी नहीं हैं, इसी तरह ये भी काव्य के शरीर को सिद्ध करने—उसके स्वरूप का लक्षण बनाने—में उपयुक्त नहीं हो सकते।

(यह तो हुई प्राचीनों की बात। अब नवीनो में से साहित्य-दर्पणकार बहुत प्रसिद्ध हैं। अच्छा, आइए, उनके 'काव्यलक्षण' की भी परीक्षा कर डाले।) साहित्यदर्पणकार ने "वाक्यं रसात्मक काव्यम्" यह लक्षण बनाकर सिद्ध किया है कि "जिसमें रस हो वही काव्य है"। पर यह बन नहीं सकता, क्योकि यदि ऐसा मानें तो जिन काव्यो में वस्तु-वर्णन अथवा अलकार-वर्णन ही प्रधान हैं, वे सब काव्य काव्य ही न रहेंगे। आप कहेंगे कि हमको यह स्वीकार है—हम उनको काव्य मानना ही नहीं चाहते। सो यह उचित नहीं, क्योंकि महाकवियो का जितना संप्रदाय है, उनकी जो प्राचीन परिपाटी चली आई है, वह बिलकुल गड़बड़ा जायगी। उन्होंने स्थान-स्थान पर जल के प्रवाह, वेग, गिरने, उछलने और भ्रमण, एव बदरो और बालको की क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। क्या वे सब काव्य नहीं हैं? आप कहेंगे कि उन वर्णनों में भी किसी न किसी तरह रस का स्पर्श है ही, क्योकि ऐसे वर्णन भी उद्दीपन आदि कर सकने के कारण रस से सबंध रख सकते हैं। पर यदि यो मानने लगो तो "बैल चलता है" "हरिण दौड़ता है" आदि वाक्य भी काव्य होने लगें, क्योकि जगत् की जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव कुछ न

कुछ हो सकती हैं। इस कारण प्राचीनों एवं नवीनों के—दोनों के—"काव्य लक्षण" ठीक नहीं हैं।*

काव्य का कारण

अच्छा, अब यह भी सोचिए कि काव्य का कारण—जिसके होने पर ही काव्य बन सकता है, अन्यथा नहीं—क्या वस्तु है? इस

---

*यहाँ हमें कुछ लिखना है। यद्यपि पंडितराज ने "काव्य लक्षण" के विषय में इतना सूक्ष्म विचार किया, तथापि वे इसके बनाने में सफल न हुए। इसका कारण हम पहले नागेशभट्ट की आलोचना, टिप्पणी में, देकर समझा चुके हैं। उसका साराश यह है कि केवल शब्द को काव्य मानना ठीक नहीं, "शब्द और अर्थ" दोनों को काव्य मानना चाहिए। परंतु प्राचीन आचार्यों के लक्षण में भी "दोषरहित" कहना तो खंडित है; और यदि "गुण एवं अलकार सहित शब्द और अर्थ" को काव्य मानें, तथापि वह उत्कृष्ट काव्य का लक्षण हो सकता है, साधारण काव्य का नहीं, क्योंकि सभी काव्यों में गुण और अलंकार नहीं रहते। इस कारण मेरे विचारानुसार "ऐसे शब्दों और अर्थों को काव्य मानना चाहिए, जिनके सुनने एव समझने से अलौकिक आनंद की प्राप्ति हो।" तभी दृश्य काव्य कहना भी सार्थक हो सकता है; क्योंकि देखने में अर्थ आ सकते हैं, शब्द नहीं। यही बात अर्थालकार आदि के विषय में भी समझो। यद्यपि नाटक के पात्रादिकों का बनानेवाला कवि नहीं है, तथापि कविको उस सब सामग्री को उस रूप में उपस्थित करनेवाला मानने में कोई संदेह नहीं। इस कारण काव्य के अर्थ का निर्माता भी वह हो सकता है। "केवल शब्द" को ही काव्य मानने के कारण "साहित्यदर्पणकार" का भी लक्षण हमें सम्मत नहीं; वे "रसात्मक वाक्य" को काव्य कहते हैं, और वाक्य भी शब्द ही है।

—अनुवादक

विषय में भी पंडितराज का प्राचीनो से मतभेद है, आप इनके इस विषय के विचार भी सुनिए। वे कहते हैं—

काव्य का कारण केवल प्रतिभा है, और प्रतिभा शब्द का अर्थ है—काव्य बनाने के लिये जो शब्द एवं अर्थ अनुकूल हो, जिनसे काव्य बन जाय, उनकी उपस्थिति; अर्थात् काव्य बनाने के लिये जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ उसका तत्काल उपस्थित हो जाना, (ऐसा नहीं कि कविजी काव्य बनाने के लिये अकुला रहे हैं, परंतु न तो उसमे जोडने के लिये कोई सुदर पद ही मिलते हैं और न कोई ऐसी बात ही याद आती है कि जिससे उनका कार्य सिद्ध हो जाय।)

प्रतिभा में रहनेवाला 'प्रतिभात्व' एक प्रकार की जाति अथवा अखण्डोपाधि है जो (नैयायिको के हिसाब से) काव्य के कारणता-वच्छेदक के रूप में सिद्ध है।

उस प्रतिभा के दो कारण हैं—एक तो, किसी देवता अथवा किसी महा-पुरुष की प्रसन्नता होने के कारण, किसी ऐसे भाग्य का उत्पन्न हो जाना कि जिससे काव्यधारा अविरत चलती रहे, और दूसरा—विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य बनाने के अभ्यास का होना। किंतु ये तीनो सम्मिलित रूप में कारण नहीं हैं, क्योंकि कई बालको तथा अबोधो को भी केवल महापुरुष की कृपा से ही प्रतिभा उत्पन्न हो गई है (जैसी कि कवि कर्णपूर के विषय में किंबदती है)। आप कहेंगे कि वहाँ हम उस कवि के पूर्वजन्म के, विलक्षण (जैसे दूसरों में नहीं होते) व्युत्पत्ति और काव्य करने का अभ्यास मान लेंगे। (अर्थात् उसने पूर्वजन्म में इन बातों को सिद्ध कर लिया है, अब किसी महापुरुष की कृपा होते ही वे शक्तियाँ जग उठीं।) पर यो मानने में तीन दोष हैं—

१—गौरव अर्थात् जब उन दोनों के कारण न मानने पर भी

केवल अदृष्ट (भाग्य) से काम चल सकता है, तो क्यो उन दोनों को उसके साथ लगाकर कारणो की संख्या बढाई जाय।

२—मानाभाव अर्थात् इसमे कोई प्रमाण नहीं कि ऐसे स्थान पर भी, इन तीनो को सम्मिलित रूप में ही प्रतिभा का कारण मानना चाहिए।

३—कार्य का बिना तीनो के कारण मानने पर भी सिद्ध हो जाना।

जब कि वेदादिक किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध किया गया हो कि अमुक वस्तु अमुक वस्तु का कारण है, पर हम ससार मे कुछ स्थानो पर ऐसा देखते हो—उस वस्तु (कारण) के रहते हुए भी वह वस्तु (कार्य) उत्पन्न न हो, अथवा उसके न रहने पर भी वह उत्पन्न हो जाय, तब हमको, विवश होकर (क्योंकि वेदादिक झूठे तो हो नहीं सकते), यह मानना पड़ता है—इसका कारण, उस व्यक्ति का—जिसको कारण के बिना भी कार्य की प्राप्ति हो रही है अथवा कारण के होने पर भी कार्य की प्राप्ति नहीं हो रही है—पूर्व-जन्म मे किए हुए, धर्म-अधर्म आदि हैं। पर यदि वेदादिक प्रबल प्रमाण के द्वारा कारण न बताए जाने पर हमारे निश्चित किए हुए कारणो में भी, हम किसी वस्तु को किसी वस्तु का कारण बताकर जहाँ गड़बड़ आने लगे, कह दे कि—इस बात को उसने पूर्वजन्म में कर लिया है, अतः ऐसा हो गया, तो भ्रम होने लगे—लोग किसी को भी किसी वस्तु का कारण बताने लगे। अतः पूर्वोक्त स्थल मे पूर्वजन्म के व्युत्पत्ति और अभ्यास को कारण मानना उचित नहीं, क्योकि व्युत्पत्ति और अभ्यास के विना कविता हो ही न सके यह बात कुछ वेद में थोडे ही लिखी हुई है कि जिसके लिये यह प्रपञ्च करना पडे।

अब यदि आप कहें कि हम इस गड़बड़ मे पडना नहीं चाहते, हम तो केवल अदृष्ट को ही कारण मान लेगे। सो भी ठीक नहीं, क्योकि बहुतेरे मनुष्य ऐसे देखने मे आते हैं कि वे बहुत समय तक

काव्य करना जानते ही नहीं, पर कुछ दिनों के अनंतर जब उनको किसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है—वे काव्य बनाने लगते हैं। यदि वहाँ भी अदृष्ट को कारण मानने लगो तो व्युत्पत्ति और अभ्यास के पहले ही उनमें प्रतिभा क्यो न उत्पन्न हो गई? आप कहेंगे—थोडे दिन के लिये उनका कोई बुरा अदृष्ट मान लीजिए, जिसने प्रतिभा की उत्पत्ति को रोक दिया, तो हम कहेंगे कि प्रायः व्युत्पत्ति और अभ्यास होने पर ही कविता बनानेवाले अधिक देखने में आते हैं, इस कारण अनेक स्थानों पर दो-दो (अच्छे और बुरे) अदृष्ट मानने की अपेक्षा, कविता के रोक देनेवाले अदृष्ट के नाश करने के लिये, आपको, जिन व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी पडती है—जिनके उत्पन्न होने से प्रतिबधक अदृष्ट नष्ट हो जाता है, उन्हीं को कारण मान लेना उचित है। इस कारण हम जो पहले बता आए हैं कि इन तीनो को (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति-अभ्यास को पृथक्) कारण मानना ही सीधा रास्ता है।

अब एक और शका होती है—यदि अदृष्ट से भी प्रतिभा उत्पन्न होती है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से भी, और काव्य दोनो से बन सकता है, तो दो भिन्न-भिन्न कारणो से एक ही प्रकार का काम (प्रतिभा) उत्पन्न होने के कारण दोनो के कामो मे गोटाला हो जायगा। और यह उचित नहीं, क्योंकि प्रकृति का नियम है कि भिन्न-भिन्न कारणो से कार्य भी भिन्न-भिन्न ही उत्पन्न हों। इसका उत्तर यह है—यद्यपि प्रतिभा दोनों का नाम है, तथापि अदृष्ट से उत्पन्न होनेवाली प्रतिभा दूसरी है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उत्पन्न होनेवाली दूसरी, अतः अदृष्ट और व्युत्पत्ति—अभ्यास के कामों में गोटाला नहीं हो सकता। (इस बात को हम उदाहरण देकर स्पष्ट कर देते हैं—जैसे गन्ने से भी चीनी बनती है और चुकदर से भी, और लड्डू दोनो से बन सकते हैं, पर दोनों

चीनियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त दो भिन्न-भिन्न कारणो से उत्पन्न होनेवाली दोनो प्रतिभाएँ भिन्न भिन्न हैं और उन दोनो से काव्य बन सकता है।) बस, काव्य बनने के लिये किसी प्रकार की प्रतिभा होने की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि दोनो प्रकार की प्रतिभाओ से एक ही प्रकार का काव्य बनता है, काव्य में कोई भेद नहीं होता। दूसरा पक्ष यह है—दोनो प्रतिभाओ से काव्य भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं—अर्थात् अदृष्ट से जो प्रतिभा उत्पन्न होती है, उससे बना काव्य दूसरे प्रकार का होता है और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उत्पन्न हुई प्रतिभा से बना दूसरे प्रकार का। अतः उन दोनो कारणो के कार्यों का कहीं भी मिलान नहीं होता, वे दोनों ठेठ तक भिन्न ही भिन्न रहते हैं।

इसके अनतर एक बात और रह जाती है। वह यह कि—जिन मनुष्यो में व्युत्पत्ति और अभ्यास दोनो होते हैं, उनमें भी प्रतिभा क्यों नहीं उत्पन्न होती? इसके विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि वे व्युत्पत्ति और अभ्यास विलक्षण (विशेष प्रकार के) होते हैं। उन लोगों में वे वैसे नहीं होते, अतः वे काव्य नहीं बना पाते। अथवा, किसी विशेष प्रकार के पाप को उनकी प्रतिभा का प्रतिबधक मान लेना चाहिए। आप कहेंगे कि आपको यह झगडा नया उठाना पडा, तो हम कहते हैं—यह नया नहीं है, यह तो तीनो को इकट्ठे कारण माननेवाले और केवल प्रतिभा अथवा शक्ति को कारण माननेवाले—दोनों के लिये समान ही आवश्यक है, क्योकि प्रतिवादी जब मन्त्रादिकों से, कुछ दिनो के लिये किसी अनेक काव्य बनानेवाले कवि की भी वाणी को रोक देता है, तो उससे काव्य नहीं बनाया जाता, यह देखा गया है।*

*** यहाँ महामहोपाध्याय श्रीगंगाधर शास्त्रीजी की टिप्पणी है, जिसका सारांश यह है—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—तीनों को**

काव्यों के भेद

जिस काव्य के विषय में इतना विवेचन किया गया है, वह काव्य चार प्रकार का होता है। १—उत्तमोत्तम, २—उत्तम, ३—मध्यम और ४—अधम।

सम्मिलित रूप में ही विशिष्ट काव्य का कारण मानना उचित है। विशिष्ट काव्य का अर्थ है अलौकिक वर्णन की निपुणता से युक्त कवि का कार्य। अब देखिए, शक्ति दो प्रकार की होती है—एक काव्य को उत्पन्न करनेवाली और दूसरी (कवि को) व्युत्पन्न करनेवाली। उनमें से दूसरी—व्युत्पादिका शक्ति का नाम ही निपुणता है। और अभ्यास से काव्य में अलौकिकता आती है। पहली शक्ति से पद जोड देने पर भी दूसरी शक्ति के न होने पर विलक्षण वाक्यार्थ का ज्ञान न होने के कारण कवि में अलौकिक वर्णन की निपुणता न हो सकेगी। अत: यही उचित है कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को—सम्मिलित रूप में—काव्य का कारण माना जाय।

इस पर हमें कुछ लिखना है। प्राचीन और नवीन सभी आचार्यों के मत से काव्य उसी का नाम है, जो चमत्कारी हो, केवल तुकबदी मात्र को किसी ने भी काव्य नहीं माना। अर्थात् जिसे आप विशिष्ट काव्य कहते हैं, उसी का नाम तो काव्य है। तब यह सिद्ध होता है—जिसे आप उत्पादिका शक्ति मानते हैं, वह काव्य की उत्पादिका तभी हो सकती है, जब कि उसमें पूर्वोक्त कविकर्म को उत्पन्न करने की योग्यता हो, न कि केवल तुकबदी करवा देने की। अतएव काव्य प्रकाशकार का "शक्तिर्निपुणता..." इस श्लोक की व्याख्या करते हुए, शक्ति के विषय में यह लिखना सगत होता है कि "शक्तिः कवित्वबीज-रूपः संस्कारविशेषः, या विना काव्य न प्रसरेत्, प्रसृत वोपहसनीय स्यात्।" (अर्थात् शक्ति एक प्रकार का संस्कार है, जो कि कविता का

उत्तमोत्तम काव्य

"उत्तमोत्तम" काव्य उसे कहते हैं, जिसमें शब्द और अर्थ दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी चमत्कारजनक अर्थ को अभिव्यक्त करें—व्यंजनावृत्ति से समझावें।

लक्षण का विवेचन

इस लक्षण में "किसी चमत्कार-जनक अर्थ को व्यक्त करें" इस कथन से यह सिद्ध हुआ—जिसमे व्यग्य अत्यत गूढ हो अथवा अत्यत स्पष्ट हो, वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे व्यग्यों की चमत्कारजनकता नष्ट हो जाती है। यही बात जिसमें व्यंग्य सुदर न हो, उसके विषय मे भी समझो। अपराग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ

बीजरूप है, जिसके बिना काव्य फैल नहीं सकता, अथवा यों कहिए कि फैलने पर भी उपहसनीय होता है। अन्यथा बिना शक्ति के बनाए हुए काव्य को उपहसनीय लिखना कुछ भी तात्पर्य न रख सकेगा, क्योंकि बिना शक्ति के काव्य उत्पन्न ही नहीं होता, तब उपहास्य किसका होगा? अतः यह मानना चाहिए कि काव्यप्रकाशकार के हिसाब से अनुपहसनीय अथवा आपके हिसाब से विशिष्ट काव्य के उत्पन्न करनेवाली शक्ति का नाम ही शक्ति है और उसे ही कहते हैं प्रतिभा। अतएव जब किसी की रचना चमत्कारी नहीं होती तो हम कहते हैं कि कवि में प्रतिभा नहीं है। साधारण पदयोजना की शक्ति को प्रतिभा के रूप में परिणत करना व्युत्पत्ति और अभ्यास का काम है। अतः उनको प्रतिभा का कारण मानना ही युक्तिसगत है, सहकारी मानना नहीं। सो तीनों को सम्मिलित रूप में कारण मानने की अपेक्षा अतिम दोनों को प्रतिभा का कारण मानना और केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानना, जैसा कि पडितराज का मत है, उचित जँचता है।

का अंग) और वाच्यसिद्ध्यंग (अर्थात् जिसके बिना वाच्य अर्थ सिद्ध ही न हो) व्यंग्य भी चमत्कारी होते हैं, अतः इस लक्षण से उनका भी ग्रहण न हो जाय, इस कारण, लक्षण में "अपने को गौण बनाकर" कहा गया, जिसका यह अभिप्राय है कि शब्द और अर्थ (वाक्य) दोनो से व्यंग्य की प्रधानता होनी चाहिए, सो उन दोनो में नहीं होती, अतः वे भी उत्तमोत्तम काव्य नहीं हो सकते।

उदाहरण

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥

❀ ❀ ❀ ❀

सोई सविध, सकी न करि सफल मनोरथ मञ्जु ।
निरखति कछु मींचे नयन प्यारी पिय-मुखकञ्जु ॥

प्रियतमा अपने प्रियतम के समीप सोई है, पर आश्चर्य है कि वह अपने मनोरथो को सफल करने मे असमर्थ है—उसकी शक्ति नहीं है कि वह अपनी अभिलाषाओ को पूर्ण कर सके, अतः नेत्रो को कुछ-कुछ मुकुलित करती हुई प्रियतम के मुख-कमल को देख रही है।

इस श्लोक में नायिका की रति के आलम्बन विभाव नायक के, पति-पत्नी के समीप सोने के कारण प्राप्त हुए एकांत-स्थान आदि उद्दीपन विभाव के, कुछ-कुछ मुकुलित नेत्रों से देखने रूपी अनुभाव के, और देखने के कुछ-कुछ होने के कारण व्यक्त होनेवाली लज्जा तथा देखने के कारण व्यक्त होनेवाले औत्सुक्य रूप व्यभिचारी भावो के संयोग से रति (स्थायी भाव) की अभिव्यक्ति होती है—अथवा यो कहिए कि पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम प्रतीत होता है। आलंबन आदि पदार्थों का स्वरूप (अर्थात् वे क्या वस्तु हैं, यह) आगे वर्णन किया जायगा।

अब यहाँ एक शका उत्पन्न होती है—इस पद्य में "रति की अभिव्यक्ति होती है" यह न मानकर "यदि यह सो गया हो, तो मैं इसका मुँह चूम लूँ" इस नायिका की इच्छा की ही अभिव्यक्ति क्यों न मान ली जाय। इसका समाधान यह है—पद्य में लिखा है कि "वह अपने मनोरथो को सफल करनेमें असमर्थ है", जिससे यह सिद्ध होता है कि उसके हृदय में सब मनोरथ विद्यमान हैं, और चुबन की इच्छा भी एक प्रकार का मनोरथ ही है—मनोरथ शब्द से ही सामान्य रूप से उसका भी वर्णन हो जाता है, इस कारण वह वाच्य है, व्यग्य नहीं, पर आप कहेंगे कि मनोरथ शब्द से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी "चु बन करूँ" इस विशेष विषय से युक्त इच्छा के व्यग्य होने में क्या बाधा है? इसका उत्तर यह है कि—चमत्कार नहीं रहेगा, बस यही बाधक है; क्योंकि जो पदार्थ विशेष रूप से व्यग्य हो, वह भी यदि सामान्य रूप से वाच्य हो जाय, तो उसकी सहृदयों के हृदय में चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। अलकार-शास्त्र के ज्ञाताओं ने उसी व्यग्य को चमत्कारी स्वीकार किया है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्पर्श न करे। दूसरे, चुबन की इच्छा को जब रति का अनुभाव मानें तभी वह सुदर हो सकती है, अन्यथा जिस प्रकार "चुम्बन करता हूँ" यह कहने में कोई चमत्कार प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार उसमें भी कोई चमत्कार न हो सकेगा। अतः वह रति की अपेक्षा गौण ही है, प्रधान नहीं।

इसी तरह इस श्लोक में लज्जा भी (यद्यपि व्यग्य है, तथापि) मुख्यतया व्यग्य नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि "नेत्रों को कुछ कुछ मुकुलित करती हुई" इस नायिका के विशेषण से लज्जा अभिव्यक्त होती है। श्लोक में उस विशेषण का सिद्ध बात के अनुवाद-रूप में वर्णन किया गया है, विधेयरूप में नहीं—अर्थात् उसका विधान नहीं है। तब उस विशेषण से पूर्णतया सबंध रखनेवाली लज्जा ही इस

श्लोक का प्रधान अर्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। आप कहेंगे कि—नहीं, श्लोक में लिखा है कि "नेत्रो को कुछ कुछ मुकुलित करती हुई" देख रही है", इस कारण यह तो आपको भी मानना पडेगा कि श्लोक में इस प्रकार देखने का विधान है, अतः लज्जा अनुवाद्य अर्थ से ही पूर्णतया संबंध रखती है, यह नहीं कहा जा सकता। हम कहते हैं कि ठीक, पर इस तरह भी लज्जा का कार्य आँखो का मीचना हो सकता है, देखना नहीं। श्लोक में आँखो के कुछ कुछ मींचने के साथ ही देखने का वर्णन किया गया है और देखना बिना रति (आतरिक प्रेम) के हो नहीं सकता। यदि इस श्लोक से लज्जा को ही व्यक्त करना होता, तो "आँखे मुकुलित कर रही है" यही लिख देते, देखने की बात उठाने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रह जाता। अब सोचो कि जिस प्रकार, अभिधावृत्ति के द्वारा, रति के अनुभाव (कार्य) "देखने" की अपेक्षा लज्जा का अनुभाव "आँखों का मींचना" गौण हो रहा है, वह देखने का विशेषण बन रहा है, उसी प्रकार, व्यंजनावृत्ति के द्वारा, लज्जा का भी रति की अपेक्षा गौण होना ही उचित है।

(यह तो है रस (सभोग शृङ्गार) का उदाहरण—अर्थात् इस पद्य के शब्द और अर्थ गौण होकर रति को व्यक्त करते हैं।) इसी प्रकार भाव (हर्ष आदि व्यभिचारी भाव) भी अभिव्यक्त होते हैं। अच्छा, भाव का भी उदाहरण लीजिए—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्॥

* * * *

हनी गुरुन बिच नतमुखी कमल-मुकुल ते झूमि।
कुंडल कछुक नचाइ, भौं नाइ, निरखि गइ घूमि॥

नायक अपने मित्र से कह रहा है—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच मे बैठी हुई, अतएव लज्जा के मारे नम्र, प्रियतमा को मैंने, हलके हाथ से, कमल की डोंडी से मार दिया। उसने कुंडलों को कुछ नचाकर एव भौहें नीची करके मुझे देखा और फिर (दूसरी तरफ) घूम गई—मुँह फेर लिया।

इस पद्य में "घूम गई" इस वाक्य से "ऐ! बिना सोचे समझे कर गुजरनेवाले! तैंने यह अनुचित कार्य क्यो कर डाला" इस अर्थ से युक्त "अमर्ष" भाव प्रधानतया ध्वनित होता है; और उसकी अपेक्षा श्लोक के शब्द और अर्थ गौण हो गए हैं—अर्थात् उनमें वह आनद नहीं है, जो अमर्ष भाव की अभिव्यक्ति में है।

अब एक दूसरे विचार से उत्तमोत्तम काव्य का एक उदाहरण और देते हैं। वह विचार यह है—अब तक जितने अलकार शास्त्र के आचार्य हुए हैं, उन सबने रस भाव आदि को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य माना है—अर्थात् इनके प्रतीत होने के पूर्व विभावादिको की उपस्थिति आवश्यक है और उनकी अभिव्यक्ति के अनंतर ही रस-भाव आदि की अभिव्यक्ति होती है, पर बीच के समय के अति सूक्ष्म होने के कारण उनका क्रम (पूर्वापरभाव) हमें लक्षित नहीं होता। यह एक नियत बात है, इससे विरुद्ध कभी नहीं होता। पडितराजका सिद्धात है कि रस भाव आदि संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भी होते हैं—अर्थात् उनके पूर्व विभाव आदि की पृथक् प्रतीति होकर, उसके अनतर उनकी पृथक् अनुभव की जानेवाली प्रतीति भी होती है। उदाहरण लीजिए—)

तल्पगताऽपि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति॥

× × × ×

सेज-सुई हू सुतनु जो साँस परसि अकुलाय।
वह अब पिय-कर हिय धरयो हरुए रही उठाय ॥

जो सुकुमारी नववधू, पलँग पर सोई हुई भी, श्वास के लगने मात्र को भी सहन नहीं करती थी—श्वास लगने पर अङ्गो को सिकोडने लगती थी वही इस समय हृदय पर धरे हुए पति के हाथ को धीरे-धीरे हटा रही है।

पंडितराज ने लिखा है कि—यह पद्य मेरे निबध के अतर्गत आया है, अतः पूर्व प्रकरण की आकाक्षा रखता है, इसलिए इसकी थोडी-सी व्याख्या कर दी जा रही है—

जो नववधू पलंग पर सोई हुई साँस लगते ही अङ्ग सिकोडने लगती थी, वह पति के परदेश जाने की पहली रात्रि में, पति कल परदेश जायगा अतः प्रवत्स्यत्पतिका होने के कारण सशङ्क प्रियतम द्वारा रखे हुए हाथ को नववधू के जातिस्वभाव के अनुसार हटा रही है, पर धीरे-धीरे।

यहाँ "धीरे-धीरे हटा रही है" इस कथन से रति नामक स्थायी भाव सलक्ष्यक्रम होकर व्यक्त हो रहा है। स्थायिभावादिक भी सलक्ष्यक्रम व्यग्य होते हैं, यह आगे सिद्ध किया जायगा।

काव्य के इसी (उत्तमोत्तम) भेद को 'ध्वनिकाव्य' कहा जाता है।

अप्पय दीक्षित के विवेचन का खंडन

अब, अप्पय दीक्षित ने 'चित्रमीमासा' नामक ग्रंथ में जो एक ध्वनि काव्य के उदाहरण का विवेचन किया है, उस पर विचार किया जा रहा है—

(उसका प्रसंग यों है। किसी नायिका ने एक दूती को अपने नायक के पास भेजा कि वह उसे बुला लावे, पर वह स्वय ही उससे रमण करके लौटी, और लगी इधर-उधर की बातें बनाने। विदग्ध नायिका को

यह बात बहुत खटकी, पर वह इस बात को स्पष्ट कैसे कह सकती थी, अतः उसने उससे यों कहा—)

निःशेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्र दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याऽधमस्याऽन्तिकम् ॥

हे झूठ बोलनेवाली दूती ! तू अपने बाधव (नायिका) के ऊपर जो बीत रही है—उसे जो दुःख हो रहा है—उसे नहीं जानती, अतएव तू यहाँ से बावड़ी नहाने गई थी, उस अधम (नायक) के पास नहीं । यह तेरी दशा से सूचित हो रहा है । देख, तेरे स्तनो के ऊपर के भाग का चदन हट गया है, नीचे के होठ का रग (ताबूल का) बिलकुल साफ हो गया है, नेत्र पूर्णतया (पर आतरिक अभिप्राय यह है कि प्रात भागो में) अजन-रहित हो गए हैं और यह तेरा दुबला-पतला शरीर रोमाचित हो रहा है ।

इस पर अप्पय दीक्षित यो विवेचन करते हैं । वे कहते हैं कि "स्तनों का चदन साड़ी की रगड से भी हट सकता है, इस कारण नायिका ने "सब" कहा, जिससे यह सिद्ध होता है कि सब चदन (बिना मर्दन के) साड़ी की रगड़ से नहीं हट सकता । पर नहाने से भी सब चदन हट सकता है, इस कारण "ऊपर के भाग का" कहा, जिससे यह सिद्ध होता है कि तूने स्नान नहीं किया, क्योंकि यदि तू स्नान करती तो सब स्थान का चदन उड़ जाता; पर तेरे तो केवल ऊपर के भाग का ही उडा है, ऐसा आलिंगन से ही हो सकता है । इसी प्रकार ताबूल लेने में यदि देरी हो जाय तो होठ का रंग फीका हो सकता है, सो नहीं है, यह समझने के लिए उसने "बिलकुल साफ

हो गया है" कहा, क्योकि ऊपर के होठ के रँगे हुए रहने पर नीचे का होठ बिना चुबन के और किस तरह साफ हो सकता है ?" यहाँ से लेकर "यह भी ध्वनि का उदाहरण है" यहाँ तक के ग्रथ से यह सिद्ध किया गया है कि जो "ऊपरी भाग"—आदि शब्दो से बने हुए वाक्यों के अर्थ हैं, वे संभोग के अग—आलिंगन, चुबन आदि के प्रतिपादन के द्वारा प्रधान व्यग्य (सभोग) के व्यक्त करने मे सहायता करते हैं। अर्थात् इस प्रकार के कथन से यह प्रकट होता है कि दूती की यह दशा सभोग से ही हुई है, अन्य किसी प्रकार नहीं।

पडितराज कहते हैं कि अप्पय दीक्षित का यह विवेचन अलकार-शास्त्र के तत्त्व को न समझने के कारण है, क्योकि ऐसा करना—इन बातों का अन्य सब वस्तुओ से हटाकर केवल सभोग में ही लगाना—सब पुराने ग्रंथों के एवं युक्ति के विरुद्ध है। देखिए—

"काव्य प्रकाशकार" ने पंचम उल्लास के अत में इसी उदाहरण का विवेचन करते हुए कहा है—"पूर्वोक्त उदाहरण में जो "चदन का हटना" आदि लिखे हैं, वे दूसरे कारणो से भी हो सकते हैं, केवल सभोग के द्वारा ही नही, क्योकि इसी श्लोक में उनको स्नान का कार्य बताया गया है, इस कारण वे कार्य एक ही वस्तु से संबध रखते हों ऐसे नहीं हैं, दूसरी वस्तुओ से भी हो सकते हैं।" और वहीं उन्होने "व्यक्ति-विवेक"—कार का जो यह मत है कि—

भम*धम्मिअ ! वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मालिदो देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरीअसीहेण॥

---

* किसी नायिका ने गोदावरी नदी के तीरवर्त्ती एक कुंज को अपना संकेतस्थान बना रखा था, पर वहाँ एक महात्माजी नित्य पुष्प लेने के लिये जाया करते थे, इस कारण संकेत का भंग होते देखकर उसने उनसे कहा—

इत्यादिक स्थलो मे हेतु से कार्य-ज्ञान होता है, और "हेतु से कार्य के ज्ञान होने का नाम अनुमान है, और व्यजना से भी यही बात होती है, अतः व्यजना और अनुमान में कोई भेद नहीं है।" इसका खडन करते हुए, "व्यभिचारी (अन्यगामी) और असिद्ध होने का जिन हेतुओ मे सदेह है, उनसे भी अर्थ ध्वनित हो सकता है, पर अनुमान नहीं हो सकता" यह स्वीकार किया है। इसी प्रकार "ध्वनि" (व्यजनावृत्ति और व्यग्यो के प्रतिपादन के मूलग्रथ) के कर्त्ता (राजानक आनदवर्धनाचार्य) ने भी माना है। तब यह सिद्ध हुआ कि "जिन शब्दो अथवा अर्थों से अन्य अर्थ ध्वनित होते हैं, वे व्यजक अर्थ साधारण ही होते हैं—अर्थात् व व्यग्य से भी सबध रखते हैं, और अन्यो से भी। अनुमान की तरह असाधारण नहीं" इस बात को प्रतिपादन करनेवाले प्रामाणिक विद्वानो के ग्रथो के साथ, उन व्यजको को असाधारण—किसी विशेष वस्तु से ही सबध रखनेवाले—बतानेवाले तुम्हारे ग्रथ का, विरोध स्पष्ट है।

यह तो हुई पुराने ग्रथो से विरोध की बात। अब हम आपसे पूछते हैं—आप जो "सब चंदन हट गया है" इत्यादि वाक्यार्थों को 'बावडो में नहाने' से हटाकर केवल सभोग के ही सिद्ध करने में लगा रहे हैं? सो क्यो लगा रहे हैं? इससे व्यग्य अर्थ निकल सके इसलिये?

हे धर्मचारिन्! अब आप विश्वस्त होकर फिरते रहिए, क्योंकि जिस कुत्ते से आप डरा करते थे, उस कुत्ते को, आज, गोदावरी नदी के जलप्राय प्रदेश के कुंज में रहनेवाले मत्त सिंह ने मार दिया।

तात्पर्य यह है कि घर में कुत्ते से डरनेवाले पडितजी! यदि आप कुञ्ज में पहुँचे तो फिर प्राणो की कुशल नहीं है—उन्हें बिदाई देनी ही पड़ेगी। इस से यह अभिव्यक्त होता है कि "आप वहाँ न जाइएगा।"

सो तो है नहीं, क्योकि व्यग्य अर्थ निकलने के लिये "उसको व्यक्त करनेवाली वस्तुएँ उसी से सबध रखनेवाली होनी चाहिएँ, वे और किसी से सबध न रखे" इस बात का होना आवश्यक नही है। देखिए, दूती नायक से सभोग करके नायिका के पास आई है। उसकी दशा देखकर नायिका उससे कहती है—

ओणिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मह मन्दभाइणीए केरं सहि! तुह वि अहह! परिहवइ॥

हे सखि! हाय! मुझ मदभागिनी के लिये तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिंता, आलस्य और दम भरजाने ने दबा रखा है, तू भी इनसे दुःखित हो रही है। यहाँ जागरण आदि बाते जैसी संयोगिनी (दूती) मे हैं, वैसी ही वियोगिनी (नायिका) मे भी हैं, एव ये ही बातें रोगादि से भी हो सकती हैं, अतः ये सर्वथा साधारण बाते हैं। पर इन्हीं बातो पर जब यह विचार करते हैं—इनकी कहनेवाली कौन है और वह इन बातो को किससे किस अवसर पर कह रही है तो स्पष्ट हो जाता है कि वह उसके सभोग को लक्ष्य करके कह रही है। अत. यह सिद्ध हुआ कि किसी बात का साधारण अथवा असाधारण होना उस बात से कोई व्यग्य नहीं निकाल सकता, किंतु उसका कहनेवाला कौन है, वह बात किससे कही जा रही है—इत्यादि के साथ उसको समझने पर व्यंग्य समझ मे आ सकता है। प्रत्युत यदि वह बात ऐसी हो कि जो किसी विशेष वस्तु से हो संबंध रखती हो, जो कि नैयायिको के सिद्धात में 'व्याप्ति' कहलाती है, तो वह अनुमान के अनुकूल होगी और व्यजना के प्रतिकूल—अर्थात् उससे व्यजना नहीं, अपितु अनुमान होगा। अब यदि आप कहें कि "ऊपरी भाग" आदि शब्दो से रचित होने पर भी "सब चदन उड़ गया है" इत्यादि वाक्यार्थ असाधारण न हुए, क्योंकि गीले कपडे से पुँछ जाने आदि से भी वे बाते हो सकती हैं, तो हम

आपसे पूछते हैं कि बावडी के स्नान मात्र के हटा देने से क्या फल हुआ, उसके लिये क्यो इतना परिश्रम किया गया ? क्योकि जिस तरह एक स्थान पर व्यभिचरित होना—सभोग के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से सबध रखना—अनुमान के प्रतिकूल है और व्यंजना के नहीं, उसी प्रकार अनेक स्थानो पर व्यभिचरित होना भी। अतः यह सब प्रयास व्यर्थ है।

यह तो हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और लीजिए। नायिका के इस कथन से यह व्यग्य निकालता है कि "तू उसके पास ही रमण करने गई थी"। विचारकर देखने से ज्ञात होगा कि यह व्यग्य दो बातो से बना हुआ है। उनमें से एक बात है "उसके पास ही गई थी" यह, और दूसरी है वहाॅ जाने का फल "रमण"। इनमें से "उसके पास ही गई थी" इस अंश को व्यग्य सिद्ध करना, तुम्हारे हिसाब से, कठिन है। तुमने जो रीति बताई है, उसके अनुसार "सब चदन हट गया" इत्यादि विशेषण वाक्यो के अर्थ बावडी के स्नान मे तो लग नहीं सकते, क्योकि तुमने वैसा करने मे बाधा उपस्थित कर दी है, समझा दिया है कि वे वापी-स्नान मे नहीं लग सकते, अत. वाच्यार्थ मे सब वाक्य के जो प्रधान अर्थ हैं कि "बावडी नहाने गई थी, उसके पास नहीं गई" इन शब्दो में विपरीत लक्षणा करनी पडेगी, तब उनका यह अर्थ होगा कि "बावडी नहाने नहीं गई", "उसके पास ही गई थी"। अर्थात् वाच्य अर्थ में जहाॅ "गई थी" कहा है, वहाॅ "नहीं गई थी" अर्थ करना पडेगा और जहाॅ "नहीं गई थी" कहा है, वहाॅ "गई थी" अर्थ करना पडेगा, अन्यथा बात ही न बनेगी। और वाच्यार्थ के बाधित होने पर जो अर्थ प्रकट होता है, वह व्यंजना से बोधित होता है अथवा व्यग्य होता है, यह कहना उचित नहीं, क्योकि वह लक्षणा का ही विषय है व्यंजना का नहीं। जैसे "अहो पूर्ण सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः—अर्थात् आश्चर्य है कि यह सरोवर पूरा

भरा हुआ है, जिसमे मनुष्य लेटते हुए नहा रहे हैं" इस वाक्य में नहानेवाले मनुष्यो का विशेषण जो "लेटते हुए" है, उससे प्रकट होता है कि "तालाब भरा हुआ नहीं है" इस अर्थ को कोई भी व्यग्य नही बता सकता, यह लक्ष्य ही है। तब सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त व्यग्य का एक अश "उसके पास गई थी" यह तो, आपके हिसाब से, व्यग्य है नही, लक्ष्य है।

अब यदि आप कहे कि "उसके पास ही गई थी" इस अश के लक्ष्य होने पर भी जो जाने का फल है "रमण", वह तो व्यग्य ही रहा, क्योकि वह तो लक्षणा से ज्ञात हो नही सकता। सो भी नहीं, क्योकि आपने ही "चित्रमीमासा" मे लिखा है—"अधम शब्द का अर्थ हीन है, और हीन दो प्रकार से हो सकता है—एक जाति से, दूसरे कर्म से। सो उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नही सकती......" इत्यादि। तब यह सिद्ध हुआ कि "रमण" भी अर्थापत्ति प्रमाण से स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योकि जो बात किसी दूसरी रीति से उपस्थित हो जाय, उसे शब्द का अर्थ नही माना जाता। पर यदि समझ लो कि "अर्थापत्ति" कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, जैसा कि कई एक दर्शनकारो ने माना है, तो वहाँ जाने का फल "रमण" व्यग्य हो सकता है, पर तथापि जो बात तुम चाहते हो, वह सिद्ध नहीं हो सकती। क्योकि "स्तनो के ऊपरी भाग का चदन हटना" आदि एवं नायक की "अधमता", ये जो वाच्य हैं, वे, तुम्हारे हिसाब से, केवल दूती के सभोग से ही सिद्ध हो सकते हैं, अन्य किसी प्रकार—अर्थात् बावड़ी में नहाने आदि—से नहीं, इस कारण यह काव्य 'गुणीभूतव्यग्य' हो जायगा, क्योकि बेचारे व्यग्य को ही उन वाच्य अर्थों को सिद्ध करना पडेगा, सो वह वाच्यो की अपेक्षा गौण हो जायगा। तब तुमने जो इसे "ध्वनि-काव्य" माना है सो न हो सकेगा। इस तरह युक्ति के द्वारा भी तुम्हारा सब आडम्बर व्यर्थ ही

सिद्ध होता है। सो अत्यत चतुर नायिका के कहे हुए इन विशेषणो का वाच्य अर्थ (वापीस्नान) और व्यग्य अर्थ (सभोग) दोनो में साधारण होना--दोनो मे बराबर लग जाना—ही उचित है, न कि एक (सभोग) ही मे लगना।

तब उनको यो लगाना चाहिए--"हे बाधव जन के (मेरे) ऊपर आई हुई पीडा को न जाननेवाली स्वार्थ में तत्पर दूती ! तू स्नान का समय न चूक जाय इसलिये, नदी और मेरे प्रिय दोनो के पास न जाकर, मेरे पास से, स्नान करने के लिये सीधी बावड़ी चली गई, उस, दूसरे की पीड़ा के अनभिज्ञ होने के कारण दुःख देनेवाले अतएव, अधम के पास नही। यह तेरी दशा से सूचित होता है। देख, बावड़ी मे बहुतेरे युवा लोग नहाने के लिये आया करते हैं, उनसे लज्जित होने के कारण, तूने अपने हाथों को कधे पर धरकर और उनमें आँटी लगाकर स्तनों को मला है, अतः ऊँचा होने के कारण स्तनों का ऊपरी भाग ही मला जा सका और छाती का चदन लगा ही रह गया। इसी तरह, जल्दी में, अच्छी तरह न धोने के कारण ऊपर के होठ का रंग पूरा न उड सका, पर नीचे के होठ में कुल्ला के जल, दाँत साफ करने की ऑंगुली आदि की रगड़ अधिक लगती है, इस कारण वह बिलकुल साफ हो गया। नेत्रो में जल केवल लग ही पाया, अतः ऊपर-ऊपर से ही काजल हट सका। इसी प्रकार तू दुबली है और ठड पड़ रही है, सो शरीर रोमाचित हो गया है।" इस तरह चतुर नायिका का उक्ति के अभिप्राय का छिपा हुआ होना ही उचित है, नहीं तो उसकी सब चतुराई मिट्टी में मिल जायगी।

इस प्रकार जब इन वाक्यो के अर्थ साधारण होंगे, तो मुख्य अर्थ में कोई बाधा न आवेगी, अतः यहाँ लक्षणा के लियेस्थान हीं न रहेगा। वाच्यार्थ समझने के अनतर जब यह सोचेंगे कि यह बात कौन किससे

कह रही है, बात नायक के विषय की है, तब यह प्रतीत होगा--दुःख देने के कारण नायक को "अधम" कहा जा रहा है। और देखिए, वह अधम शब्द वाच्य और व्यग्य दोनो अर्थों में समान रूप से अन्वित हो जाता है। फिर, "नायक ने, पहले, जो किसी प्रकार की बुराइयाँ की थीं, उसके हिसाब से, नायिका ने उसे दुःखदायी बताया है", वाच्य अर्थ में इस प्रकार समझा हुआ अधम शब्द व्यंजना-शक्ति के द्वारा "दूती से सभोग करने के कारण जो उसका दुःखदायित्व हुआ है" उस रूप में परिणत हो जाता है--उस शब्द से यह सिद्ध हो जाता है कि "नायक ने दूती से सभोग किया है।" यह है अलकारशास्त्र के ज्ञाताओ के सिद्धात का सार।

इससे "अधम-शब्द का अर्थ हीन है, और हीन दो प्रकार से हो सकता है—एक जाति से, दूसरे कर्म से। सो उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से हीन तो बता नहीं सकती। अब रही कर्म से हीनता, सो उसे भी, दूती के सभोग आदि, जो अपने (नायिका के) अपराध रूप में परिणत हो सकते हैं, ऐसे कर्म के अतिरिक्त अन्य तो बता नहीं सकती। और वैसे कर्म भी जो दूती के भेजने के पहले हुए थे, वे तो सब सह ही लिएगए हैं, सो उनको उघाड़ने की आवश्यकता नहीं। तब अततोगत्वा, सब बखेडे के हटने के बाद, दूती का सभोग ही सिद्ध होता है।" यह जो आप (अप्पय दीक्षित) ने लिखा है, वह भी खडित हो जाता है। क्योकि चतुर और उत्तम नायिका सखियों के सामने, उसी (दूती) से संभोग करना जो अपने नायक का अपराध है, उसे स्पष्ट प्रकट करे, यह अत्यन्त अनुचित है, अतः जिन पुराने अपराधो को वह सह चुकी है, वे बडे असह्य थे, इस कारण नायिका को दूती के सामने उन्हीं का प्रतिपादन करना अभीष्ट था। बस, इतने में सब समझ लीजिए।

उत्तम काव्य

जिस काव्य मे व्यंग्य चमत्कार-जनक तो हो, पर प्रधान न हो, वह उत्तम काव्य होता है।

यहाँ जो व्यग्य वाच्य-अर्थ की अपेक्षा तो प्रधान हो पर दूसरे किसी व्यग्य की अपेक्षा गौण हो, उस व्यग्य मे अतिव्याप्ति न हो जाय, इसके लिये "प्रधान न हो" लिखा है, क्योकि जिसमे व्यग्य की अपेक्षा व्यग्य गौण भले ही हो, किन्तु वाच्य की अपेक्षा प्रधान हो वह 'ध्वनि काव्य' ही होता है। और, जिन वाच्य-चित्र-काव्यो में व्यग्य लीन हो जाता है—उसका कुछ भी चमत्कार नहीं रहता—किंतु केवल अर्थालंकारो—उपमादिकों—की ही प्रधानता रहती है, उनमे अतिव्याप्ति न हो जाय, इसलिये लिखा है कि "चमत्कार जनक हो"।

चित्रकाव्य भी गुणीभूतव्यङ्ग होता है

यहाँ एक विचार और है। काव्यप्रकाश के टीकाकारो ने "अतादृशि गुणीभूतव्यग्य व्यग्ये तु मध्यमम्" इस गुणीभूतव्यंग्य के लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "गुणीभूतव्यग्य उसी का नाम है, जो "चित्र (अलकारप्रधान) काव्य" न हो। पर यह उनका कथन ठीक नहीं, क्योकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि अलकार जिनमें प्रधान हों, उन काव्यो मे अव्याप्ति हो जायगी—अर्थात् उनका यह लक्षण न हो सकेगा। और होना चाहिए अवश्य, क्योकि सभी अलकारशास्त्र के ज्ञाताओं ने उनको गुणीभूतव्यग्य और चित्र दोनों माना है। अतः जो चित्र-काव्य हो, वह गुणीभूतव्यंग्य न हो सके यह कोई बात नहीं।

अच्छा अब उत्तम काव्य का उदाहरण लीजिए—

राघवविरहज्वालासंतापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥

❀ ❀ ❀ ❀

रघुवर - विरहानल तपे सह्य-शैल के अत ।
सुख सों सोए, शिशिर में, कपि कोपे हनुमत ॥

भगवान् रामचद्र के विरहानल की ज्वालाओ से संतप्त सह्याचल के शिखरो पर, ठड के दिनो में, सुख से सोए हुए बंदर हनुमान् पर क्रोध कर रहे हैं।

इस श्लोक का व्यंग्य अर्थ यह है कि "जानकीजी की कुशलता सुनाकर हनुमान् ने रामचंद्र को शीतल कर दिया, उनका विरह-ताप शात हो गया" और वाच्य अर्थ है "हनुमान् पर बदरो का अकस्मात् उत्पन्न होनेवाला क्रोध"। सो यह वाच्य अर्थ व्यग्य के द्वारा ही सिद्ध होता है, क्योकि पहले जब व्यग्य के द्वारा यह समझ लेते हैं—रामचद्र का विरह शात होने से सह्याचल के शिखर ठडे हो गए, तब यह सिद्ध होता है कि—इसी कारण, ठड के मारे, बदरो ने हनुमान् पर क्रोध किया। अतः यह व्यंग्य गौण हो गया, प्रधान नहीं रहा, क्योकि वाच्य अर्थ को सिद्ध करनेवाला व्यग्य गौण हो जाता है, यह नियम है। पर इस दशा में भी, जिस तरह दुर्भाग्य के कारण कोई राजागना किसी की दासी बनकर रहे, तथापि उसका अनुपम सौंदर्य झलकता ही है, ठीक उसी प्रकार इस व्यग्य में भी अनिर्वचनीय सुंदरता दृष्टिगोचर हो रही है।

यहाँ एक शंका होती है—इसी तरह "तल्पगताऽपि च सुतनुः .. .." इस पूर्वोक्त ध्वनि-काव्य के उदाहरण में "हाथ का धीरे धीरे हटाना" भी नई दुलहिन के स्वभाव के विरुद्ध है, क्योकि नवोढा के स्वभाव के अनुसार तो उसे झट हटा देना चाहिए था, इस कारण वह वाच्य भी व्यग्य (प्रेम) से ही सिद्ध किया जा सकता है—अर्थात् धीरे धीरे उठाना तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम यह समझ लें कि उसे पति से प्रेम होने लगा है, सो उसे उत्तमोत्तम काव्य कहना ठीक नहीं।

इसका उत्तर यह है—प्रतिदिन के सखियो के उपदेश आदि, जो कि विशेष चमत्कारी नहीं हैं, उनसे भी "धीरे धारे उठाना" सिद्ध हो सकता है, अतः उसके सिद्ध करने के लिये प्रेम ही की विशेष आवश्यकता हो, सो बात नही है। अत. यह व्यग्य वाच्यसिद्धि का अङ्ग नहीं है। किन्तु सहृदयो के हृदय मे जो पहले ही से यह बात उठ खडी होती है कि "यह वियोग के समय का प्रेम है" उसे ध्वनित किए बिना "धीरे धीरे उठाना", स्वतन्त्रतया, परम आनद के आस्वाद का विषय बनने का सामर्थ्य नहीं रखता, अत रसको ध्वनित करने में वह सहायक अवश्य है।

इसी तरह "निःशेषच्युतचन्दनम्....." आदि पद्यो में भी "अधमता" आदि वाच्य, व्यग्य (दूती-सभोग आदि) के अतिरिक्त अन्य अर्थ (अपराधान्तर) द्वारा सिद्ध हैं, और व्यग्य अर्थ को स्वयं अभिव्यक्त करते हैं सो वहाँ भी व्यग्य के गौण होने की शका न करनी चाहिए।

उत्तमोत्तम और उत्तम भेदों में क्या अतर है?

यद्यपि इन दोनो (उत्तमोत्तम और उत्तम) भेदो में व्यग्य का चमत्कार प्रकट ही रहता है, छिपा हुआ नहीं, तथापि एक मे व्यग्य की प्रधानता रहती है और दूसरे में अप्रधानता, इस कारण इनमें एक दूसरे की अपेक्षा विशेषता है, जिसे सहृदय पुरुष समझ सकते हैं।

चित्र-मीमासा के उदाहरण का खडन

अच्छा, अब एक "चित्रमीमासा" के उदाहरण का खंडन भी सुन लीजिए; (क्योंकि इसके बिना पडितराज को कल नहीं पड़ती)। वह उदाहरण यह है—

प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय! त्वमिहैष्यसि?

इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥

"प्यारे ! क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे, या मध्याह्न मे, अथवा उसके भी बाद ? किंवा पूरा दिन बीत जाने पर ही लौटेंगे ?" अश्रुधारा सहित इस तरह की बातो से बालिका (नवोढा) जहाँ सैकडो दिनो मे पहुँचनेवाले हैं, उस देश में जाना चाहते हुए प्रेमी के जाने का निषेध कर रही है—उसे जाने से रोक रही है।

इस पद्य मे "सारा दिन पूरी अवधि है, उसके बाद मैं न जी सकूँगी" यह व्यंग्य है, और वाच्य है "प्यारे के जाने का निवारण"। अब सोचिए कि "प्यारे का न जाना" तभी हो सकता है, जब कि वह यह समझ ले कि "यह एक दिन के बाद न जी सकेगी", सो यह वाच्य-अर्थ पूर्वोक्त व्यंग्य से सिद्ध होता है, इस कारण यह काव्य 'गुणीभूत-व्यंग्य (मध्यम)' है। यह है चित्रमीमासाकार का कथन।

अब पडितराज के विचार सुनिए। वे कहते हैं—गुणीभूतव्यंग्य का यह उदाहरण ठीक नही, क्योकि अश्रुधारासहित "क्या आप एक पहर के बाद लौट आवेंगे ?" इत्यादि कथन ही से 'प्यारे का न जाना' रूपी वाच्य सिद्ध हो जाता है, इस कारण व्यंग्य के गौण होकर उसे सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं। "बातो से ··जाने का निवारण कर रही है" इस कथन में "बातो से" यह तृतीया करण अर्थ में है, अतः स्पष्ट है कि वे (बातें) जाने के निवारण की साधक हैं। पर यदि आप कहें कि—व्यंग्य भी तो वाच्य को सिद्ध कर सकता है, इस कारण हमने उसे गुणीभूत लिखा है तो यह भी ठीक नहीं, क्योकि यदि ऐसा करोगे तो "निःशेषच्युतचन्दनम्···" आदिको में भी "दूती-सभोग" आदि व्यंग्य भी नायक की अधमता को सिद्ध करते हैं, इस कारण वे भी गुणीभूत हो जायँगे। हाँ, यदि आप कहें कि "अश्रुधारा सहित...

बातो" की तो "जाने के बाद बहुत समय तक न ठहरना" यह सिद्ध कर देने से भी चरितार्थता हो सकती है, अतः व्यंग्य-सहित होने पर ही उनसे "जाने का निवारण" सिद्ध हो सकता है, तो पडितराज कहते हैं अच्छा, "उसके बाद न जी सकूँगी" इस व्यग्य को वाच्यसिद्धि का अंग मानकर गौण समझ लीजिए, पर नायक-आदि विभाव, अश्रु-आदि अनुभाव एव चित्त के आवेग आदि सचारी भावो के सयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलभ-शृंगार के कारण इस काव्य को 'ध्वनित-काव्य' कहा जाय तो कौन मना कर सकता है* ।

मध्यम काव्य

जिस काव्य मे वाच्य-अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के साथ न रहता हो—उससे उत्कृष्ट हो, अर्थात् व्यंग्य का चमत्कार स्पष्ट न हो और वाच्य का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता हो, वह 'मध्यम काव्य' होता है ।

जैसे यमुना के वर्णन मे लिखा है कि—

तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरि-
भुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी......।

---

* इस बहस में पडितराज अप्पय दीक्षित को परास्त न कर सके; क्योंकि मध्य में प्रतीत होनेवाले व्यग्य के द्वारा भी ध्वनि एवं गुणीभूत-व्यग्य का व्यवहार होना काव्यप्रकाशकारादि साहित्य के प्राचीन आचार्यों को सम्मत है; अत. अत में विप्रलंभ शृंगार के ध्वनित होने से इस काव्य को गुणीभूतव्यंग्य न मानना कुछ भी अभिप्राय नहीं रखता; अन्यथा काव्यप्रकाशकारादि के दिए हुए "ग्रामतरुणं तरुण्याः..." आदि उदाहरण भी असगत हो जायँगे, क्योंकि अंततोगत्वा विप्रलभ की ध्वनि तो वे भी हैं ही ।

(यह यमुना) उस भगवती भागीरथी की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को ढूँढने के लिए लंबी की हुई एवं समुद्र के उदर मे घुसी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है।

यहाँ संस्कृत में 'क्यङ्' प्रत्यय से और हिंदी मे 'मानो' शब्द से वाच्य उत्प्रेक्षा ही चमत्कार का कारण है। यद्यपि यहाँ पर, गंगाजी में हिमालय पर्वत की भुजा की उत्प्रेक्षा की गई है, इस कारण 'श्वेतता' और "पुत्र मैनाक को ढूँढने के लिये.. समुद्र के उदर मे घुसी हुई" इस कथन से 'पाताल की तह तक पहुँचना' व्यग्य हैं, और उनका किसी अंश मे चमत्कार भी है ही, तथापि वह चमत्कार उत्प्रेक्षा के चमत्कार के अदर घुसा प्रतीत होता है, जैसे किसी ग्रामीण नायिका ने इतनी केसर चुपड ली हो कि उसका गोरापन केसर-रस के लेप के अदर छिप गया हो। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी वाच्य-अर्थ ऐसा नहीं है, जो व्यग्य अर्थ से थोड़ा बहुत सबंध रखे विना स्वत. रमणीयता उत्पन्न कर सके—अर्थात् वाच्य-अर्थ में रमणीयता उत्पन्न करने के लिये व्यग्य का संबध आवश्यक है, पर वैसे व्यंग्यो से कोई काव्य उत्तम कोटि मे नहीं आ सकता।

वाच्य चित्रों को किस भेद में समझना चाहिए?

इन्हीं दूसरे और तीसरे (उत्तम और मध्यम) भेदो मे, जिनमें से एक मे व्यग्य जगमगाता हुआ होता है और दूसरे में टिमटिमाता, सब अलंकारप्रधान काव्य प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् 'वाच्यचित्र' काव्यो का इन्हीं दोनो भेदो में समावेश है।

अधम काव्य

जिस काव्य मे शब्द का चमत्कार प्रधान हो और अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार को शोभित करने के लिये हो, वह 'अधम काव्य' कहलाता है,

जैसे—

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे ।
गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥

भक्त कहता है—सूर्य और चद्र जिनके नेत्र हैं, जो वेदो के शत्रुओ (असुरो) के शत्रु हैं और इद्र के वशजो (देवताओं) के रक्षक हैं, उन—गोपाल अथवा वृषभवाहन (शिव)—आपको बार-बार नमस्कार है।

इसमे स्पष्ट दिखाई देता है कि अर्थ का चमत्कार शब्द के चमत्कार मे लीन हो गया है—(श्लोक सुनने से शब्द के चमत्कार की ही प्रधानता प्रतीत होती है, अर्थ का चमत्कार कोई वस्तु नहीं।)

अधमाधम भेद क्यों नहीं माना जाता ?

यद्यपि जिसमे अर्थ के चमत्कार से सर्वथा रहित शब्द का चमत्कार हो, वह काव्य का पाँचवाँ भेद 'अधमाधम' भी इस गणना में आना चाहिए, जैसे—एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्तियमक और पद्मबध प्रभृति। परतु आनदजनक अर्थ के प्रतिपादन करनेवाले शब्द का नाम ही काव्य है, और उनमें आनदजनक अर्थ होता नहीं, इस कारण 'काव्यलक्षण' के हिसाब से वे वास्तव में काव्य ही नहीं हैं। यद्यपि महाकवियो ने पुरानी परपरा के अनुरोध से, स्थान-स्थान पर, उन्हें लिख डाला है, तथापि हमने उस भेद को काव्यो में इसलिये नहीं गिना कि वास्तव में जो बात हो उसी का अनुरोध होना उचित है, आँखे मींचकर प्राचीनो के पीछे चलना ठीक नहीं।

प्राचीनों के मत का खडन

कुछ लोग काव्यो के ये चार भेद भी नहीं मानते, वे—उत्तम, मध्यम एव अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानते हैं। उनके विषय में हमें यह कहना है कि अर्थ-चित्र और शब्द-चित्र दोनो को एक-

सा--अधम--ही बताना उचित नही, क्योकि उनका तारतम्य स्पष्ट दिखाई देता है। कौन ऐसा सहृदय पुरुष होगा कि जो—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला
निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥❀

एवम्

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणु-
स्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य
पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽबभासे ॥†

इत्यादि काव्यो के साथ

❀ यह हयग्रीव राक्षस का वर्णन है। इसका अर्थ यों है—मित्रों के सम्मानदाता अथवा शत्रुओं के दर्पनाशक जिस हयग्रीव का, स्वेच्छापूर्वक भी (न कि किसी चढ़ाई आदि के लिये), घर से निकलना सुनकर घबडाए हुए इंद्र के द्वारा शीघ्रता से डलवाई गई हैं अर्गलाए जिसमें ऐसी अमरावती (देवताओं की पुरी), मानो, डर के मारे आखें मीच लेती है।

† यह रण-वर्णन है। इसका अर्थ यो है—घोडों की टापो आदि से जो रज उडी थी, उसकी जड (पृथ्वी से सटा हुआ भाग) रुधिर ने काट दी, और वह उस रुधिर के ऊपर ही ऊपर उडने लगी। वह (रज) ऐसे शोभित होती थी, मानो, आग के केवल अँगारे शेष रह गए हैं और उससे जो पहले निकल चुका था, वह धुआँ (ऊपर उड रहा) है।

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥❀

इत्यादि काव्यो की, जिनको केवल साधारण श्रेणी के मनुष्य सराहा करते हैं, समानता बता सकता है। और यदि तारतम्य के रहते हुए भी दोनो को एक भेद बताया जाता है, तो जिनमे बहुत ही कम (व्यग्य की प्रधानता और अप्रधानता का ही) अतर है, उन 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यग्य' को पृथक् पृथक् भेद मानने के लिये क्यो दुराग्रह है ? अत. काव्य के चार भेद मानना ही युक्तियुक्त है।

शब्द-अर्थ दोनों चमत्कारी हों तो किस भेद मे समावेश करना चाहिए ?

जिस काव्य मे शब्द और अर्थ दोनो का चमत्कार एक ही साथ हो, वहॉ यदि शब्द-चमत्कार की प्रधानता हो, तो अधम और अर्थ-चमत्कार की प्रधानता हो, तो मध्यम कहना चाहिए। पर यदि शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनो समान हो, तो उस काव्य को मध्यम ही कहना चाहिए। जैसे—

❀ वह गङ्गा आपके अज्ञान को शीघ्र नष्ट करे, जिसके स्वतंत्र उछलते हुए और स्वच्छ जलप्राय प्रदेश के खड्डो के प्रबल जल की परंपरा महर्षियों के अज्ञान का नाश करनेवाली है और जिस जलपरम्परा में वे लोग स्नान एव नित्यनियम किया करते हैं, जिसकी कंदराओं में, तरगो की चोट से ऊपर का भाग गिर जाने के कारण, बडे - बडे मेंढक दिखाई देते है और विस्तृत एव सघन वृक्षो के गिराने के कारण अधिकता से युक्त लहरें ही जिसका गहरा मद है।

उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतङ्केन्मत्तपुष्पन्धयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
सघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥

खिले हुए कमलो के मध्य से निकलते हुए (रात भर मधुपान करके) मत्त भ्रमरो का उल्लास (आनददाता), शोकरूपी दावानल से जिनका हृदय विकल हो रहा था उन चक्रवाकियो का निस्तार (दुःख मिटानेवाला), जिन्होने तेज को नष्ट कर दिया था उन अधकार के समूहों का उत्पात (नष्ट करनेवाला) और नेत्रो का पक्षपात (सहायक) एक तेज का पुञ्ज उदयाचल के प्रात से प्रकट हुआ।

इस श्लोक मे शब्दो से वृत्त्यनुप्रास की अधिकता और ओजगुण के प्रकाशित होने के कारण शब्द का चमत्कार है, और प्रसाद-गुण-युक्त होने के कारण शब्द सुनते ही ज्ञात हुए 'रूपक' अथवा 'हेतु' अलङ्काररूपी अर्थ का चमत्कार है। सो श्लोक मे दोनो—शब्द और अर्थ के चमत्कारो—के समान होने के कारण दोनों की प्रधानता समान ही है, इस कारण इसे मध्यम काव्य कहना ही उचित है। (हिंदी में, इस श्रेणी मे, पद्माकर के कितने ही पद्य आ सकते हैं।)

ध्वनि-काव्य के भेद

काव्य का उत्तमोत्तम भेद जो 'ध्वनि' है, उसके यद्यपि असख्य भेद हैं, तथापि साधारणतया कुछ भेद यहाँ लिखे जाते हैं। ध्वनि-काव्य दो प्रकार का होता है—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक।

उनमें से पहला अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि-काव्य तीन प्रकार का है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि। 'रसध्वनि' यह शब्द

यहाँ असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि (जिसमें ध्वनित करनेवाले और ध्वनित होने वाले के मध्य का क्रम प्रतीत नहीं होता) के लिये लाया गया है, अतः 'रस-ध्वनि' शब्द से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशाति, भावोदय, भावसधि और भावशबलता सबका ग्रहण समझना चाहिए।

दूसरा (लक्षणामूलक ध्वनि-काव्य) दो प्रकार का है—अर्थांतर-सक्रमित वाच्य और अत्यत-तिरस्कृत वाच्य। इस तरह ध्वनिकाव्य के पॉच भेद हैं।

उनमें से 'रस-ध्वनि' सबसे अधिक रमणीय है, इस कारण पहले रस-ध्वनि का आत्मा जो 'रस' है, उसका वर्णन किया जाता है।

रस का स्वरूप और उसके विषय में ग्यारह मत

प्रधान लक्षण

(१)

अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मट भट्ट का मत

(क)

सहृदय पुरुष, संसार में, जिन रति-शोक आदि भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है और कभी किसी का शोक इत्यादि, उनका उसके हृदय पर संस्कार जम जाता है—वे भाव वासनारूप से उसके हृदय में रहने लगते हैं। वे ही वासनारूप रति आदि स्थायी भाव, जो एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं और जिनका वर्णन आगे स्पष्ट रूप से किया जायगा, जब स्वतः प्रकाशमान और वास्तव में विद्यमान आत्मानद के साथ अनुभव किए जाते हैं, तो

'रस' कहलाने लगते हैं। पर उस आनदरूप आत्मा के ऊपर अज्ञान का आवरण छाया हुआ है—वह अज्ञान से ढँका हुआ है, और जब तक उस आत्मानद का साथ न हो, तब तक वासनारूप रति आदि का अनुभव किया नहीं जा सकता। अतः उसके उस आवरण को दूर करने के लिये एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न की जाती है। जब उस क्रिया के द्वारा अज्ञान, जो उस आनद का आच्छादक है, दूर हो जाता है, तो अनुभवकर्त्ता मे जो अल्पज्ञता रहती है, उसे जो कुछ पदार्थों का बोध होता है और कुछ का नहीं, वह लुप्त हो जाती है, और सासारिक भेद-भाव निवृत्त होकर उसे आत्मानंदसहित रति आदि स्थायी भावो का अनुभव होने लगता है। पूर्वोक्त अलौकिक क्रिया को विभाव, अनुभाव और सचारी भाव उत्पन्न करते हैं—अर्थात् वह उन तीनो के सयोग से उत्पन्न होती है।

(अब यह भी समझिए कि विभाव, अनुभाव और सचारी भाव क्या वस्तु हैं। जो रति आदि चित्तवृत्तियाँ आत्मानद के साथ अनुभव करने पर रसरूप में परिणत होती हैं, वे जिन कारणो से उत्पन्न होती हैं वे कारण दो प्रकार के होते हैं। एक वे जिनसे वे उत्पन्न होती हैं और दूसरे वे जिनसे वे उद्दीप्त की जाती हैं—उन्हे जोश दिया जाता है। जिन कारणो से उत्पन्न होती हैं उन्हें आलंबन कारण कहते हैं और जिनसे वे उद्दीप्त की जाती हैं उन्हें उद्दीपन। इसी तरह पूर्वोक्त चित्तवृत्तियो के उत्पन्न होने पर शरीर आदि में कुछ भाव उत्पन्न होते हैं, जो उन चित्त-वृत्तियो के कार्य होते हैं। और इसी प्रकार जब वे चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं तो उनके साथ अन्यान्य चित्तवृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं जो सहकारी होती हैं और उन चित्तवृत्तियो की सहायता करती हैं। इस बात को हम उदाहरण देकर समझा देते हैं। मान लीजिए कि शकुतला के विषय में दुष्यंत की अतरात्मा में रति अर्थात् प्रेम उत्पन्न हुआ, ऐसी दशा में रति का उत्पादन करनेवाली शकुतला

हुई, अत. वह प्रेम का आलंबन कारण हुई। चाँदनी चटक रही थी, वनलताएँ कुसुमित हो रही थीं, अतः वे और वैसी ही अन्य वस्तुएँ उद्दीपन कारण हुईं। अब दुष्यत का प्रेम दृढ हो गया और शकुतला के प्राप्त न होने के कारण, उसके वियोग मे, उसकी आँखों से लगे अश्रु गिरने। यह अश्रुपात उस प्रेम का कार्य हुआ। यह रति का अनुभाव बनेगी। इसी तरह उस प्रेम के साथ-साथ, उसका सहकारी भाव, चिंता उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा कि मुझे उसकी प्राप्ति कैसे हो! यह चिन्ता रति का व्यभिचारी भाव बनेगी। इसी तरह शोक-आदि मे भी समझो। पूर्वोक्त सभी बातो को हम संसार में देखा करते हैं। अब पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार)—ससार में, रति आदि के जो शकुतला आदि आलबन कारण होते हैं, चाँदनी आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे अश्रुपातादि कार्य उत्पन्न होते हैं और चिंता आदि सहकारी भाव होते हैं, वे ही जब, जहाँ जिस रस का वर्णन हो, उसके उचित एव ललित शब्दो की रचना के कारण मनोहर काव्य के द्वारा उपस्थित होकर सहृदय पुरुषो के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता और एक प्रकार की भावना—अर्थात् काव्य के बार-बार अनुसधान के प्रभाव से, उनमें से "शकुतला दुष्यत की स्त्री है" इत्यादिं भाव निकल जाते हैं, और अलौकिक बनकर—ससार की वस्तुएँ न रहकर—जो कारण हैं वे विभाव, जो कार्य हैं वे अनुभाव और जो सहकारी हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाने लगते हैं। इन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत (उक्त) अलौकिक व्यापार से आनन्दाश का आवरणरूप अज्ञान तत्काल निवृत्त कर दिया जाता है, अतएव ज्ञाता द्वारा अपने अल्पज्ञता आदि धर्मों को हटाकर, स्वप्रकाश होने के कारण, वास्तव निज स्वरूपानन्द (अनागन्तुक आनन्द) के साथ अनुभूयमान (सस्काररूपेण) पहले से स्थित वासनारूप रति-आदि (स्थायीभाव) 'रस' कहलाते हैं।

इसी बात को मम्मटाचार्य काव्यप्रकाश में कहते हैं—

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।

अर्थात् स्थायी भाव (रति आदि) जब पूर्वोक्त विभावादिको से व्यक्त होता है तो 'रस' कहलाता है। और 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि जिसका अज्ञानरूप आवरण नष्ट हो गया है उस चैतन्य का विषय होना—उसके द्वारा प्रकाशित होना। जैसे किसी शराव (सकोरा, कसोरा) आदि से ढका हुआ दीपक, उस ढक्कन के हटा देने पर, पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वय भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता और स्वयं प्रकाशित होता है।

रति-आदि अतःकरण के धर्म हैं और जितने अंतःकरण के धर्म हैं, उन सबको "साक्षिभास्य" माना गया है। 'साक्षिभास्य' किसे कहते हैं सो भी समझ लीजिए। ससार के जितने पदार्थ हैं, उनको आत्मा अंतः-करण से संयुक्त होकर भासित करता है और अतःकरण के धर्म—प्रेम आदि—उस साक्षात् देखनेवाले आत्मा के ही द्वारा प्रकाशित होते हैं, अतः साक्षिभास्य कहलाते हैं।

अब यह शका होती है कि रति आदि, जो वासनारूप से अत,-करण में रहते हैं, उनका केवल आत्मचैतन्य के द्वारा बोध हो सकता है, क्योकि वे अतःकरण के धर्म हैं, पर विभाव आदि पदार्थों—अर्थात् शकुं तला आदि का उस चैतन्य के द्वारा, कैसे भान होगा? क्योकि वे तो अन्तःकरण के धर्म हैं नहीं। इसका उत्तर यह है कि जैसे सपने में घोड़े आदि और जागते में (भ्रम होने पर) राँगे में चाँदी आदि साक्षिभास्य ही होते हैं, केवल आत्मा के द्वारा ही उनका भान होता है, क्योंकि वे कोई पदार्थ तो हैं नहीं, केवल कल्पना है, उसी प्रकार इन (विभावादि) को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं।

अब रही यह शंका कि ऐसा मानने से रस नित्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी उत्पन्न होनेवाली और नष्ट होनेवाली वस्तु के समान है, उसकी सदा तो स्फूर्ति होती नहीं; अतः व्यवहार से विरोध हो जायगा। सो इसका समाधान यह है कि—रस को ध्वनित करनेवाले विभावादिको के आस्वादन के (क्योंकि ये कल्पित हैं) अथवा उनके संयोग से उत्पन्न किए हुए अज्ञानरूप आवरण के भग की उत्पत्ति और विनाश के कारण रस की उत्पत्ति और विनाश मान लिए जाते हैं। जैसे कि वैयाकरण लोग अक्षरो को नित्य मानते हैं, तथापि वर्णों को व्यक्त करनेवाले तालु-आदि स्थानों की क्रियाओं की उत्पत्ति और विनाश को अकार आदि अक्षरों की उत्पत्ति और विनाश मान लेते हैं।

तब यह सिद्ध हुआ कि जब तक विभावादिकों की चर्वणा होती है—उनका अनुभव होता रहता है, तब तक ही आत्मानद का आवरणभग होता है और आवरणभंग होने पर ही रति-आदि प्रकाशित होते हैं, अतः जब विभावादिको की चर्वणा निवृत्त हो जाती है, तब प्रकाश ढॅक जाता है, इस कारण स्थायी भाव यद्यपि विद्यमान रहता है, तथापि हमें उसका अनुभव नहीं होता।

(ख)

(पहले पक्ष में यह बतलाया गया है कि विभावादिको के सयोग से एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है और उसके द्वारा पूर्वोक्त रीति से रस का आस्वादन होता है, पर इस अलौकिक क्रिया के न मानने पर भी काम चल सकता है, इस अभिप्राय से कहते हैं)—अथवा यो समझना चाहिए—

सहृदय पुरुष जो विभावादिकों का आस्वादन करता है, उसका सहृदयता के कारण, उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है और उस

प्रभाव के द्वारा, काव्य की व्यंजना से उत्पन्न की हुई उसकी चित्तवृत्ति, जिस रस के विभावादिकों का उसने आस्वादन किया है उसके स्थायी भाव से युक्त अपने स्वरूपानद को, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, अपना विषय बना लेती है—अर्थात् तन्मय हो जाती है, जैसी कि सविकल्पक* समाधि मे योगी की चित्तवृत्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि उसकी चित्तवृत्ति को उस समय स्थायी भाव से युक्त आत्मानद के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं रहता। अर्थात् पूर्वोक्त व्यापार के बिना, विभावादिको के आस्वादन के प्रभाव से ही, चित्तवृत्ति रति आदि सहित आत्मानद का अनुभव करने लगती है। यह आनद अन्य सासारिक सुखो के समान नहीं है, क्योकि वे सब सुख अंतःकरण की वृत्तियो से युक्त चैतन्यरूप होते हैं, उनके अनुभव के समय चैतन्य का और अतःकरण की वृत्तियो का योग रहता है, पर यह आनंद अंतः-करण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यरूप नहीं, किंतु शुद्ध चैतन्यरूप है, क्योकि इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनंदमय हो जाती है और आनद अनवच्छिन्न रहता है—उसका अंत.करण की वृत्तियो के द्वारा अवच्छेद नहीं रहता।

इस तरह, अभिनवगुप्ताचार्य ("ध्वनि" के टीकाकार) और मम्मट भट्ट (काव्यप्रकाशकार) आदि के ग्रथो के वास्तविक तात्पर्य के अनुसार "अज्ञानरूप आवरण से रहित चैतन्य से युक्त रति-आदि स्थायी भाव ही 'रस' हैं" यह स्थिर हुआ।

---

* समाधिया दो प्रकार की हैं—एक सप्रज्ञात और दूसरी असप्रज्ञात, इन्हीं का नाम सविकल्पक और निर्विकल्पक भी है। सविकल्पक समाधि में ज्ञाता और ज्ञेय का पृथक्-पृथक् अनुसंधान रहता है, पर निर्विकल्पक में कुछ नहीं रहता, योगी ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है।

(ग)

वास्तव में तो आगे जो श्रुति हम लिखनेवाले हैं उसके अनुसार, रति आदि से युक्त आवरण-रहित चैतन्य का ही नाम 'रस' है।

अस्तु, कुछ भी हो, चाहे ज्ञानरूप आत्मा के द्वारा प्रकाशित होने वाले रति-आदि को रस मानो अथवा रति-आदि के विषय में होनेवाले ज्ञान को, दोनो ही तरह यह अवश्य सिद्ध है कि रस के स्वरूप में रति और चैतन्य दोनो का साथ है। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि एक पक्ष में चैतन्य विशेषण है और रति आदि विशेष्य और दूसरे पक्ष में रति आदि विशेषण हैं और चैतन्य विशेष्य। पर दोनो ही पक्षों में, विशेषण अथवा विशेष्य किसी रूप में रहनेवाले चैतन्यांश को लेकर रस की नित्यता और स्वतःप्रकाशमानता सिद्ध है और रति आदि के अंश को लेकर अनित्यता और दूसरे के द्वारा प्रकाशित होना।

चैतन्य के आवरण का निवृत्त हो जाना—उसका अज्ञान-रहित हो जाना—ही इस रस की चर्वणा (आस्वादन) कहलाती है, जैसा कि पहले कह आए हैं, अथवा अंतःकरण की वृत्ति के आनंदमय हो जाने को (जैसा कि दूसरा पक्ष है) रस की चर्वणा समझिए। यह चर्वणा परब्रह्म के आस्वाद-रूप समाधि से विलक्षण है, क्योंकि इसका आलंबन विभावादि विषयों (सांसारिक पदार्थों) से युक्त आत्मानंद है और समाधि के आनंद में विषय साथ रह नहीं सकते। यह चर्वणा केवल काव्य के व्यापार (व्यंजना) से उत्पन्न की जाती है।

अब यह शंका हो सकती है कि इस आस्वादन में सुख का अंश प्रतीत होता है इसमें क्या प्रमाण है? हम पूछते हैं कि समाधि में भी सुख का भान होता है इसमें क्या प्रमाण है? प्रश्न दोनों में बराबर ही है। आप कहेंगे—

"सुखमात्यन्तिक यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्" (भगवद्गीता) अर्थात् समाधि मे जो अत्यंत सुख है, उसे बुद्धि जान सकती है, इन्द्रियाँ नहीं।" इत्यादि शब्द प्रमाणरूप में विद्यमान हैं; तो हम कहेंगे कि हमारे पास भी दो प्रमाण विद्यमान हैं। एक तो "रसो वै स." (अर्थात् वह आत्मा रसरूप है) और "रसꣳ ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी-भवति" (रस को प्राप्त होकर ही यह आनंदरूप होता है) ये श्रुतियाँ और दूसरा सब सहृदयों का प्रत्यक्ष। आप सहृदयो से पूछ देखिए कि इस चर्वणा में कुछ आनद है अथवा नहीं। स्वय अभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं—"जो यह दूसरे (ख) पक्ष में 'चित्तवृत्ति के आनदमय हो जाने' को रस की चर्वणा बताई गई है, वह शब्द के व्यापार (व्यजना) से उत्पन्न होती है, इस कारण शब्द-प्रमाण के द्वारा ज्ञात होनेवाली है और प्रत्यक्ष सुख का आलबन है—इसके द्वारा सुख का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इस कारण प्रत्यक्ष रूप है, जैसे कि "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मज्ञान।"

(२)

भट्टनायक का मत

साहित्यशास्त्र के एक पुराने आचार्य भट्टनायक का कथन है कि—तटस्थ रहने पर—रस से कुछ संबंध न होने पर—यदि रस की प्रतीति मान ली जाय तो रस का आस्वादन नहीं हो सकता, और 'रस हमारे साथ संबध रखता है' यह प्रतीत होना बन नहीं सकता, क्योंकि शकुंतलादिक सामाजिकों (नाटक देखनेवाले आदि) के तो विभाव हैं नहीं—वे उनके प्रेम आदि का तो आलबन हो नहीं सकतीं, क्योंकि सामाजिकों से शकुंतला आदि का लेना-देना क्या? और बिना विभाव के आलंबनरहित रस की प्रतीति हो नहीं सकती, क्योंकि जिसे हम अपना प्रेमपात्र समझना चाहते हैं, उससे हमारा कुछ सबंध तो अवश्य

होना चाहिए—उसमें वह योग्यता होनी चाहिए कि वह हमारा प्रेम-पात्र बन सके। आप कहेंगे कि 'स्त्री होने' के कारण वे साधारण रूप से विभाव बनने की योग्यता रख सकती हैं। सो यह ठीक नहीं। जिसे हम विभाव (प्रेमपात्र) मानते हैं, उसके विषय में हमें यह ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि 'वह हमारे लिये अगम्य नहीं है—उसके साथ हमारा प्रेम हो सकता है', और वह ज्ञान भी ऐसा होना चाहिए कि जिसकी अप्रामाणिकता (गैरसबूती) न हो—अर्थात् कम से कम, हम यह न समझते हो कि यह बात बिल्कुल गल्त है। अन्यथा स्त्री तो हमारी बहिन आदि भी होती हैं वे भी विभाव होने लगेंगी। इसी तरह करुण-रसादिक मे जिसके विषय में हम 'शोक' कर रहे हैं, वह अशोच्य (अर्थात् जिसका सोच करना अनुचित है, जैसे ब्रह्मज्ञानी) अथवा निंदित पुरुष (जिसके मरने से किसी को कष्ट न हो) न होना चाहिए। अब जिसे हम विभाव मानते हैं, उसके विषय में वैसे (अगम्य होने आदि के) ज्ञान की उत्पत्ति का न होना किसी प्रतिबंधक (उस ज्ञान को रोकनेवाले) के सिद्ध हुए बिना बन नहीं सकता। यदि आप कहें कि 'दुष्यंतादिक (जिनकी शकुंतलादिक प्रेमपात्र थीं) के साथ हमारा अपने को अभिन्न समझ लेना ही उस ज्ञान का प्रतिबंधक है, सो ठीक नहीं, क्योकि शकुतला का नायक दुष्यत पृथिवीपति और धीर पुरुष था और हम इस युग के क्षुद्र मनुष्य हैं, इस विरोध के स्पष्ट प्रतीत होने के कारण उसके साथ अपना अभेद समझना दुर्लभ है।

यह तो हुई एक बात। अब हम आपसे एक दूसरी बात पूछते हैं—यह जो हमें रस की प्रतीति होती है सो है क्या? दूसरा कोई प्रमाण तो इस बात को सिद्ध करनेवाला है नहीं, अतः (काव्य सुनने से उत्पन्न होने के कारण) इसे शब्द-प्रमाण से उत्पन्न हुई समझिए। सो हो नहीं सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर, रात-दिन व्यवहार में आने-वाले अन्य शब्दो के द्वारा ज्ञात हुए, स्त्री-पुरुषों के वृत्तांतों के ज्ञान में

जैसे कोई चित्ताकर्षकता नहीं होती, वही दशा इस प्रतीति की भी होगी। यदि इसे मानस ज्ञान समझे, यो यह भी नहीं बन सकता, क्योंकि सोच-साचकर लाए हुए पदार्थों का मन में, जो बोध होता है, उससे इसमें विलक्षणता दिखाई देती है। न इसे स्मृति ही कह सकते हैं; क्योकि उन पदार्थों का वैसा अनुभव पहले कभी नहीं हुआ है, और जिस वस्तु का अनुभव नहीं हुआ हो, उसकी स्मृति हो नहीं सकती। अतः यह मानना चाहिए कि अभिधा शक्ति के द्वारा जो पदार्थ समझाए जाते हैं, उन पर 'भावकत्व' अथवा 'भावना' नामक एक व्यापार काम करना है। उसका काम यह है—रस के विरोधी जो 'अगम्या होने आदि' के ज्ञान हैं, वे हटा दिए जाते हैं, और रस के अनुकूल 'कामिनीपन' आदि धर्म ही हमारे सामने आते हैं। इस तरह वह क्रिया दुष्यत, शकुतला, देश, काल, वय और स्थिति आदि सब पदार्थों को साधारण बना देती है, उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने देती कि जिससे हमारी रस-चर्वणा मे गडबड पडे। बस, यह सब कार्रवाई करके वह (भावना) ठडी पड जाती है। उसके अनतर एक तीसरी क्रिया उत्पन्न होती है, जिसका नाम है "भोगकृत्व", अर्थात् आस्वादन करना। उस क्रिया के प्रभाव से हमारे रजोगुण और तमोगुण का लय हो जाता है और सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, जिससे हम अपने चैतन्य-रूपी आनद को प्राप्त होकर (सासारिक झगड़ो से) विश्राम पाने लगते हैं, उस समय हमें इन झगड़ों का कुछ भी बोध नहीं रहता, केवल आनद ही आनद का अमुभव होता है। बस, यह विश्राम ही रस का साक्षात्कार (अनुभव) है, और 'रस' हैं इसके द्वारा अनुभव किए जानेवाले रति-आदि स्थायी भाव, जिनको कि पूर्वोक्त भावना नामक क्रिया साधारण रूप में—अर्थात् किसी व्यक्ति-विशेष से सबध न रखने-वाले बनाकर—उपस्थित करती हैं। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि सत्त्वगुण की वृद्धि के कारण जो आनद प्रकाशित होता है, उससे

अभिन्न ज्ञान (चैतन्य) का नाम ही 'भोग' है और उसके विषय (अनुभव में आनेवाले) होते हैं रति-आदि स्थायी भाव। अतः इस पक्ष में भी (प्रथम पक्ष की तरह ही) भोग किए जाते हुए (अर्थात् चैतन्य से युक्त) रति आदि अथवा रति आदि का भोग (अर्थात् रति आदि से युक्त चैतन्य) इन दोनो का नाम रस है। यह आस्वाद ब्रह्मानद के आस्वाद का समीपवर्त्ती या सहोदर कहलाता है, ब्रह्मानद रूप नहीं, क्योंकि यह विषयो (रति आदि) से मिश्रित रहता है और उस (ब्रह्मानद) मे विषयानद सर्वथा नहीं रहता। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त रीति से काव्य के तीन अश हैं—एक अभिधा, जिससे काव्यगत पदार्थों को समझा जाता है, दूसरा भावना, जिससे उनमें से व्यक्तिगतता हटा दी जाती है और तीसरा भोगीकृति, जिससे उनका आस्वादन किया जाता है।

इस मत में पहले मत से, केवल, भावकत्व अथवा भावना नामक अतिरिक्त क्रिया का स्वीकार करना ही विशेषता है, भोग आवरण से रहित चैतन्य रूप है और आवरण भग करनेवाली भोगीकृति नामक क्रिया तो (पहले मत की) व्यजना ही है, इसमे और उसमें कुछ अतर नही। एव भोगकृत्त्व तथा ध्वनित करना इन दोनों में भी कोई भेद नहीं। शेष सब पद्धति वही है।

(३)

नवीन विद्वानों का मत

साहित्यशास्त्र के नवीन विद्वानों का मत है—काव्य में कवि के द्वारा और नाटक में नट के द्वारा, जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिए जाते हैं, वे उन्हें सहृदयों के सामने उपस्थित कर चुकते हैं, तब हमें, व्यजना वृत्ति के द्वारा, दुष्यंत आदि की जो शकुतला आदि के विषय

में रति थी, उसका ज्ञान होता है—हमारी समझ में यह आता है कि दुष्यंत आदि का शकुतला आदि के साथ प्रेम था।

तदनंतर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अंतरात्मा कल्पित दुष्यंतत्व से आच्छादित हो जाता है—अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को, मन ही मन, दुष्यंत समझने लगते हैं। तब जैसे (हमारे) अज्ञान से ढँके हुए सीप के टुकडे में चाँदी का टुकड़ा उत्पन्न हो जाता है—हमें सीप के स्थान में चाँदी की प्रतीति होने लगती है, ठीक इसी तरह पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यतत्व से आच्छादित अपने आत्मा में, साक्षिभास्य शकुंतला आदि के विषय में, अनिर्वचनीय (सत् असत् से विलक्षण, अतएव जिनके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता ऐसी) रति आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—अर्थात् हमें शकुतला आदि के साथ व्यवहारतः बिलकुल झूठें प्रेम आदि उत्पन्न हो जाते हैं, और वे (चित्तवृत्तियाँ) आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती हैं। बस, उन्हीं विलक्षण चित्तवृत्तियों का नाम "रस" है। यह रस एक प्रकार के (पूर्वोक्त) दोष का कार्य है और उसका नाश होने पर नष्ट हो जाता है—अर्थात् जब तक हमारे ऊपर उस दोष का प्रभाव रहता है तभी तक हमें उसकी प्रतीति होती है।

यद्यपि यह न तो सुखरूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है, तथापि इसकी प्रतीति के अनंतर उत्पन्न होनेवाले सुख के साथ जो इसका भेद है वह हमें प्रतीत नहीं होता, इस कारण हम इसका सुखशब्द से व्यवहार करते हैं। कह देते हैं कि 'रस' सुखरूप है।

इसी तरह इसके पूर्व, व्यंजनावृत्ति के द्वारा, शकुंतला आदि के विषय में जो दुष्यंत आदि की रति आदि का ज्ञान होता है उसका

और इस—झूठे प्रेम आदि—का भेद विदित नहीं होता; अतः हम इसे व्यंग्य और वर्णन करने योग्य कह देते हैं—अर्थात् हम यह कहने लगते हैं कि यह व्यंजना वृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है।

इसी प्रकार सहृदयो की आत्मा को आच्छादित करनेवाला दुष्यतत्व भी अनिर्वचनीय ही है, उसके भी स्वरूप का यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता। वह हमारे आत्मा का आच्छादन कैसे करता है सो भी समझ लेना चाहिए। वह यों है कि जब हम अपनेआपको दुष्यत समझ लेते हैं, तब यह समझते हैं कि यह रति आदि हमारे ही हैं, किसी अन्य व्यक्ति के नहीं, बस, इसी का अर्थ यह है कि हमको दुष्यंतत्व ने आच्छादित कर दिया। इस तरह मानने से, भट्टनायक की जो ये शकाएँ हैं कि— "दुष्यंत आदि के जो रति-आदि हैं उनका तो हमे आस्वादन नहीं हो सकता, अतः वे रस नहीं कहला सकते, और अपने रति-आदि व्यक्त नहीं हो सकते, क्योंकि उनका शकुतला आदि से कोई संबध नहीं। यदि दुष्यंत के साथ अपना अभेद माने तो वह हो नहीं सकता, क्योकि हमको 'वह राजा हम साधारण पुरुष' इत्यादि बाधक ज्ञान है—इत्यादि।" सो सब उड़ गई, इस पक्ष मे उनको अवकाश ही नहीं है।

और जो कि प्राचीन आचार्यों ने विभावादिको का साधारण होना (किसी विशेष व्यक्ति से सबंध न रखना) लिखा है, उसका भी बिना किसी दोष की कल्पना किए सिद्ध होना कठिन है, क्योकि काव्य में जो शकुतला आदि का वर्णन है, उसका बोध हमें शकुतला (दुष्यंत की स्त्री) आदि के रूप में ही होता है, केवल स्त्री के रूप में नहीं। तव यह तो सिद्ध हो ही गया कि शकुंतला आदि में जो विशेषता है उसे निवृत्त करने के लिये किसी दोष की कल्पना करना आवश्यक है, और तब उसी दोष के द्वारा

अपने आत्मा में दुष्यत आदि के साथ अभेद समझ लेना भी सहज ही सिद्ध हो सकता है। फिर यो ही क्यो न समझ लिया जाय कि किसी प्रकार की गडबड ही न रहे।

अब यहाँ एक शंका होती है कि आपने "अनिर्वचनीय रति-आदि के अनतर जो सुख उत्पन्न होता है उसका और रति का भेदज्ञान न होने के कारण हम उसे सुखरूप कहते हैं", इस कथन के द्वारा जो 'रति आदि के अनतर केवल सुख का उत्पन्न होना' स्वीकार किया है, सो ठीक नहीं, क्योकि रति के अनुभव से एक प्रकार का सुख उत्पन्न होता है यह बात बन सकती है, पर करुण रसादिको के स्थायी भाव जो शोक आदि हैं, वे दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं, यह प्रसिद्ध है, अतः उनको सहृदय पुरुषो के आनद का कारण कैसे कहा जा सकता है— यह कैसे माना जा सकता है कि उनसे भी सहृदयो को आनद ही मिलता है। प्रत्युत यह सिद्ध हो सकता है कि जिस तरह नायक को दुःख उत्पन्न होता है उसी प्रकार सहृदय मनुष्य को भी होना चाहिए। यदि आप कहे कि सच्चे शोक आदि से दुःख उत्पन्न होता है, कल्पित से नहीं, अतः नायको को दुःख होता है और (कल्पित शोक आदि के अनुभवकर्त्ता) सहृदय को नहीं। तो हम कह सकते हैं कि जब हमको रस्सी में सर्प का भ्रम होता है तब भी हमें भय और कप उत्पन्न नहीं होने चाहिएँ। दूसरे, यदि आप यह मानते हैं कि कल्पित शोकादिक से दुःख नहीं होता, तो हम कहेंगे कि आपके हिसाब से रति भी कल्पित है, अतः उससे सुख भी उत्पन्न नहीं होना चाहिए।

इसका समाधान यह है कि यदि सहृदयो के हृदय के द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि जिस तरह शृगाररस-प्रधान काव्यों से आनंद उत्पन्न होता है, उसी प्रकार करुण-रसप्रधान काव्यो से भी केवल आनंद ही उत्पन्न होता है, तो यह नियम है कि 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए—अर्थात् जैसे जैसे कार्य देखे जाते

हैं, तदनुरूप ही उनके कारण समझ लिए जाते हैं', सो जिस तरह काव्य के व्यापार को आनद का उत्पन्न करनेवाला मानते हो, उसी प्रकार उसे दुःख का रोकनेवाला भी मानना चाहिए। पर यदि आनद की तरह दु.ख भी प्रमाणसिद्ध है, उसका भी सहृदयों को अनुभव होता है, तो काव्य की क्रिया को दु.ख को रोकनेवाली न मानना चाहिए। काव्य की अलौकिक क्रिया से आनद और शोक आदि से दुःख, इस तरह अपने-अपने कारण से सुख और दुःख दोनो उत्पन्न हो जायँगे। उन्हे उत्पन्न होने दीजिए।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यदि करुण रसादिक में दुःख की भी प्रतीति होती है तो ऐसे काव्यो के बनाने के लिए कवि, और सुनने के लिये सहृदय क्यो प्रवृत्त होगे? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट का साधन हैं तो उनसे निवृत्त होना ही उचित है। इसका उत्तर यह है कि जिस तरह चदन का लेप करने से शीतलता-जन्य सुख अधिक होता है और उसके सूख जाने पर पपड़ियो के उखड़ने का कष्ट उसकी अपेक्षा कम, इसी प्रकार करुण-रसादिक मे भी वाछनीय वस्तु अधिक है और अवाछनीय कम, इस कारण सहृदय लोग उनमे प्रवृत्त हो सकते हैं। और जो लोग काव्यों में शोक आदि से भी केवल आनद की ही उत्पत्ति मानते हैं उनकी प्रवृत्ति मे तो कोई झगड़ा है ही नहीं।

हाँ, उनसे आपका यह प्रश्न हो सकता है कि यदि करुण-रसादिक में केवल आनद ही उत्पन्न होता है, तो फिर उनके अनुभव से अश्रुपातादिक क्यो होते हैं? इसका उत्तर यह है कि उन आनदो का यही स्वभाव है, अतः जो अश्रुपात होता है, वह दुःख के कारण नही। अतएव भगवद्भक्त लोग जब भगवान् का वर्णन सुनते हैं, तब उनको अश्रुपातादि होने लगते हैं, पर उस अवस्था में किंचिन्मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं होता।

आप कहेंगे कि करुण रसादिक में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि से अभेद मान लेने पर यदि आनद आता है, तो स्वप्न आदि में अथवा सन्निपात आदि में, अपने आत्मा में, शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनंद ही होना चाहिए, पर अनुभव यह है कि उन अवस्थाओ में केवल दुःख ही होता है, इस कारण यहाँ भी केवल दुःख होता है यही मानना उचित है। इसके उत्तर में हम कहते हैं कि यह काव्य के अलौकिक व्यापार (व्यंजना) का प्रभाव है कि जिसके प्रयोग में आए हुए शोक आदि सुदरतारहित पदार्थ भी अलौकिक आनंद को उत्पन्न करने लगते हैं, क्योंकि काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाला रुचिर आस्वाद, अन्य प्रमाणो से उत्पन्न होनेवाले अनुभव की अपेक्षा विलक्षण है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि पूर्वोक्त वाक्य के "काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाला" इस अंश का अर्थ है, काव्य के व्यापार से उत्पन्न होनेवाली भावना से उत्पन्न हुए रति आदि का आस्वाद, अतः रस का आस्वाद यद्यपि काव्य के व्यापार से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु काव्य के बार-बार अनुसधान से उत्पन्न होता है, तथापि कोई हानि नहीं।

अब रही, शकुतला आदि में अगम्या होने का ज्ञान हमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है, यह बात, सो इसका उत्तर यह है कि अपने आत्मा में दुष्यंत से अभेद समझ लेने के कारण हमें उस (अगम्या होने) की प्रतीति नहीं होती।

(४)

अन्य मत

इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानो का मत है कि व्यंजनानामक क्रिया के (जिसे प्राचीन विद्वान् मानते हैं) और अनिर्वचनीय

ख्याति के (जिसे नवीन विद्वान् मानते हैं) मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, अर्थात् रस न तो व्यंग्य है न अनिर्वचनीय, किंतु शकुंतला आदि के विषय में रति आदि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मनःकल्पित ज्ञान ही 'रस' है; अर्थात् रस एक प्रकार का भ्रम है, जो पूर्वोक्त व्यक्ति से हमें झूठे ही अभिन्न कर डालता है। उसके द्वारा, पूर्वोक्त दोष के प्रभाव से, हमको अपने आत्मा में दुष्यंत आदि की तद्रूपता समझ पड़ने लगती है और उसका उत्पन्न करनेवाला है काव्यगत पदार्थों का बार-बार अनुसंधान अर्थात् काव्य के पदार्थों को बार बार सोचने-विचारने से इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है। जो दुष्यत-शकुंतला आदि इस ज्ञान के विषय होते हैं, अर्थात् जिनके विषय मे यह भ्रम होता है, उनका संसार की व्यावहारिक वस्तुओ से कोई सबध नहीं।

आप कहेंगे कि यदि आप इस तरह के मनःकल्पित ज्ञान को ही रस मानते हैं, तो स्वप्न आदि में जो इसी प्रकार का मानस ज्ञान होता है, आपके हिसाब से, वह भी रस ही हुआ। वे कहते हैं, नहीं, इसी लिये तो हमने लिखा है कि 'वह काव्य के बार-बार अनुसंधान से उत्पन्न होता है'। स्वप्न के बोध में वह बात नहीं है, अतः वह रस नहीं हो सकता। इसी कारण स्वप्नादिक में वैसा आह्लाद नहीं होता।

इस तरह मानने पर भी एक आपत्ति रहती है कि जो रति-आदि हमारे हैं ही नहीं—सर्वथा मनःकल्पित हैं, उनका अनुभव ही कैसे होगा? पर यह आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यह रति-आदि का अनुभव लौकिक तो है नहीं, कि इसमें जिन वस्तुओ का अनुभव होता है उनका विद्यमान रहना आवश्यक हो, किंतु भ्रम है। आप कहेंगे कि जब रस भ्रमरूप है, तो 'रस का आस्वादन होता है' यह व्यवहार कैसे सिद्ध हो सकता है, क्योंकि भ्रम तो स्वयं ज्ञानरूप है उसका आस्वादन

क्या ? इसका उत्तर यह है कि भ्रम रति-आदि के विषय में होता है, और रति-आदि का आस्वादन हुआ करता है (यह अनुभवसिद्ध है), बस, इसी आधार पर यह व्यवहार हो गया है कि 'रसो का आस्वादन होता है'। वास्तव मे 'रस' का आस्वादन नही होता। वे लोग यह भी कहते हैं।

जिसे इस मत के अनुसार रस कहते हैं, यह ज्ञान तीन प्रकार मे हो सकता है। एक यह कि शकुंतला-आदि के विषय में जो रति है उससे युक्त मैं दुष्यत हूँ, दूसरा यह कि शकुतला आदि के विषय में जो रति है उससे युक्त दुष्यंत मैं हूँ और तीसरा यह कि मै शकुतला आदि के विषय में जो रति है उससे और दुष्यंतत्व से युक्त हूँ। अतः इन लोगो को तीनो प्रकार के ज्ञान को रस मानना पडेगा।

अब एक बात और सुनिए। इन तीनो ज्ञानो में जो रति विशेषणरूप से प्रविष्ट हो रही है, उसकी प्रतीति काव्य के शब्दों से तो होती नहीं, क्योकि उसमें रति-आदि के वाचक शब्द लिखे नहीं रहते, और उसका बोध करानेवाली व्यजना को ये स्वीकार नहीं करते, अतः इन्हें रति-आदि के ज्ञान के लिए, पहले, (नट-आदि की) चेष्टा-आदि कारणो से सिद्ध अनुमान स्वीकार करना पडेगा। अर्थात् इनके मत मे रति-आदि का, चेष्टा आदि द्वारा, अनुमान कर लिया जाता है।

(५)

एक दल (भट्टलोल्लट इत्यादि) का मत

विद्वानों के एक दल का मत है कि दुष्यत-आदि मे रहनेवाले जो रति-आदि हैं, प्रधानतया, वे ही रस हैं, उन्हीं को, नाटक मे, सुंदर विभाव आदि का अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यत आदि का पार्ट लेनेवाले नट पर, और काव्य में काव्य पढनेवाले व्यक्ति के ऊपर आरोपित करके हम उसका अनुभव कर लेते हैं। इस मत मे भी रस का अनुभव, पूर्व मत की तरह, (तीनो प्रकार से) 'शकुंतला के विषय में

जो रति है, उससे युक्त यह (नट) दुष्यत है' इत्यादि समझना चाहिए। इस मत के अनुसार 'शकुंतला के विषय मे जो रति है उससे युक्त यह (नट) दुष्यत है' इस बोध में दो अश हैं—एक नट-विषयक, दूसरा दुष्यंतविषयक। इनमें से विशेष्यरूप नट का बोध लौकिक है क्योकि नट समक्ष है और शेष अलौकिक है, क्योंकि दुष्य-न्तादिक भ्रान्तिमूलक हैं।

(६)

कुछ विद्वानों (श्रीशकुक प्रभृति) का मत है

कि दुष्यत-आदि मे जो रति-आदि रहते हैं, वे ही जब नट अथवा काव्यपाठक मे, उसे दुष्यत समझकर, अनुमान कर लिए जाते हैं, तो उनका नाम 'रस' हो जाता है। नाटक आदि में जो शकुतला-आदि विभाव परिज्ञात होते हैं, वे यद्यपि कृत्रिम होते हैं, तथापि उनको स्वाभाविक मानकर और नट को दुष्यत मानकर पूर्वोक्त विभावादिको से नट आदि में रति-आदि का अनुमान कर लिया जाता है। यद्यपि दुष्यत आदि के चरित्रों का उससे भिन्न नट आदि के विषय में अनुमित होना नियम-विरुद्ध है, तथापि अनु-मान की सामग्री के बलवान् होने के कारण, वह बन जाता है।

(७)

कितने ही कहते हैं

विभाव, अनुभाव और सचारी भाव ये तीनो ही सम्मिलित रूप में रस कहलाते हैं।

(८)

बहुतेरों का कथन है

कि तीनो मे जो चमत्कारी हो, वही रस है, और यदि चमत्कारी न हो तो तीनों ही रस नहीं कहला सकते।

(९)

इनके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं

कि बार-बार चिंतन किया हुआ विभाव ही रस है।

(१०)

दूसरे कहते हैं

कि बार-बार चिंतन किया हुआ अनुभाव ही रस है।

(११)

तीसरे कहते हैं

कि बार बार चिंतन किया हुआ व्यभिचारी भाव ही रसरूप में परिणत हो जाता है।

पूर्वोक्त मतों के अनुसार भरतसूत्र की व्याख्याएँ

यह तो हुआ रसो के विषय में मतभेद। अब इन सबका मूल जो भरत-मुनि का यह सूत्र है कि—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।"

इसकी पूर्वोक्त मतो के अनुसार व्याख्याएँ भी सुनिए। **प्रथम मत** के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के द्वारा, **संयोग** अर्थात् ध्वनित होने से, आत्मानद से युक्त स्थायी भाव रूप अथवा स्थायी भाव से उपहित आत्मानदरूप **रस की, निष्पत्ति** होती है अर्थात् वह अपने वास्तव रूप में प्रकाशित होता है" यह अर्थ है।

द्वितीय मत के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के (सं+योग) **सम्यक्** अर्थात् साधारण रूप से, **योग** अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से, स्थायी भाव रूप उपाधि से युक्त सत्त्वगुण की वृद्धि से प्रकाशित, अपने आत्मानंद-रूप रस की, **निष्पत्ति** अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार के द्वारा अनुभव होता है" अर्थ है।

तृतीय मत के अनुसार—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के, **संयोग** अर्थात् एक प्रकार की भावनारूपी दोष से, दुष्यंत आदि के अनिर्वचनीय रति-आदिरूप **रस** को, निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है" अर्थ है।

चतुर्थ मत के अनुसार—"विभावादिकों के, **संयोग** अर्थात् ज्ञान से, एक प्रकार के ज्ञानरूप **रस** की, **निष्पत्ति** अर्थात् उत्पत्ति होती है" अर्थ है।

पंचम मत के अनुसार—"विभावादिको के, **सयोग** अर्थात् सबध से, रस अर्थात् रति-आदि की, **निष्पत्ति** होती है अर्थात् वे (नट-आदि पर) आरोपित किए जाते हैं" अर्थ है।

षष्ठ मत के अनुसार—"कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे हुए विभावादिको के द्वारा, सयोग अर्थात् अनुमान के द्वारा, **रस** अर्थात् रति-आदि की, **निष्पत्ति** होती है अर्थात् नटादिरूपी पक्ष में अनुमान कर लिया जाता है" अर्थ है।

सप्तम मत के अनुसार—"विभावादिक तीनों के **संयोग** अर्थात् सम्मिलित होने से, **रस** की **निष्पत्ति** होती है अर्थात् रस कहलाने लगता है" अर्थ है।

अष्टम मत के अनुसार—"विभावादिको में से, **संयोग** अर्थात् चमत्कारी होने से—अर्थात् जो चमत्कारी होता है वही—**रस** कहलाता है" अर्थ है।

अब जो तीन मत शेष रहे, उनमे सूत्र का अर्थ संगत नहीं होता, अतः उनका सूत्र से विरोध पर्यवसित होता है—अर्थात् वे स्वतत्र मत हैं, सूत्रानुसारी नहीं।

---

१ जिसमें किसी वस्तु का अनुमान किया जाता है उस आधार को पक्ष कहते हैं, जैसे 'वह्निमान् पर्वतो धूमात्' यहा पर्वत पक्ष है।

विभावादिकों में से प्रत्येक को रसव्यंजक क्यो नहीं माना जाता

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इनमे से केवल एक—अर्थात् केवल विभाव, केवल अनुभाव अथवा केवल व्यभिचारी भाव—का किसी नियत रस को ध्वनित करना नहीं बन सकता, क्योकि वे जिस तरह एक रस के विभाव आदि होते हैं, उसी तरह दूसरे रस के भी हो सकते हैं।

(उदाहरण के लिये देखिए, व्याघ्र आदि जिस तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं उसी प्रकार वीर, अद्भुत और रौद्र-रस के भी हो सकते हैं, अश्रुपातादिक जिस तरह शृंगार के अनुभाव हो सकते हैं उसी प्रकार करुण और भयानक के भी हो सकते हैं, चिंतादिक जिस तरह शृंगार के व्यभिचारी हो सकते हैं उसी प्रकार करुण, वीर और भयानक के भी हो सकते हैं। अतः सूत्र मे तीनों को सम्मिलित रूप में ही ग्रहण किया गया है, प्रत्येक को पृथक् पृथक् नहीं।)

जब इस प्रकार यह प्रमाणित हो चुका कि तीनो के सम्मिलित होने पर ही रस ध्वनित होता है, तब, जहाँ-कही किसी असाधारण रूप में वर्णित विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव मे से किसी एक से ही रस का उद्बोध हो जाता है,

जैसे कि निम्नलिखित पद्य में—

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदपाण्डुः कपोलः॥

मालतीमाधव प्रकरण के प्रथम अङ्क का यह श्लोक है। माधव मकरद से मालती का वर्णन कर रहे हैं—(मालती के) अंग अत्यंत

रौंदी हुई कमल की जड़ के समान हो गए हैं, शरीरस्थितिमात्रोपयोगी क्रियाओ में परिवार के प्रार्थना करने पर, बडी कठिनता से, उसकी प्रवृत्ति होती है—अर्थात् एक बार उपक्रम-मात्र होकर रह जाता है—चेष्टा नहीं होती और नए हाथी-दाँत के टुकडे के समान श्वेत कपोल कलकरहित चद्रमा की शोभा को धारण करने लगे हैं—उनमे ललाई का लेश भी नहीं रहा है।

यहाँ केवल अनुभाव के वर्णन मात्र से ही विप्रलंभ-शृंगार का आस्वादन होने लगता है।

ऐसे स्थलो में अन्य दोनो (जैसे यहाँ विभाव और व्यभिचारी भाव) का आक्षेप कर लिया जाता है।

सो यह बात नहीं है कि रस कहीं सम्मिलितों से उत्पन्न होता है और कहीं एक ही से, किंतु तीनो के सम्मेलन के विना रस उत्पन्न होता ही नहीं, यह सिद्ध है।

सो इस तरह विद्वानो ने यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धियो के द्वारा, रस को, अनेक रूपों में समझा है—आज दिन तक भी इस विषय में विचार स्थिर नहीं हो पाए हैं, तथापि इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं कि इस ससार में, रस एक सौंदर्यमय वस्तु है और उसमे परमानद की प्रतीति हुए बिना नहीं रहती।

रस कौन-कौन और कितने हैं ?

पूर्वोक्त रस—शृंगार, करुण, शात, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स इस तरह—नौ प्रकार का है; और इसमें प्रमाण है भरत मुनि का वाक्य।

शान्तरस पर विचार

पर कुछ लोग कहते हैं—

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

अर्थात् शातरस के सिद्ध करने के लिये शाति की आवश्यकता है, और (सासारिक झगडो मे व्यापृत) नट में उसका होना असभव है, अतः नाट्य मे आठ ही रस होते हैं, उसमे शातरस का होना नही बन सकता।

इस बात को दूसरे विद्वान् मानना नहीं चाहते। वे कहते हैं—आपने जो यह हेतु दिया है कि 'नट मे शाति का होना असभव है', सो असगत है—इस बात का यहाँ मेल नहीं मिलता, क्योकि हम लोग नट में रस का अभिव्यक्त होना स्वीकार ही नहीं करते। वह शात रहे अथवा अशात, यदि सामाजिक लोग शातियुक्त हंगे, तो उन्हें रस का आस्वादन होने में कोई बाधा नहीं। आप कहेगे—यदि नट मे शाति न होगी तो वह शातरस का अभिनय ही प्रकाशित नहीं कर सकेगा, तो हम आपसे कहेंगे—नट जब भयानक अथवा रौद्ररस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय करता है, तब भी उसमें भय और क्रोध तो रहते नहीं, फिर वह उन रसो का अभिनय भी कैसे कर सकता है? यदि आप कहें कि नट में क्रोध आदि के न होने के कारण, क्रोधादिक के वास्तविक कार्य वध-बधन आदि के उत्पन्न न होने पर भी शिक्षा और अभ्यास आदि से बनावटी वध-बंधन आदि के उत्पन्न होने मे कोई बाधा नहीं होती—यह देखा ही जाता है, तो हम कहेंगे कि इस विषय में भी वैसा ही क्यो नहीं समझ लेते? दोनो स्थानों पर वही तो बात है।

हाँ, आप यह कह सकते हैं कि सामाजिकों में भी, नाटकादि के द्वारा, शातरस का उदय कैसे हो सकता है? क्योंकि विषयो से विमुख होना ही शातरस का स्वरूप है, और नाटक में उसके विरोधी पदार्थ—गीत, वाद्य आदि—विद्यमान रहते हैं, अतः विरोधियो के द्वारा रस का आविर्भाव सिद्ध होना असभव है। इसका उत्तर यह है कि जो लोग नाटक में शातरस को स्वीकार करते हैं, वे गीतवाद्य आदि को उसका विरोधी नहीं मानते, क्योंकि यदि ऐसा हो तो उनका फल—शातरस

का उदय—ही न बन पावे। दूसरे, यदि आप यावन्मात्र विषयों के चिंतन को शातरस के विरुद्ध मानें, तो शातरस का आलंबन—ससार का अनित्य होना एवं उसके उद्दीपन पुराणो का सुनना, सत्संग, पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन—आदि भी विषय ही हैं, अतः वे भी उसके विरोधी हो जायँगे। इस कारण, यह मानना चाहिए कि जिनमें शात-रस के अनुकूल—ससार से विरक्त होने के उपयोगी वर्णन होता है—वे भजन-कीर्त्तन आदि शातरस के अभिव्यजक हो सकते हैं। इसी कारण, 'सगीतरत्नाकर' के अतिम अध्याय मे—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तदचारु, यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः॥

अर्थात् 'नाटको में आठ ही रस हैं' यह जो कुछ लोगो की शंका है, सो ठीक नहीं; क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता—इत्यादि लिखकर यह सिद्ध कर दिया है कि नाटकों में भी शात-रस है। परतु जो लोग 'नाटको में शातरस नहीं है' यह मानते हैं, उन्हें भी, किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण, एव 'महाभारतादि ग्रंथों में शातरस ही प्रधान है' यह बात सब लोगो के अनुभव से सिद्ध होने के कारण, उसे (शातरस को) काव्यों में अवश्य स्वीकार करना पडेगा। इसी कारण, मम्मट भट्ट ने भी "अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः (नाटक में आठ रस माने गए हैं)" इस तरह प्रारम करके "शान्तोऽपि नवमो रसः (शात भी नौवॉ रस है)" इस तरह उपसंहार किया है। अर्थात् उनके हिसाब से भी काव्यो में शातरस सिद्ध है। अतः रस नौ हैं, इस बात में कोई सदेह नहीं।

स्थायी भाव

पूर्वोक्त रसों के, क्रम से, रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा ये स्थायी भाव होते हैं। अर्थात् शृंगार

का रति, करुण का शोक, शांत का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय और बीभत्स का जुगुप्सा स्थायी भाव होता है।

रसों और स्थायी भावों का भेद

अच्छा, अब, रसों से स्थायी भावों में क्या भेद है, सो भी समझ लीजिये। **पहले और दूसरे मतों में**—जिस तरह घडे आदि का घडे आदि के अन्दर आए हुए आकाश से भेद है, उस तरह, **तीसरे मत में**—जिस तरह सच्ची चाँदी से मन:—कल्पित चाँदी में भेद है, उस तरह, और **चौथे मत में**—जिस तरह विषय (ज्ञानगम्य पदार्थ) का ज्ञान से भेद है, उस तरह स्थायी भावों का रसों से भेद समझना चाहिए।

ये स्थायी क्यों कहलाते हैं?

ये रति आदि भाव किसी भी काव्यादिक में उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं, अतः इनको स्थायी भाव कहते हैं। आप कहेंगे कि ये तो चित्तवृत्तिरूप हैं, अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हें स्थायी कैसे कहा जा सकता है? और यदि वासनारूप से इनको स्थिर माना जाय तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अंतःकरण में वासनारूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वे भी स्थायी भाव हो जायँगे। इसका उत्तर यह है कि यहाँ इन वासनारूप भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना ही स्थिर-पद का अर्थ है। व्यभिचारी भावों में यह बात नहीं होती, क्योंकि उनकी चमक बिजली की चमक की तरह अस्थिर होती है—वे एक बार प्रकट होकर फिर ओझल हो जाते हैं; अतः वे स्थायी भाव नहीं कहला सकते*। जैसा कि लिखा है—

---

* यहाँ म० म० श्रीगंगाधरशास्त्रीजी की टिप्पणी है, जिसका अभिप्राय यह है—यदि वेदांतियों के मत के अनुसार यह माना जाय

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः ॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥

तथा—

सजातीयविजातियैरतिरस्कृतमूर्तिमान् ।
यावद्रसं वर्त्तमानः स्थायी भाव उदाहृतः ॥

अर्थात् जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, किन्तु विरुद्ध भावो को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, उसका नाम स्थायी है और वह लवणाकरके समान है। जिस तरह लवणाकर समुद्र में गिरने से सब वस्तुएँ लोन बन जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव से मिलकर सब भाव तद्रूप हो जाते हैं।

जो भाव बहुत समय तक चित्त में रहते हैं, विभावादिकों से

कि कोई भी चित्तवृत्ति उसके विरुद्ध चित्तवृत्ति उत्पन्न होने तक स्थिर रहती है, तो स्थिर-पद का बार बार अभिव्यक्त होना अर्थ करने की आवश्यकता नहीं। और जो 'विरुद्धै ......' इस कारिका में विरुद्ध भावों से भी स्थायी भाव का विच्छेद न होना लिखा है, सो लौकिक दृष्टि से जो भाव विरुद्ध दिखाई देते हैं उनके विषय में लिखा गया है। काव्य में तो 'अय स रसनोत्कर्षी......' इत्यादि स्थलों में लोकदृष्टया विरुद्ध भाव—प्रेम आदि—भी शोक आदि के पोषक ही होते हैं—यह अनुभव-सिद्ध है। अन्यथा ऐसे स्थलों में 'प्रतिकूलविभावादिग्रह'रूपी रस-दोष होगा, जो किसी को भी सम्मत नहीं।

संबंध करते हैं और रस-रूप बन जाते हैं, वे यहाँ (साहित्य-शास्त्र मे) स्थायी नाम से प्रसिद्ध हैं। तथा—

जिस भाव का स्वरूप सजातीय और विजातीय भावों से तिरस्कृत न किया जा सके, और जब तक रस का आस्वादन हो तब तक वर्त्तमान रहे उसे स्थायी भाव कहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं—पूर्वोक्त रति-आदि नौ भावो में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायी भाव का परिचायक है। सो नहीं हो सकता, क्योंकि रति आदिकों में से किसी एक के बढे-चढे हुए होने पर (उन्हीं में से) यदि अन्य कोई भाव बढा-चढा न हो तो उसको व्यभिचारी भाव माना जाता है। बढे-चढे हुए का क्या अर्थ है सो भी समझ लीजिये। अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए का नाम 'बढा चढा हुआ है' और थोडे विभावादिको से उत्पन्न हुए का नाम है 'नहीं बढा चढा हुआ'। अतएव 'रत्नाकर' में लिखा है—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः॥

अर्थात् अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए रति-आदि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही जब थोडे विभावादिको से उत्पन्न होते हैं तो व्यभिचारी कहलाते हैं।

इस तरह मान लेने पर वीर-रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र-रस के प्रधान के होने पर उत्साह और शृंगार-रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी होता है। और बिना क्रोधादिक के वीरादिक रस रहते ही नहीं, यह भी सिद्ध है। जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस (अंगभूत भाव क्रोध आदि) को भी अधिक विभावादिकों से अभिव्यक्त किया जाता है तो वह 'रसालङ्कार' कहलाने लगता है—इत्यादि समझ लेना चाहिए।

स्थायी भावों के लक्षण

१—रति

स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेमनामक जो चित्त-वृत्ति होती है उसे 'रति' स्थायी भाव कहते हैं।

वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो तो व्यभिचारी भाव कहलाता है।

२—शोक

पुत्र-आदि के वियोग अथवा मरण-आदि से उत्पन्न होने-वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्तवृत्ति होती है उसे 'शोक' कहते हैं।

परंतु स्त्री-पुरुष के वियोग में, जब तक प्रेमपात्र के जीवित होने का ज्ञान हो, तब तक व्याकुलता से पुष्ट किए हुए प्रेम की ही प्रधानता रहती है, अतः 'विप्रलंभ' नामक श्रृंगार-रस होता है। उस समय जो व्याकुलता रहती है, वह व्यभिचारी भाव मात्र है। पर यदि प्रेमपात्र के मरने का पता लग जाय तो व्याकुलता प्रधान रहती है, और प्रेम उसे पुष्ट करता है, इस कारण वहाँ करुण-रस ही होता है। और जब कि मर जाने का ज्ञान होने पर भी देवता की प्रसन्नता आदि से, किसी प्रकार, उसके पुनः जीवित होने का ज्ञान हो सके, तो आलंबन (प्रेमपात्र) के सर्वथा नष्ट न हो जाने के कारण, लंबे परदेशवास की तरह, 'विप्रलभ' ही होता है, 'करुण' नहीं, जैसा कि (कादबरी में) चन्द्रापीड़ से महाश्वेता ने जो बातें की हैं, उनमें।

कुछ लोगों की इच्छा है—ऐसी जगह एक दूसरा ही रस मानना चाहिए, जिसका नाम 'करुण-विप्रलंभ' है।

३—निर्वेद

जिसकी (वेदांत आदि के द्वारा) नित्य और अनित्य वस्तुओं

के विचार से उत्पत्ति होती है, और जिसका नाम विषयों से विरक्ति है उसे 'निर्वेद' कहते हैं।

वही निर्वेद यदि घर के झगडे आदि से उत्पन्न हुआ हो, तो व्यभिचारी भाव होता है।

४—क्रोध

जिसकी, गुरु अथवा बंधु के मरने आदि—किसी प्रबल अपराध—के कारण, उत्पत्ति होती है, और जिसे जल उठना कहा जाता है, उसे 'क्रोध' कहते हैं।

यह शत्रु-विनाश-आदि का कारण होता है।

यही जलना यदि किसी छोटे-मोटे अपराध से उत्पन्न हुआ हो, तो कठोर वचन और मौन-आदि का कारण होता है, तब वह अमर्ष नामक व्यभिचारी कहलाता है। 'अमर्ष' और 'क्रोध' में यही भेद है।

५—उत्साह

जिसकी, शत्रु के पराक्रम तथा किसी के दान आदि के स्मरण से उत्वत्ति होती है, और जिसे उन्नतता कहा जाता है, उसे 'उत्साह' कहते हैं।

६—विस्मय

जिसकी, अलौकिक वस्तु के देखने आदि से उत्पत्ति होती है, और जिसे आश्चर्य कहा जाता है, उसे 'विस्मय' कहते हैं।

७—हास

जिसकी, वाणी एवं अंगों के विकारों के देखने आदि से उत्पत्ति होती है, और जिसे खिल जाना कहा जाता है, उसे 'हास' कहते हैं।

८—भय

जिसकी, व्याघ्र आदि के देखने आदि से उत्पत्ति होती है,

और जो प्रबल अनर्थ के विषय मे हुआ करती है, एव जिसे व्याकुलता कहा जाता है, उसे 'भय' कहते हैं।

यदि वही व्याकुलता किसी प्रबल अनर्थ के विषय में न हुई हो, तो उसे 'त्रास' नामक व्यभिचारी भाव कहते हैं। पर दूसरे विद्वानों का यह भी कथन है कि उत्पातकारी वस्तुओं के द्वारा उत्पन्न हुई व्याकुलता का नाम 'त्रास' है, और अपने अपराध के द्वारा उत्पन्न होनेवाली व्याकुलता का नाम 'भय'। भय और त्रास में यह भेद है।

९—जुगुप्सा

किसी घृणित वस्तु के देखने से जो घृणा नामक एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे 'जुगुप्सा' कहते हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव

इन्हीं स्थायी भावो को हम लोग, ससार में, उन उन नायकों में देखा करते हैं। ऐसे स्थानो पर जो वस्तुएँ उन चित्तवृत्तियों के आलबन—अर्थात् विषय—अथवा उद्दीपन—अर्थात् जोश देनेवाली—होने के कारण, 'कारण' रूप से प्रसिद्ध हैं; वे ही काव्य अथवा नाटक में इन (स्थायी भावों) के अभिव्यक्त होने पर **'विभाव'** कहलाने लगती हैं, क्योकि 'विभावयन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विभाव—शब्द का अर्थ (रति-आदि के) 'उत्पन्न करनेवाले' अथवा 'समृद्ध करनेवाले' हैं।

उन स्थायी भावों से जो कार्य उत्पन्न होते हैं—जैसे रोमाचादिक, उन्हें **'अनुभाव'** कहते हैं, क्योकि 'अनु पश्चाद् भाव उत्पत्तिर्येषाम्' अथवा 'अनुभावयन्ति इन व्युत्पत्तियो के अनुसार अनुभाव शब्द का अर्थ 'जो (स्थायी भावो के) अनंतर उत्पन्न हो' अथवा 'जो उनका अनुभव करावें' यह है।

जो स्थायी भावो के साथ में रहनेवाली चित्तवृत्तियाँ होती हैं—जैसे चिंता आदि, उन्हें **'व्यभिचारी भाव'** कहते हैं।

विभावादि के कुछ उदाहरण

शृंगार-रस के स्त्री-पुरुष आलंबन विभाव, चाँदनी, वसंत ऋतु, अनेक प्रकार के बाग-बगीचे, सुखप्रद पवन और एकांत स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रेमपात्र के मुख का दर्शन, उसके गुणों का श्रवण और कीर्तन आदि एवं कंप, रोमांच आदि 'सात्त्विक भाव' अनुभाव, और स्मरण, चिंता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

करुण-रस के बंधु का नष्ट हो जाना आदि आलंबन विभाव, उसके घर, घोड़े, गहने आदि का देखना आदि तथा उसकी बातें सुनना आदि उद्दीपन विभाव, शरीर का पछाड़ना (छटपटाना) और अश्रु-पात आदि अनुभाव और ग्लानि, श्रम, भय, मोह, विषाद, चिंता, औत्सुक्य, दीनता और जड़ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

शांत-रस के अनित्य रूप से समझा हुआ जगत् आलंबन विभाव, वेदांत का सुनना, तपोवन एवं तपस्वियों का दर्शनादि उद्दीपन विभाव; विषयों से अरुचि, शत्रु-मित्रादिकों से उदासीनता, निश्चेष्टता, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मृति, मति आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

रौद्र-रस के अपराध करनेवाला पुरुष आदि आलंबन विभाव; उसका किया हुआ अपराध आदि उद्दीपन विभाव, लाल नेत्र करना, दाँत चबाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र उठाना इत्यादि, जिनका फल वध अथवा बंधन आदि हैं, अनुभाव, और अमर्ष, वेग, उग्रता, चप-लता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। इत्यादि।

इस तरह जो चित्तवृत्ति जिसके विषय में होती है, वह उसका आलंबन और जो निमित्त हैं वे उद्दीपन होते हैं—यह समझ लेना चाहिए।

रसों के अवांतर भेद और उदाहरण आदि

शृंगार-रस

शृगार-रस दो प्रकार का है—संयोग और विप्रलभ। यदि स्त्री-पुरुषों के संयोग के समय प्रेम हो, तो 'सयोग-शृंगार' कहलाता है, और यदि वियोग के समय हो, तो 'विप्रलभ-शृगार'। पर सयोग का अर्थ 'स्त्री-पुरुषों का एक स्थान पर रहना' नहीं है, क्योंकि एक पलँग पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि हो, तो 'विप्रलभ-रस' का ही वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी 'अलग अलग रहना' नहीं है, क्योकि वही दोष यहाँ भी कहा जा सकता है। अतः यह मानना चाहिए कि 'सयोग' और 'वियोग' ये दोनों एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं, और वे हैं 'मिला हुआ हूँ' और 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान। (तात्पर्य यह कि जब प्रेमी वा प्रेमिका चित्त में संयुक्तता का अनुभव करे तब 'सयोग शृंगार' समझना चाहिए और जब वियुक्तता का अनुभव करे तब 'विप्रलम्भ शृंगार'।)

उनमें से 'सयोग-शृंगार' का उदाहरण 'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा...' एवं 'सोई सविध सकी न करि......' इत्यादि पहले वर्णन कर चुके हैं।

अप्पय दीक्षित का खण्डन

और जो कि 'चित्र-मीमासा' में लिखा है—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तते।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥"

(अर्थात् वाणी और अर्थ की तरह मिले हुए, जगत् के जननी-जनक पार्वती और परमेश्वर (शिव) को, वाणी और अर्थ के ज्ञान के लिये, अभिवादन करता हूँ) इस पद्य में शृगार-रस की ध्वनि है, क्योंकि इससे शिव-पार्वती का सर्वाधिक प्रेमयुक्त होना ध्वनित होता है।" सो

यह ध्वनि के मार्ग को न समझने के कारण लिखा गया है। इस श्लोक में पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि का प्रेम प्रधान है, और उन दोनों (शिव-पार्वती) का पारस्परिक प्रेम उसकी अपेक्षा गौण हो गया है, और गौण रति आदि के कारण काव्य को 'रस-ध्वनि' कहना उचित नहीं, क्योंकि यह सिद्धात है—

"भिन्नो रसाद्यलङ्काराद्लङ्कार्यतया स्थितः ।"

अर्थात् जिसको अलंकारादिकों से शोभित किया जाता है, वह (रसादिक) रस-भाव आदि को शोभित करनेवाले अलङ्काररूप रस आदि से भिन्न है ।"

तात्पर्य यह कि जिनके कारण काव्य को 'ध्वनिरूप' कहा जाता है, वे रसादिक किसी की अपेक्षा गौण नहीं होते, उन्हें अन्य अलकारादिक शोभित करते हैं, वे किसी को नहीं। अन्य रसादिकों को अलङ्कृत करनेवाले रसादिक उनसे भिन्न हैं।

यह तो हुई 'संयोग-शृंगार' की बात, अब 'विप्रलम्भ-शृंगार' का उदाहरण सुनिए, जैसे—

वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निःश्वासग्लपिताधरोपरिपतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव ! शिव ! प्राणेशमालोकते ॥

× × ×

पिय-गौन समै सब लोग करैं बहु भाँति उचारन मंगल-बानी ।
मुख-कज दिए रति-मंदिर के सुठि गोख के द्वार महा-अकुलानी ॥
अति-साँस ते सूखे भए अधरा पर ते कुच डारती लोचन-पानी
वह बालिका चचल नैनन ते निज-नाथ निहारत हाय ! अयानी ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव के परदेश जाने का समय है, लोग अत्यधिक मांगलिक वचन बोल रहे हैं, पर वह चंचलनयना बालिका (नवोढा) रति-भवन के झरोखे में मुख-कमल डाले हुए बैठी है, अत्यन्त श्वासो के कारण कुम्हलाए हुए अधरों पर अश्रु गिर रहे हैं और उनसे कुच भीग गए हैं। शिव ! शिव !! ऐसी दशा को प्राप्त हुई वह अपने प्राणनाथ को देख रही है। (उस बेचारी को न यह बोध है कि अश्रु गिरने से अशकुन होगा और न न यही शंका है कि लोग क्या कहेंगे !)

इस पद्य में (नायिका के प्रेमपात्र) नायकरूपी आलम्बन के, निःश्वास, अश्रु-पातादिरूप अनुभाव के और विषाद, चिंता, आवेग आदि व्यभिचारी भावो के संयोग से ध्वनित हुई नायिका की रति, वियोग काल में होने के कारण 'विप्रलंभ रस' के निर्देश का कारण है। अथवा, जैसे—

आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कामणज्ञा।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे
शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥

× × ×

जनमी जब ते जग में सजनी, मधु-धारन की बरसावनहारी।
ब्रजराजकिशोर की कान्ति कछू जन-नैन-विमोहिनी कामनगारी ॥
तबते सगरी कुल-नारिन की सब हालत हाय ! भई कछु न्यारी।
मुख दीरघ साँस, कपोलन पै सितता, हिय में भइ शून्यता भारी ॥

जब से मधु बरसानेवाली और सब मनुष्यो के नेत्रों को आकर्षण करने का जादू जाननेवाली नंद-नंदन की अनिर्वचनीय कांति उत्पन्न

हुई है तब से कुलागनाओं के मुख में दीर्घ श्वास, दोनों कपोलों पर सफेदी एवं चित्त में शून्यवृत्ति (विचाररहितता) उत्पन्न हो गई है। अथवा, जैसे—

नयनाञ्चलावमर्शं या न कदाचित् पुरा सेहे।
आलिङ्गिताऽपि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन ॥

× × ×

नैंन-कोन को मिलन जो सहन कियो कबहूँ न।
आलिङ्गित हू पिय-गवन वहै करति है चूँ न ॥

जिस नायिका ने, पहले कभी, नेत्र के प्रांत का मिल जाना भी सहन न किया था, वही (वियोग के समय) परदेश जानेवाले पति से आलिंगन की हुई भी चुप खड़ी थी, चूँ भी न करती थी।

इस पद्य में भी स्वाभाविक चंचलता की निवृत्ति अनुभाव और जड़ता व्यभिचारी भाव है।

प्राचीन आचार्यों ने इस—विप्रलंभ रस—को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है, पर प्रवास*, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शाप के कारण जो वियोग होते हैं, उनमें कोई विशेषता न समझ पड़ने के कारण हमने उनका विस्तार नहीं किया।

---

* प्रिय के परदेश जाने की हालत में प्रवासरूप, समागम से पूर्व ही गुणश्रवण आदि से अभिलाषरूप, गुरुजनों की लज्जादि के कारण रुकने पर विरहरूप, मान से ईर्ष्यारूप और जिस तरह शकुन्तला को दुर्वासा के शाप से वियोग हुआ उस तरह होने पर शापरूप उपाधियाँ हुआ करती हैं जिनके कारण वियोग को पाँच प्रकार का कहा जाता है—यह है प्राचीन आचार्यों का अभिप्राय।

करुण-रस, जैसे—

अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम् ।
हा ! तनय !! विनयशालिन् !!! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः ॥

*　　*　　*　　*

सब बंधुन को सोच तजि तजि गुरुकुल को नेह ।
हा ! सुशील सुत !! किमि कियो अनत लोक तैं गेह ॥

हाय ! अत्यन्त सुशील बेटे ! तू सब बधुओ की चिंता को त्याग कर और गुरुकुल के प्रेम को भी हटाकर किस तरह परलोक का पथिक हो गया !!

यहाँ मरा हुआ पुत्र आलंबन है, उस समय में आए हुए बाँधवो का दर्शन आदि उद्दीपन हैं, रोना अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

शांत रस, जैसे—

मलयानिलकालकूटयो रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः ।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥

*　　*　　*　　*

मलय-अनिल अरु गुरु गरल, तिय-कुन्तल अहि-देह ।
सुपच रु विधि को भेद तजि मम थिति भई अछेह ॥

मलयाचल के वायु और विष मे, स्त्रियो के केश-पाश और सर्प के शरीर में एव चण्डाल तथा ब्रह्मा में भेदभावरहित मेरी स्थिति, परमात्मा में, हो गई है ।

यहाँ सब जगत् आलम्बन है, सब व्यक्तियो और वस्तुओं में समानता अनुभाव है और मति-आदि सचारी भाव हैं । यद्यपि पूर्वार्ध

में पहले उत्तम (मलय-पवन आदि) का वर्णन और पीछे अधम (विष आदि) का वर्णन है, पर उत्तरार्ध में पहले अधम (श्वपच) का और पीछे उत्तम (ब्रह्मा) का वर्णन है, अतः 'प्रक्रम—भंग' दोष है—अर्थात् जिस क्रम से प्रारभ किया गया, उसी क्रम का समाप्तिपर्यंत निर्वाह नहीं हो सका, तथापि 'कहनेवाला, ब्रह्मरूप होने के कारण उत्तम-अधम के ज्ञान से रहित हो गया है' यह बात प्रकाशित करने के लिये 'क्रमभग' गुण ही है—अर्थात् इससे वक्ता की उत्तमाधम-ज्ञान-शून्यता प्रकाशित होती है, जो कि ब्रह्मज्ञानी के लिये आवश्यक है। सो यह दोष नहीं।

यह तो हुआ शातरस का उदाहरण, अब उसका प्रत्युदाहरण भी सुनिए—

सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन्नयो-
र्विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान् ।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुर-मधुरायां चिति कदा
निमग्नः स्यां कस्याञ्चन नव-नभस्याम्बुदरुचि ॥

❀ ❀ ❀ ❀

श्रीगगा के पुलिन बैठि करि नयन-निमीलन ।
तजिके महा-उपाधिरूप ये सकल विषय-गन ॥
अन्तःकरण मलीन करि दियो जाने इकदम ।
करिके दूर समग्र वहै अज्ञानरूप तम ॥
भादौं के नव-घन-सरिस परम मनोहर कान्तिमय ।
मधुर-मधुर चैतन्य में होवेगो कब मम विलय ॥

श्रीगगाजी के वालुकामय तट पर बैठा हुआ मैं, आँखें मींचकर, सब सासारिक विषयों को, तत्काल दूर हटाकर एवं अंतःकरण के अंधकार (अज्ञान) से रहित होकर, भाद्रपद के नवीन मेघ के समान

कातियुक्त किसी (अनिर्वचनीय) परम-मधुर चैतन्य मे कब निमग्न हो जाऊँगा—उसकी तन्मयता मुझे कब प्राप्त होगी !

यद्यपि इस पद्य मे भी विषयो का निरादर आलबन है, गगा के तट आदि उद्दीपन हैं, आँखों का मींचना आदि अनुभाव हैं और उनके सयोग से स्थायी भाव निर्वेद की प्रतीति होती है; तथापि भगवान् वासुदेव को प्रेमपात्र मानकर जो कवि का प्रेम है, उसकी अपेक्षा निर्वेद गौण हो गया है, इस कारण निर्वेद के रहने हुए भी यह पद्य 'शात-रस' की ध्वनि नहीं कहा जा सकता। यह पद्य मेरी (पडितराज की) बनाई हुई 'करुणा-लहरी' नामक पुस्तक मे लिखा गया है और उसमे भाव (भगवत्प्रेम) ही प्रधान है, अत. इस पद्य में भी उसी की प्रधानता उचित है। दूसरे, इस पद्य की ओजस्विनी रचना भी शात-रस के प्रतिकूल है, इस कारण भी इसे उसके उदाहरणरूप में उपस्थित करना उचित नहीं। यदि कहो कि 'मलयानिलकालकूटयो... ...' इस पूर्वोक्त पद्य मे भी 'परमात्मा में स्थिति' का वर्णन है, अतः वहाँ भी भाव प्रधान होना चाहिए, उसे शात-रस का उदाहरण कैसे कह दिया, तो उसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति हो गई है' यह लिखा है, सो उसे अपने आत्मा मे भगवद्रूपता का बोध होने के कारण प्रेम की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि प्रेम पृथक् समझने पर ही हो सकता है, ऐक्यज्ञान होने पर नहीं।

रौद्र-रस, जैसे—

नवोच्छलितयौवनस्फुरदखर्वगर्वज्वरे
मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गल-
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः॥

❀ ❀ ❀ ❀

नव-जौवन की बाढ़ ते बडे गरब ते फाटि ।
मेरे गुरु को धनुष यह निरभै ह्वै दिय काटि ॥
निरभै ह्वै दिय काटि अबै यह अतिसय भीषण ।
तृप्त दृप्तभूपाल-कंठ-शोणित करि भक्षण ॥
मेरो फरसा पडे तासु ऊपर निर्दय-मन ।
ह्वै जावै परतच्छ वच्छ को सब नव-जौवन ॥

सीता-स्वयंवर मे, परशुराम ने, जब धनुष के टुकडे हुए देखे तो उनसे न रहा गया। वे बोले—किसी को, नवयौवन की उमग के कारण, अभिमानरूपी ज्वर तेज हो गया है, तभी तो उसने निर्भय होकर मेरे गुरु—भगवान् शिव—का धनुष तोड डाला। अब उसके ऊपर यह मेरा भयकर फरसा निर्दयता के साथ गिरे, जिसने काटे हुए अभिमानी भूमिपतियो के गले से झरते हुए रुधिर का पान किया है—मैं चाहता हूँ कि उस उन्मत्त की निर्दयतापूर्वक खबर ली जाय।

यहाँ जिसको परशुराम ने, उस समय, यह नहीं जाना था कि 'यह भगवान् राम हैं', वह गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ देनेवाला आलबन है। गुरुद्रोही का नाम न लेना चाहिए इस कारण, अथवा क्रोधोत्पत्ति के कारण, 'तोडनेवाला' यह विशेषण मात्र ही कहा गया है, विशेष्य (तोड़नेवाले का नाम) नहीं। एक प्रकार की भुवनव्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ 'निर्भय होकर धनुष तोड़ देना' उद्दीपन है, कठोर वचन अनुभाव है और गर्व, उग्रता आदि सचारी भाव हैं।

यह धनुष के भग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी की उक्ति है। इस पद्य की अत्यंत उद्धत रचना भी रौद्ररस की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है।

यद्यपि अन्यत्र गुरु का स्मरण होने पर अहकार का निवृत्त हो जाना आवश्यक है; पर इस प्रसग में, ऐसे अवसर पर भी, गर्व का उत्कर्ष

प्रकाशित होने से परशुरामजी की विवेकरहितता स्पष्ट प्रतीत होती है, और उसके द्वारा उनके क्रोध की अधिकता ज्ञात होती है। यहाँ गर्व का उत्कर्ष प्रकाशित करनेवाला, गुरु के साथ लगा हुआ 'मेरे' शब्द है, उससे 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' के द्वारा यह ध्वनित होता है कि "मैं पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय करनेवाला हूँ (फिर मेरे गुरु के धनुष को कौन छू सकता है)"

यह तो है उदाहरण, अब प्रत्युदाहरण सुनिए—

धनुर्विदलनध्वनिश्रवणतत्क्षणाविर्भव-
न्महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगधूताधरः।
विलोचनविनिःसरद्बहलविस्फुलिङ्गव्रजो
रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥

❁ ❁ ❁ ❁

धनु-विदलन को शब्द सुनि स्मरण भयौ तत्काल।
परम - गुरू जमदग्नि के वध को सब अहवाल॥
वध को सब अहवाल साँस कपे दशनच्छद।
नैननि निकसत उग्र आग के कनिका बेहद॥
जयति परशुधर राम राम पै ह्वै निर्दय मन।
करत प्रबल आक्षेप कियो क्यों त धनु-विदलन॥

जिनको धनुष टूटने का शब्द सुनते ही, तत्काल, महागुरु जमदग्नि के वध का स्मरण हो आया, अतएव श्वास-वायु के वेग से नीचे का होठ फड़कने लगा और नेत्रो से आग की चिनगारियो का भारी समूह निकलने लगा ऐसी दशा मे रामचद्र पर आक्षेप करते हुए मुनि परशुराम सबसे उत्कृष्ट हैं।

यहाँ भी, यद्यपि अपराधपात्र भगवान् रामचंद्र आलंबन हैं, धनुष टूटने के शब्द का सुनना उद्दीपन है, श्वास तथा नेत्रों का जलना आदि अनुभाव हैं, पिता के वध का स्मरण, गर्व और उग्रता आदि संचारी भाव हैं और इनके द्वारा क्रोध अभिव्यक्त होता है, तथापि जिसके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उस कवि के गुरु-प्रेम की अपेक्षा क्रोध गौण हो गया है, अतः उसके कारण इस पद्य को रौद्र-रस की ध्वनि नहीं कहा जा सकता।

काव्यप्रकाश पर विचार

अच्छा, अब यहाँ एक प्रसंगप्राप्त बात भी सुन लीजिए। 'काव्य-प्रकाश' में रौद्र-रस का यह उदाहरण दिया गया है—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकम्
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना—
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥'

'वेणीसंहार' नाटक के तृतीय अंक में द्रोण-वध से कुपित अश्वत्थामा की, अर्जुन आदि के प्रति, यह उक्ति है—

शस्त्र उठानेवाले जिन मर्यादारहित, नरपशुओं ने गुरु (द्रोणाचार्य) का वधरूपी पातक किया है या उसमें अनुमति दी है अथवा उसे आँखों देखा है—कृष्ण, भीम और अर्जुन के साथ साथ—उन सभी लोगों के रुधिर, मज्जा तथा मांस से अकेला ही मैं दिग्देवताओं की बलि करता हूँ।

इस पद्य की रचना रौद्र-रस को व्यक्त नहीं कर सकती—इस रचना में वह शक्ति नहीं कि जिसके सुनते ही यह पता लग जाय कि यह रौद्र रस के वर्णन का पद्य है, सो यह उस पद्य के निर्माता की अशक्ति ही है।

वीर-रस

वीर-रस चार प्रकार का है, क्योंकि वीर-रस का स्थायी भाव जो 'उत्साह' है, वह दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार निमित्तों से चार प्रकार का है। उनमें से पहला—अर्थात् दानवीर, जैसे—

क्रियदिदमधिकं मे यद् द्विजायार्थयित्रे
कवचमरमणीयं कुंडले चार्पयामि।
अकरुणमवकृत्त्य द्राक् कृपाणेन निर्य-
द्वहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि॥

❀ ❀ ❀

अरपे याचत दुजहिं कवच-कुडल साधारण।
कहहु कहा यह अधिक भयो मम हे सदस्य-गण॥
निर्दयता ते काटि कंठ झटपट्ट खड्ग सन।
भूरि रक्त की धार झरत शिर करौं निवेदन॥

मेरे लिये यह क्या अधिक बात है कि मैं माँगने आए हुए ब्राह्मण को, साधारण-से, कवच और कुडल अर्पण कर रहा हूँ। लीजिए, यदि वह चाहे तो, निर्दयता के साथ, तलवार से तत्काल काटकर गहरी रुधिर-धारा झरते हुए (अपने) शिर को भी निवेदन कर रहा हूँ।

यह, ब्राह्मण का वेष धारण करके आए हुए इंद्र को कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर, उस दान से आश्चर्ययुक्त समासदों के प्रति, कर्ण का कथन है।

यहाँ माँगनेवाला आलंबन है, उसकी वर्णन की हुई स्तुति उद्दीपन है, कवचादिक का दान करना और उनको साधारण समझना अनुभाव है और 'मेरे लिये' इस शब्द से 'अर्थांतरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' से सूचित किया हुआ गर्व एवं अलौकिक पिता भगवान् भुवन-भास्कर से अपने

उत्पन्न होने आदि का स्मरण सचारी भाव हैं। इस पद्य की रचना भी उन-उन अर्थों के अनुकूल ओज और मृदुता दोनों से युक्त होने के कारण सहृदयों के हृदय (अन्त:करण) में चमत्कार उत्पन्न कर देनेवाली है। देखिए—पूर्वार्ध में कवच और कुण्डल के अर्पण को साधारण बताना उत्साह का पोषक है इसलिये उसके अनुकूल मृदुरचना है, और उत्तरार्ध में '......मौलि' के पहले, वक्ता के गर्व और उत्साह को पुष्ट करने के लिये, उद्धत है, पर उसके बाद ब्राह्मण के विषय में विनययुक्तता प्रकाशित करने के लिये फिर मृदु है। इसी कारण 'निवेदन कर रहा हूँ' कहा, 'देता हूँ' अथवा 'वितरण करता हूँ' नहीं।

निम्नलिखित पद्य 'दान-वीर' का उदाहरण नहीं हो सकता—

यस्योद्दामदिवानिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रथा-
माकर्ण्यावनिमण्डलागतवियद्बन्दीन्द्रवृन्दाननात्।
ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकरव्यावल्गदूधःस्रव-
त्पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते ॥

❀ ❀ ❀

जाचक-जन-हित नित्य सुभग निरवधि वितरन ते।
उपजी कीरति जासु, फिरे जे मनुज-भुवन ते॥
तिन बंदिन मुख जानि होत ईर्ष्या अति भारी।
तातें इकदम फूलि उठत रोमावलि सारी॥
सो फड़कत-गादी गिरत नव-पय-चय-आसार सन।
होत सुरेश्वर की सुरभि ज्यों पावस को सघन घन॥

भूमडल से लौटकर आए हुए स्वर्गीय बंदीजनों के समूह के मुख से, जिसकी, याचक लोगों में विलसित होनेवाली रात-दिन दान के प्रवाह की ख्याति को सुनकर ईर्ष्या के कारण अत्यंत पुलकित कामधेनु

फड़कती हुई गादी मे से झरते हुए नवीन दुग्ध के समूहों के कारण वर्षा ऋतु के मेघ-सी बन जाती है—उसके स्तनो से दूध की अविरल धारा प्रारभ हो जाती है।

यहाँ इद्र-सभा मे बैठे हुए सब दर्शक लोग आलबन हैं, भूमडल से आए हुए स्वर्गीय बदीजनो के मुख से किए हुए राजा के दान का वर्णन उद्दीपन है, गादी से झरते हुए नवीन दूध का समूह अनुभाव है और ईर्ष्या के द्वारा ध्वनित हुई राजा के दान-वर्णन को साधारण दिखाने की बुद्धि, जिसे 'असूया' कहना चाहिए, वह और अन्य ऐसी ही चित्तवृत्तियाँ सचारी भाव हैं। इनके संयोग से यद्यपि कामधेनु का उत्साह अभिव्यक्त होता है, तथापि वह राजा की स्तुति की अपेक्षा गौण हो गया है, अतः उसको लेकर यहाँ वीर-रस नहीं कहा जा सकता।

इसी कारण यह उदाहरण भी नहीं बन सकता—

साब्धिद्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां
सर्वां द्यामपि सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः।
प्रादुर्भूतपरप्रमोदविदलद्रोमाञ्चितस्तत्क्षणं
व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरो न्यस्तवान्॥

* * * *

उदधि, दीप, कुल-अचल सहित सब भुवहिं स्वबश कै।
सब सुरगहु कों, लगे देखिबे हरि सस्मित ह्वै॥
उपज्यो परम प्रमोद, भयो पुलकित, अरु सत्वर।
शिर आगे धरि दीन्ह असुर, करि नम्र शिरोधर॥

समुद्रो, द्वीपो एव कुलपर्वतो के सहित पृथ्वी को और सात कोटवाले समग्र स्वर्ग का भी आक्रमण करने के अनन्तर भगवान्

वामन ने जब कुछ हँसकर राजा बलि की तरफ (तीसरे पैंड के लिये) थोड़ा सा देखा, तो उस असुरश्रेष्ठ ने अत्यन्त आनन्द की उत्पत्ति के कारण पुलकित होकर, तत्काल गरदन नीची करके सिर सामने रख दिया, कहा—लो, एक पैर इस पर भी धरकर इसे भी स्वीकार कर लो।

यहाँ भगवान् वामन आलम्बन हैं, उनका थोडा-सा देखना उद्दीपन है, रोमाचादिक अनुभाव हैं और हर्षादिक सचारी भाव हैं। यद्यपि इनके सयोग से 'उत्साह' अभिव्यक्त होता है, तथापि वह गौण हो गया है, क्योंकि जिस तरह पहले पद्य में दूसरे (कामधेनु) का उत्साह राजा की स्तुति को उत्कृष्ट करनेवाला था, उसी तरह यहाँ राजा (बलि) का उत्साह भी राजा की स्तुति को उत्कृष्ट करता है, सो स्तुति प्रधान हुई और उत्साह गौण।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि 'काव्यपरीक्षा'-कर्ता श्रीवत्सलाछन भट्टाचार्य ने जो वीर-रस का यह उदाहरण दिया है—

"उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरुः
शौर्यं यत्तु न तद् गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितहीनिर्व्याजदानावधिः
क्षत्रब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम्॥"

'महावीरचरित' नाटक के द्वितीय अंक में धनुष तोड़ने से कुपित परशुराम के प्रति यह रामचन्द्र की उक्ति है—

भगवन्! आपकी कौन वस्तु लोकोत्तर नहीं है, आपके पिता महर्षि जमदग्नि हैं, आपने साक्षात् शिवजी से धनुर्वेद का अध्ययन किया है, आपकी वीरता तो आपके कर्त्तव्यों से ही स्पष्ट है, उसके वर्णन के लिये शब्द नहीं मिलते। आपके त्याग का तो कहना ही क्या? सप्त-समुद्र-

मुद्रित पृथ्वी का, विना किसी लगाव या स्वार्थ के, दे डालना हँसी खेल नहीं है। आप ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो की तपस्या के निधान हैं। आपकी सभी बातें निराली हैं।

यह उदाहरण ठीक नहीं, क्योकि यह भी दूसरे का अग होने से गुणीभूत व्यग्य हो गया है। 'रसध्वनि' मे यह उदाहरण उचित नहीं।

एक शङ्का और उसका उत्तर

यहाँ एक शका हो सकती है कि—आपने जो 'दान-वीर' का उदाहरण दिया है 'अकरुणमवकृत्य..... इत्यादि', उसमे प्रतीत होनेवाला 'दान-वीर (रस)' भी कर्ण की स्तुति का अग है—उससे भी कर्ण की प्रशसा सूचित होती है, अतः उसे आपने ध्वनि-काव्य कैसे बताया? हाँ, यह सच है, पर, थोडा ध्यान देकर देखिए, उस पद्य में कवि का तात्पर्य तो कर्ण के वचन का केवल अनुवाद करने मात्र में है, कर्ण की स्तुति करना तो उसका प्रतिपाद्य है नहीं, और कर्ण है महाशय, इस कारण उसका भी अपनी स्तुति में तात्पर्य हो नहीं सकता, क्योंकि अपनी बड़ाई करना क्षुद्राशयों का काम है। सो उस वाक्य का अर्थ (तात्पर्य) तो कर्ण की स्तुति है नहीं, किंतु वीररस की प्रतीति के अनतर, वैसे उत्साह के कारण, रसज्ञों के हृदय में वह (स्तुति) अनुमित मात्र होती है। पर जहाँ राजा का वर्णन हो, वहाँ तो राजा की स्तुति में ही पद्य का तात्पर्य रहता है, अतः वह स्तुति वाक्यार्थरूप होती है, सो उसे प्रधान माने बिना निर्वाह नहीं।

दूसरा दयावीर, जैसे—

न कपोत! भवन्तमण्वपि स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम्।
इदमद्य मया तृणीकृतं भवदायुःकुशलं कलेवरम्॥

* * * *

जनि कपोत, तुहि तनिक हू छुवे बाज-भय, आज।
यह तन तिनका मैं कियो तेरे जीवन-काज ॥

हे कबूतर, बाज का भय तेरा किंचिन्मात्र भी स्पर्श न करे। आज, मैंने, तेरे जीवन को कुशलता प्रदान करनेवाले इस शरीर को तिनका बना दिया है—मैं इस शरीर को तिनके की तरह समझकर नष्ट कर रहा हूँ और चाहता हूँ कि बाज के द्वारा तुझे किसी प्रकार का भय न हो।

अथवा इस पद्य की रचना यों समझिए—

न कपोतकपोतकं तव स्पृशतु श्येन ! मनागपि स्पृहा।
इदमद्य मया समर्पितं भवते चारुतरं कलेवरम् ॥

* * * *

जनि कपोत-पोतहि छुवै तनिक हु तुव मन बाज !
यह तुव हित अपरन कियो सुघर कलेवर आज ॥

हे बाज ! (मैं चाहता हूँ कि) तेरी इच्छा (इस) कबूतर के बच्चे का किंचिन्मात्र भी स्पर्श न करे। मैंने, आज, तेरे लिये इस परम रमणीय शरीर का समर्पण कर दिया है।

यहाँ राजा शिबि की, पहले पद्य में कबूतर के प्रति और दूसरे पद्य में बाज के प्रति, उक्ति है।

यह कबूतर आलंबन है, उसका व्याकुल होना उद्दीपन है और उसके लिये अपने शरीर का अर्पण करना अनुभाव है।

पर यह कहना कि 'इस पद्य में शरीर के दान की प्रतीति होती है, इस कारण यह दानवीर की ध्वनि हो जायगा', उचित नहीं, क्योंकि बाज का कबूतर खाद्य पदार्थ है, अत; वह कबूतर का याचक हो सकता है, राजा के शरीर का नहीं। बाज को जो शरीर दान किया गया है, सो तो कपोत के शरीर की रक्षा के लिये बदले में दिया गया है, वह दान नहीं, किंतु 'लेन-देन' है।

तीसरा युद्धवीर, जैसे—

रणे दीनान् देवान् दशवदन ! विद्राव्य वहति
प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः ।
ललाटोद्यज्ज्वालाकवलितजगज्जालविभवो
भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेगं कलयतु ॥

* * * *

दीन-देवतनि दशवदन, रन छुड़ाइ तू आज ।
है प्रभाव-शाली, कहा तोपै साज-समाज ॥
तोपै साज समाज भाल की धधकत झारन ।
जारि दियो जिन विश्व वहै शिव जूझैं इहि रन ॥
देखैं मम कोदंड-मुक्त-शर-वेगहिँ, तू जनि ।
समुझै सगरे ठामु बापुरे दीन-देवतनि ॥

हे दशानन ! बेचारे देवताओ को रण में भगाकर भारी सामर्थ्य रखनेवाले तेरे विषय में तो मेरी यह तैयारी क्या हो सकती है—तू तो चीज ही क्या है, पर जिनके ललाट से निकली हुई ज्वालाओ से सारे ससार का वैभव भस्म हो जाता है, वे महादेव मेरे धनुष से निकले हुए बाणो के वेग को झेलें । तात्पर्य यह कि तुझे तो मैं समझता ही क्या हूँ, पर यदि समग्र ससार के संहारक भगवान् शिव भी आवें तो वे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर चकित हो सकते हैं। यह रावण के प्रति भगवान् राम की उक्ति है।

यहाँ महादेव आलंबन हैं, रण का देखना उद्दीपन है, रावण की अवज्ञा अनुभाव है और गर्व सचारी भाव है। रचना देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत नहीं है, जिसके द्वारा उनकी कायरता प्रकट होती है, और उससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचंद्र उनको वीर-रस

का आलम्बन नहीं समझते। हाँ, रावण के प्रस्ताव में देवताओं के दर्प को दमन करनेवाली वीरता का प्रतिपादन करना है, अतः उद्धत है, पर उसकी अवज्ञा की गई है, राम उसे अपनी बराबरी का नहीं समझते, अतएव उनके उत्साह का आलम्बन नहीं है सो उसे आलम्बन मानकर रस की प्रतीति नहीं हो सकती, इस कारण उस रचना में उद्धतता का आधिक्य नहीं है। पर, भगवान् शिव परम उत्तम आलम्बन विभाव हैं, और उनको आलम्बन मान कर ही ओजस्वी वीर-रस संपन्न होता है, अतः उनके प्रस्ताव में पूर्णतया उद्धत रचना है।

चौथा धर्मवीर, जैसे—

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात्॥

❀ ❀ ❀ ❀

विलय होहु ततकाल राज्य-लक्ष्मी मम सारी।
अथवा ऊपर परहु खरग-धारा भयकारी॥
हरहु काल हू सीस सहूँगो अविचल सब यह।
मेरी मति तो डिगै धरम ते तनिक न अब यह॥

चाहे राज्य-लक्ष्मी तत्काल विलीन हो जाय, चाहे तलवारों की धाराएँ सिर पर पड़ें, यद्वा स्वयं काल शिर उतार ले, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से किंचिन्मात्र भी नहीं हटती।

यह 'अधर्म से भी शत्रु को जीतना चाहिए' यों कहनेवाले के प्रति महाराज युधिष्ठिर का कथन है। यहाँ धर्म आलम्बन है।

"न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः

(महाभारत उ० पर्व)

(अर्थात् धर्म को काम, भय अथवा लोभ के लिये, किं बहुना, जीवन के लिये भी कभी न छोड़ना चाहिए)''

इत्यादि शास्त्रीय वाक्यों की आलोचना उद्दीपन है, शिर के कटने आदि का अगीकार करना अनुभाव है और धृति सचारी भाव है।

वीर-रस के, चार नहीं अनेक भेद हो सकते हैं।

इस तरह प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वीर-रस का चार प्रकार से वर्णन किया गया है, पर वास्तव मे विचार किया जाय तो, शृङ्गार की तरह, वीर-रस के भी बहुतेरे मेद निरूपण किए जा सकते हैं। देखिए, यदि पूर्वोक्त 'सपदि विलयमेतु......' इत्यादि अथवा 'विलय होहु ततकाल......' इत्यादि पद्य मे 'मम तु मतिर्न मानागपैति सत्यात्' अथवा 'मेरी मति तो डिगै सत्य ते तनिक न अब यह' इस तरह अन्तिम चरण वदल दिया जाय तो 'सत्य-वीर' भी एक मेद हो सकता है।

आप कहेंगे कि सत्य भी धर्म के अन्तर्गत है, इस कारण 'धर्मवीर-रस' मे ही 'सत्य-वीर' का भी समावेश हो जाता है। तो हम कहते हैं कि दान और दया भी धर्म के अन्तर्गत ही है, फिर 'दान वीर और 'दया-वीर' को भी अलग गिनना अनुचित है।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' भी प्रतीत होता है, जैसे—

अपि वक्ति गिरां पतिः स्वयं यदि तासामधिदेवताऽपि वा।
अयमस्मि पुरो हयाननस्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः॥

❀ ❀ ❀

यदि बोलैं वाक्पति स्वयं कै सारद हू आइ।
हूँ तयार हयमुख सुमिरि, सब विधि विद्या पाइ॥

सभा में बैठकर एक पण्डित जी कह रहे हैं—यदि स्वय बृहस्पति अथवा वाग्देवी भी बोले, तो भी भगवान् हयग्रीव के स्मरण से समग्र

वाङ्मय-वारिधि को पार करनेवाला यह मै सामने उपस्थित हूँ—आप लोगो का मुझे कुछ भी भय नहीं है, जिसकी इच्छा आवे वह बात करले।

यहाँ बृहस्पति और सरस्वती-आदि आलंबन हैं, सभा-आदि का दर्शन उद्दीपन है, सब विद्वानो का तिरस्कार अनुभाव है, गर्व संचारी भाव है और इनसे पुष्ट किया हुआ वक्ता का उत्साह प्रतीत होता है।

आप कहेंगे—यह तो 'युद्ध-वीर' ही है, क्योकि युद्ध-शब्द से वाद-विवाद का भी सग्रह हो जाता है, क्योकि वह भी एक प्रकार का झगडा ही है। तो हम कहते हैं—यों ही सही, पर 'क्षमा वीर' के विषय मे आप क्या समाधान करेंगे ? जैसे—

अपि बहलदहनजालं मूर्ध्नि रिपुर्मे निरन्तरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारामहमणुमात्रं न किञ्चिदाभाषे॥

❀ ❀ ❀ ❀

भलै अहित जन दहन-गन मम सिर सतत जराहिं
कै पटकहिं असि-धार, पै हौं कछु बोलौं नाहिं॥

भले ही शत्रु मेरे सिर पर निरन्तर गहरी आग जलाते रहें, अथवा तलवार की धार पटकते रहें, पर मैं बोलने का नहीं। यह क्षमावान् की उक्ति है।

अथवा 'बल-वीर' में क्या समाधान करेंगे ? जैसे—

परिहरतु धरां फणिप्रवीरः, सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय।
अहमिह पुरुहूत ! पद्मकोणे निखिलमिदं जगदक्लमं वहामि॥

❀ ❀ ❀ ❀

फनि-पति धरनिहि परिहरै, कमठ हु करै अराम।
सुरपति, हौं निज-पख पै राखौं जगत तमाम॥

सर्पवीर शेषजी अपने ऊपर से पृथ्वी को हटा दें और कच्छप महाशय भी उसे छोडकर आराम करे। हे इन्द्र! लो, मैं—एक ही, अपने पख के एक कोने पर इस सब जगत् को बिना घबराहट के धारण कर लेता हूँ। यह इन्द्र के प्रति गरुड का कथन है।

आप कहेगे कि 'अपि वक्ति...' और 'परिहरतु धराम्...' इन दोनो पद्यो मे तो गर्व ही ध्वनित होता हैं, उत्साह नहीं, और बीच के पद्य 'अपि बहल...' में धृति-भाव ध्वनित होता है, अतः ये भाव की ध्वनियाँ हैं, रस की नहीं, तो फिर आप युद्ध-वीरादिकों में भी गर्व आदि की ध्वनियो को ही क्यो नहीं बता देते, अथवा यावन्मात्र रस-ध्वनियो को, उनमें जो व्यभिचारी भाव ध्वनित होते हैं, उनकी ध्वनियाँ हैं, यह कहकर क्यो नहीं गतार्थ कर देते? यदि आप कहें कि उनमें जो स्थायी भाव की प्रतीति होती है, वह छिपाई नही जा सकती—उसे स्वीकार करना ही पड़ता है, तो सोच देखिए, वही बात यहाँ भी है। 'पीछे के पद्यो मे तो उत्साह प्रतीत नहीं होता है और 'दया-वीर'-आदि में प्रतीत होता है'—यह कहना तो केवल राजाज्ञा है—अर्थात् जबदस्ती का लट्ठ है। अतः यह सिद्ध है कि पूर्वोक्त गणना अपर्याप्त ही है।

अद्भुत-रस, जैसे—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव।
गलद्गगनगाम्भीर्यं वीक्ष्याऽस्मि हृतचेतना॥

× × ×

थावर-जंगम-जगत-गन-सदन वदन तुव जोइ।
गई गगन की गहनता रही चेतना खोइ॥

जिसमें सब स्थावर और जंगम जगत् निवास करता है, और जिसके देखने पर आकाश की भी गमीरता गिर जाती है, उस तेरे मुख को देखकर मेरी बुद्धि नष्ट हो गई है—मेरी अक्ल काम नहीं करती कि यह है क्या गजब!

यह, किसी समय, भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविंद को देखने के अनतर, यशोदाजी की उक्ति है। यहाँ मुख आलंबन है, उसके भीतर समग्र स्थावर-जगम जगत् का देखना उद्दीपन है, बुद्धि का नष्ट हो जाना एवम् उसके द्वारा प्रतीत होनेवाले रोमाच, नेत्रों का विकसित हो जाना आदि अनुभाव हैं और त्रास-आदि व्यभिचारी भाव हैं। यहाँ पुत्र का प्रेम यद्यपि विद्यमान है, तथापि प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसका कोई व्यंजक शब्द नहीं है—इस पद्य के किसी शब्द से उसकी अवगति नहीं होती। यदि प्रकरणादिक की पर्यालोचना करने पर वह प्रतीत भी हो जाय, तथापि आश्चर्य उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता, क्योकि 'समझने की शक्ति ही जाती रही' ऐसा कहने से आश्चर्य की ही प्रधानता प्रकट होती है। इसी तरह 'यह कोइ महापुरुष है' यह समझकर भक्ति भी उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योकि उसमें यशोदा का यह निश्चय रुकावट डालता है कि 'यह बालक मेरा पुत्र है'। सो भक्ति की अपेक्षा भी आश्चर्य गौण नहीं हो सकता।

काव्यप्रकाश पर विचार

सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यों (काव्यप्रकाशकार) ने जो उदाहरण दिया है—

"चित्रं महानेष बताऽवतारः
क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।

लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः
काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

भगवान् वामन को देखकर वलि कहते हैं—हर्ष है कि यह (आपका) महान् अवतार लोकोत्तर है, ऐसी कांति कहाँ प्राप्त हो सकती है? यह चलने, बैठने, देखने आदि का ढग सर्वथा नवीन ही है, अलौकिक धैर्य है, विलक्षण प्रभाव है, अनिर्वचनीय आकार है, यह एक नई सृष्टि है—अब तक ऐसा कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ।

उसके विषय मे हमें यह कहना है कि—इस पद्य मे 'विस्मय' स्थायीभाव की प्रतीति भले ही हो, उसके विषय में हमें कुछ नहीं कहना है, पर उस विस्मय के कारण इस पद्य को अद्‌भुत-रस की ध्वनि कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि इस पद्य में जिस महापुरुष का वर्णन किया गया है, उसके विषय में स्तुति करनेवाले की जो भक्ति है, वही यहाँ प्रधान है, और विस्मय उसे उत्कृष्ट बनाता है, अत. उसकी अपेक्षा गौण हो गया है। जैसा कि महाभारत में, भगवद्गीता के अंदर, जब अर्जुन ने विश्वरूप (विराट रूप) के दर्शन किए तो उसने कहा—

"पश्यामि देवांस्तव देव! देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेष-संघान्।

हे देव! मैं आपके शरीर में सब देवताओं को तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियो के समूहों को देख रहा हूँ।"

इत्यादि वाक्य-सदर्भ में (आश्चर्य यद्यपि प्रतीत होता है, तथापि वहाँ, अर्जुन की, भगवान् के विषय मे उत्पन्न हुई, भक्ति प्रधान है और आश्चर्य गौण)।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि इस आश्चर्य को यहाँ रसालकार कहना उचित है, रस-ध्वनि कहना नहीं। पर यदि आप फिर कहें कि 'इसमें

भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं' तो हम सहृदयो से प्रार्थना करेंगे कि आप लोग थोडा, ऑखें मींचकर, सोचिए—देखिए कि इसमे भक्ति की प्रतीति होती है, अथवा नहीं ।

हास्य-रस

जैसे—

श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे
निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा—
अङ्गं गवां पूर्वमहो पवित्रं
न वा कथं रासभधर्मपत्न्याः ?

× × ×

दादाजी किय दग बुधन, लेख लिखि यह जुगति—
सुचि गौ - पूरब - अग रासभ - रानी को न क्यो ?

श्रीमान् पिताजी ने जो निबंध लिखा, उसमे यह एक नई युक्ति वर्णन की गई है । वह युक्ति यह है—आश्चर्य है कि यदि गायो का पूर्व अंग पवित्र है तो गर्दभ महाशय की धर्म-पत्नीजी का वह अग क्यो न पवित्र माना जाय ? अर्थात् उनकी दृष्टि में गौ और गर्दभी एक समान हैं ।

यहाँ तार्किक (युक्ति सोचनेवाले) का पुत्र आलबन है, उसका शंकारहित कथन उद्दीपन है, दॉत निकालना आदि अनुभाव है और उद्वेग आदि व्यभिचारी भाव हैं ।

हास्य के भेद

हास्य-रस के विषय में प्राचीन आचार्यों का कथन है कि—

आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम् ।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः ॥

हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्त्तितः ॥
उत्तमानां मध्यमानां नीचानामप्यसौ भवेत् ।
त्र्यवस्थः कथितस्तस्य षड् भेदाः सन्ति चाऽपरे ॥
स्मितं च हसितं प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवेद्विहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे ॥
नीचेऽपहसितं चातिहसितं परिकीर्त्तितम् ।
ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ॥
अदृश्यदशनो हासो मधुरः स्मितमुच्यते ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लैरुपलक्षितः ॥
किञ्चिल्लक्षितदन्तश्च तदा हसितमिष्यते ।
सशब्दं मधुरं कायगतं वदनरागवत् ॥
आकुञ्चिताक्षि मन्द्रं च विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च जिह्मदृष्टिविलोकनः ॥
उत्फुल्लनासिको हासो नाम्नोपहसितं मतम् ।
अस्थानजः साश्रुदृष्टिराकम्पस्कन्धमूर्धजः ॥
शार्ङ्गदेवेन गदितो हासोऽपहसिताह्वयः ।
स्थूलकर्णकटुध्वानो वाष्पपूरप्लुतेक्षणः ॥
करोपगूढपार्श्वश्च हासोऽतिहसितं मतम् ।

हास्य-रस दो प्रकार का है—एक आत्मस्थ, दूसरा परस्थ । आत्मस्थ उसे कहते हैं, जो देखनेवाले को विभाव (हास्य

के विषय) के देखने मात्र से उत्पन्न हो जाता है, और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है एवं जिसका विभाव भी हास्य ही होता है—अर्थात् जो दूसरे के हँसने के कारण ही होता है, उसे रसज्ञ पुरुष **परस्थ** कहते हैं।

यह उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, अतः इसकी तीन अवस्थाएँ कहलाती हैं। एव उसके और भी छः भेद हैं—उत्तम पुरुष मे **स्मित** और **हसित**, मध्यम पुरुष में **विहसित** और **उपहसित** तथा नीच पुरुष मे **अपहसित** और **अतिहसित** होते हैं।

जिसमें कपोल थोडे विकसित हों, नेत्रो के प्रान्त अधिक प्रकाशित न हो, दॉत दिखाई न दे और जो मधुर हो, वह हॅसना **स्मित** कहलाता है।

जिस हॅसने में मुख, नेत्र और कपोल विकसित हो जायॅ और कुछ दाँत भी दिखाई दें, उसे **हसित** माना जाता है।

जिस हँसने में शब्द होता हो, जो मधुर हो, जिसकी पहुँच शरीर के अन्य अवयवों में भी हो, जिसमे मुॅह लाल हो जाय, ऑखें कुछ-कुछ मिच जायँ और ध्वनि गभीर हो, उसे विद्वान् लोग **विहसित** कहते हैं।

जिसमें कन्धे और सिर सिकुड जायॅ, टेढी नजर से देखना पडे और नाक फूल जाय उस हॅसने का नाम **उपहसित** है।

जो हँसना बे-मौके हो, जिसमें ऑखो में ऑसू आ जाय और कधे एव केश खूब हिलने लगें, उस हँसने का शार्ङ्गदेव आचार्य ने **अपहसित** नाम रखा है।

जिसमें बहुत भारी और कानों को अप्रिय लगनेवाला शब्द हो, नेत्र ऑसुओं के मारे भर जायँ और पसलियो को हाथो से पकड़ना पड़े, वह हँसना **अतिहसित** कहलाता है।

भयानक-रस

जैसे—

श्येनमम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननबिलो विलोकयन्।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः॥

× × × ×

नभ ते झपटत बाज लखि भूल्यो सकल प्रपच।
कपित-तन व्याकुल-नयन लावक हिल्यो न रच॥

एक दर्शक कहता है—बेचारे लवा (एक प्रकार का पक्षी) ने ज्योंही आकाश से झपटते हुए बाज को देखा, त्योंही मुँह सूख गया, देह थरथराने लगी, नेत्र व्याकुल हो गए और हिल भी न सका।

यहाँ बाज आलम्बन है, उसका वेग-सहित झपटना उद्दीपन है, मुँह सूखना आदि अनुभाव हैं और दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हैं।

बीभत्स-रस,

जैसे—

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम्।
आननेष्वनुलिम्पन्ति हृष्टा वेतालयोषितः॥

× × × ×

फाडि नखन शव-आँतडिन, रुधिर-मवाद निकारि।
लेपति अपने मुखन पै हरसि प्रेत-गन-नारि॥

एक मनुष्य किसी से रणागण अथवा श्मशान का दृश्य कह रहा है—हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियाँ नखो से मुरदो की अँतडियो को फाड़कर मवाद और रुधिर को मुँह पर लेप रही हैं।

यहाँ मुरदे आलबन हैं, अँतडियो का चीरना आदि उद्दीपन हैं, ऊपर से आक्षिप्त किए हुए रोमाच, नेत्र मींचना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि संचारी भाव हैं।

'हास' और 'जगुप्सा' का आश्रय कौन होता है ?

अब एक शका हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायी-भावों में जिस तरह आलंबन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है, जैसे कि—यदि शकुंतला के विषय में दुष्यंत का प्रेम है तो शकुतला प्रेम का आलंबन है और दुष्यत आश्रय, और वहाँ इन दोनों की प्रतीति होती है, उस तरह हास और जुगुप्सा मे नहीं होती, क्योंकि इन दोनो मे केवल आलबन की ही प्रतीति होती है, आश्रय का वर्णन होता ही नहीं। और यदि पद्य सुननेवाले को ही उनका आश्रय माना जाय तो यह उचित नहीं, क्योंकि वह तो रस के आस्वाद का आधार है—उसे तो अलौकिक रस की चर्वणा होती है, सो वह लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय नहीं हो सकता। हम कहते हैं कि हाँ, यह सच है, पर वहाँ उन दोनो भावो के आश्रय—किसी देखनेवाले पुरुष का आक्षेप कर लेना चाहिए, उसे ऊपर से समझ लेना चाहिए। और यदि ऐसा न करें, तो भी जिस तरह सुननेवाले को अपनी स्त्री के वर्णन मे लिखे हुए पद्यो से रस का उद्बोध हो जाता है—अर्थात् वहाँ जो लौकिक रति का आश्रय है, वही रस का भी अनुभवकर्ता हो जाता है, उसी तरह यहाँ भी लौकिक भाव और रस के आश्रय को एक ही मान लेने मे कोई बाधा नहीं।

इस तरह सक्षेप से रसो का निरूपण किया गया है।

रसालंकार

इन रसों के प्रधान होने पर, इनके कारण, काव्य को 'रस-ध्वनि' कहा जाता है, और दूसरों की अपेक्षा गौण होने पर इन्हें 'रसालकार' कहा जाता है, और ऐसी दशा मे वह काव्य, जिसमें ये आए हों, 'रसध्वनि' नहीं कहला सकता। कुछ लोगो का कथन है कि—जब ये प्रधान हों, तभी इनको रस कहा जाना चाहिए, अन्यथा ये अलंकार मात्र ही होते हैं, उनमें रस कहलाने की योग्यता ही नहीं होती। तथापि

वे लोग उन्हें रसालंकार कहते हैं, सो उसी प्रकार जैसे कि 'अलंकार-ध्वनि'* कहते हैं। इस बात को एक उदाहरण देकर समझा देते हैं। जिस तरह कोई ब्राह्मण बौद्धमत की दीक्षा लेकर 'श्रमण' (बौद्ध-भिक्षुक) बन जाय, तब वह ब्राह्मण तो रहता नहीं, तथापि उसे पहले ब्राह्मण रहने के कारण लोग 'ब्राह्मण-श्रमण' कहा करते हैं, बस, वही हिसाब यहाँ समझिए। अर्थात् जो किसी भी अवस्था मे रस या अलंकार शब्द से व्यवहार मे प्रयुक्त हो चुके हैं उनका अन्य अवस्था मे भी उसी प्रकार व्यवहार होता है। यहाँ यह और समझ लीजिए कि ये रस तभी कहे जाते हैं जब ये असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप मे रहते हैं। संलक्ष्यक्रम होने से तो इनका वस्तु शब्द से ही व्यवहार होता है। यह है उनका मत।

ये 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' क्यों कहलाते हैं?

ये रस 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' कहलाते हैं, क्योकि सहृदय पुरुष को जब सहसा रस का आस्वादन होता है, उस समय, यद्यपि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के विमर्श का क्रम रहता है, तथापि जिस तरह शतपत्र कमल के सौ-के-सौ पत्रो को सूई से वेधन किया जाता है, उस समय, यह तो जान पडता है कि सौ-के-सौ ही पत्र विध

---

* इसका अभिप्राय यह है कि—अलंकार उसका नाम है, जो किसी को शोभित करे, जिसे शोभित किया जाय उसका नहीं, और जो अर्थ ध्वनित होता है, वह किसी को शोभित नहीं करता, किंतु उसे अन्य उपकरण शोभित करते हैं। तब ध्वनित होनेवाले अर्थ को अलंकार रूप मानकर उसके कारण काव्य को अलंकारध्वनि कहना ठीक नहीं। किन्तु अलंकार्य ध्वनि कहना चाहिये, तथापि उसे 'अलंकार-ध्वनि' कहा जाता है।

गए, पर उनमें से कौन पहले गिधा और कौन पीछे—इतना सोचने का अवसर ही नहीं मिलता, इसी प्रकार यहाँ भी, शीघ्रता के कारण, वह क्रम विदित नहीं हो पाता। परन्तु यह समझना उचित नहीं कि ये विना क्रम के ही व्यग्य हैं—इनका और व्यजक विभावादिकों का कोई क्रम है ही नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो, तो रस की अभिव्यक्ति का और अभिव्यक्ति के कारणों का कार्यकारणभाव ही न बन सके—अर्थात् विभावादिकों का रस के कारण रूप होना ही निर्मूल हो जाय, जो कि प्रतीति से सरासर विरुद्ध है।

रस नौ ही क्यों हैं?

अब यह प्रश्न होता है कि रस इतने ही क्यों हैं, यदि इनसे अधिक रस माने जायँ तो क्या बुराई है? उदाहरण के लिये देखिए—कि—जब भगवद्भक्त लोग भागवत आदि पुराणों का श्रावण करते हैं, उस समय वे जिस 'भक्ति-रस' का अनुभव करते हैं, उसे आप किसी तरह नहीं छिपा सकते है। उस रस के भगवान् आलंबन हैं, भागवतश्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमाच, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष-आदि सचारी भाव हैं। तथा इसका स्थायी भाव है भगवान् से प्रेम-रूप 'भक्ति'। इसका शान्त-रस मे भी अतर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुराग (प्रेम) वैराग्य से विरुद्ध है और शान्त-रस का स्थायी भाव है वैराग्य।

अच्छा, इसका उत्तर भी सुनिए। भक्ति भी देवता-आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसी का नाम है, और देवता-आदि के विषय में जो रति होती है, उसकी भावों में गणना की गई है, सो वह रस नहीं, किन्तु भाव है, क्योंकि—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्त्तिताः॥

अर्थात् देवता-आदि के विषय मे होनेवाला प्रेम और व्यंजना-वृत्ति से ध्वनित हुआ व्यभिचारी 'भाव' कहलाता है, और यदि रस तथा भाव अनुचित रीति से प्रवृत्त हो, तो 'रसा-भास' कहलाते हैं—यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धात है।

आप कहेगे—यदि एसा ही है तो कामिनी के विषय मे जो प्रेम होता है, उसे भी 'भाव' कहिए, क्योकि जैसा यह प्रेम वैसा ही वह भी प्रेम—इसमे उसमे भेद ही क्या है? अथवा भगवद्भक्ति को ही स्थायी भाव मान लीजिए और कामिनी-आदि के विषय मे जो प्रेम होता है, उसे (सचारी) भाव, क्योकि इसमे कोई युक्ति तो है नही कि इन दोनों मे से अमुक को ही स्थायी मानना चाहिए। इसके उत्तर मे हम कहते हैं कि साहित्य शास्त्र मे रस-भाव-आदि की व्यवस्था भरत-आदि मुनियो के वचनों के अनुसार की गई है, अत. इस विषय मे स्वतन्त्रता नहीं चल सकती। अन्यथा पुत्र-आदि के विषय मे जो प्रेम होता है, उसे 'स्थायी-भाव' क्यो न माना जाय और 'जुगुप्सा' और 'शोक' आदि को भाव ही क्यो न मान लिया जाय। यदि ऐसा करने लगे तो सारे शास्त्र में ही बखेड़ा पड जाय तथा भरत-मुनि के वचन के अनुसार नियत की हुई जो रसों को नौ सख्या है वह टूट जाय और वे कभी कम मान लिए जाया करे। इस कारण शास्त्र के अनुसार मानना ही उत्तम है।

रसों का परस्पर अविरोध और विरोध

इन रसो का आपस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध। उनमें से वीर और शृगार का, शृङ्गार और हास्य का, वीर और अद्भुत का, वीर और रौद्र का एव शृङ्गार और अद्भुत का परस्पर विरोध नहीं है। शृङ्गार और बीभत्स का, शृङ्गार और करुण का, वीर और भयानक का, शात और रौद्र का एवं शात

और शृङ्गार का विरोध है। यदि कवि प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करना चाहे—यदि इसकी इच्छा हो कि मेरे काव्य में रस का अच्छा परिपाक हो तो उसे उचित है कि उस रस के अभिव्यक्त करनेवाले काव्य में उसके विरुद्ध रस के अगों का वर्णन न करे, क्योंकि यदि विरुद्ध रस के अगों का वर्णन किया जायगा तो अभिव्यक्ति होने पर वह (विरोधी रस) प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा 'सुदोपसुद-न्याय'*से दोनो नष्ट हो जायेंगे—न इसका ही मजा रहेगा, न उसका ही।

विरुद्ध-रसों का समावेश

पर, यदि कवि को विरुद्ध रसो का एक स्थान पर समावेश करना ही हो तो विरोध का परिहार करके करना चाहिए। विरोध का परिहार कैसे करना चाहिए सो भी सुनिए। विरोध दो प्रकार का है—एक स्थितिविरोध और दूसरा ज्ञानविरोध। स्थितिविरोध का अर्थ है—एक ही आधार (पात्र) में दोनों का न रह सकना, और ज्ञानविरोध का अर्थ है—एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का बाधित हो जाना अर्थात् जिन दो रसों का ज्ञान एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी हो, उनमें ज्ञानविरोध होता है। उनमें से पहला विरोध विरोधी रस को दूसरे आधार में स्थापित कर देने से निवृत्त हो जाता है। जैसे कि यदि नायक में

---

* सुद और उपसुद की कथा यों है। सुद और उपसुद नाम के दो दैत्य थे। उन्होंने बडी भारी तपस्या करके भगवान् ब्रह्मा को प्रसन्न किया। ब्रह्मा जी के वरदान से वे सब के अवध्य रहे, केवल परस्पर की लड़ाई से वे मर सकते थे। विश्वविजयी दोनों भाइयों की तिलोत्तमा नाम की अप्सरा की प्राप्ति के लिये लड़ाई हुई और वे मर मिटे। दे० महाभा० आ० अ० २२८—३२। इस तरह दोनों के समबल होने के कारण नष्ट हो जाने के ढंग को 'सुंदोपसुदन्याय' कहते हैं।

वीर-रस का वर्णन करना हो, तो प्रतिनायक (उसके शत्रु) में भयानक का वर्णन करना चाहिए।

इस प्रकरण में रस-पद से रसों के उपाधिरूप स्थायी भावों का ग्रहण किया गया है, क्योंकि रस तो दर्शक-समाज के व्यक्तियों में रहता है, नायक आदि में नहीं। एवं रस अद्वितीय आनंद-मय है—अर्थात् जब उसकी प्रतीति होती है तब अन्य किसी की प्रतीति होती ही नहीं, इस दशा में उसके विरोध की बात ही चलाना अनुचित है।

विरुद्ध-रसों का स्थितिविरोध कैसे मिटाया जा सकता है, इसका उदाहरण लीजिए—

कुण्डलीकृतकोदण्डदोर्दण्डस्य पुरस्तव।
मृगारातेरिव मृगाः परे नैवाऽवतस्थिरे॥

× × × ×

कुडल-सम धनु कर लिए तुव आगे रन-माहिं।
केहरि-समुहै मृग-सरिस ठहरि सके अरि नाहिं॥

कवि कहता है—हे राजन्! जब आपने खींचकर कुडल के समान गोल किए हुए धनुष को हाथ में लिया, तो आपके सामने, सिंह के सामने मृगों के समान, शत्रु नहीं ठहर सके। (यहाँ नायक में 'वीर' और प्रतिनायक में 'भयानक' का वर्णन स्पष्ट ही है।)

यह तो हुई पहले प्रकार के विरोध को निवृत्त करने करने की बात। अब दूसरे प्रकार के विरोध को निवृत्त करने की विधि भी सुनिए। वह (ज्ञान-) विरोध भी, जो रस दोनों रसों का विरोधी न हो, उसे संधि (सुलह) करनेवाले की तरह, विरुद्ध-रसों के बीच में स्थापित कर देने से निवृत्त हो जाता है। जैसे कि मेरी (पंडितराज की) बनाई हुई आख्यायिका में—कण्वाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु

के शांत-रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत होने पर "यह कैसा रूप है जिसका कभी अनुभव नहीं किया गया, यह वचनमाला की कैसी मधुरता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता" इस तरह अद्भुत-रस को मध्य में स्थापित करके वरवर्णिनी-नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया गया है। वहाँ शान्त और शृंगार के मध्य में अद्भुत आ जाने से विरोध हट गया। अथवा जैसे—

सुराङ्गनाभिराश्लिष्टा व्योम्नि वीरा विमानगाः।
विलोकन्ते निजान् देहान् फेरुनारीभिरावृतान्॥

× × ×

सुर-नारिन सँग गगन में वीर विराजि विमान।
निरखत स्यारिन सों घिरे अपुने देह महान॥

देवागनाओं से आलिंगन किए हुए, आकाश में विमानो मे बैठे हुए वीर, मादा-सियारो से घिरे हुए, अपने देहो को देख रहे हैं।

यहाँ देवागनाओं को आलबन मानकर शृंगार-रस और वीरो के मृतक शरीरों को आलंबन मानकर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है। ये दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं, अतः इन दोनों के मध्य में वीरो की स्वर्ग-प्राप्ति का वर्णन करके उसके द्वारा आक्षिप्त वीर-रस निविष्ट कर दिया गया है। बीच में निवेश करने का अर्थ यह है कि परस्पर विरोधी रसों के आस्वादन का जो समय है उसके मध्य के समय में उसका आस्वादन होना। सो देखिए, यहाँ स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृंगार-रस का आस्वादन होने के अनतर वीर-रस का आस्वादन होता है और उसके अनतर दूसरे अर्द्ध में बीभत्स का।

काव्य प्रकाश के उदाहरण से भेद

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजात-
मालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्
सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः
पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः
सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः
कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानाँल्ललनाङ्गुलीभि-
र्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

रणागण का वर्णन है। कवि कहता है—उस समय पृथिवी की रज से भरे हुए, शृगालियो से पूर्णतया आलिंगन किए जा रहे, मासाहारी पक्षियो के चमचमाते हुए रुधिर-लिप्त पखों से झले जा रहे, रणागण में गिरे हुए और ललनाओ (अप्सराओ) की अँगुलियोसे दिखाये जाते हुए अपने देहो को, जिनके वक्षःस्थल नवीन पारिजात-पुष्पो की मालाओ से सुगन्धित हो रहे हैं और देवाङ्गनाओ से आलिंगित हैं, एवं जिनको, कल्प-वल्लियो से प्राप्त अतएव चदन के जल से छिड़के जाने के कारण सुगंधित दुकूलों (के बने हुए पंखों) से झला जा रहा है ऐसे विमानों के पलँगो पर बैठे हुए (युद्ध में लडकर स्वर्ग गए हुए) वीरों ने कौतुकयुक्त होकर देखा।

इत्यादि काव्य-प्रकाश के पद्य-समूह में तो पहले बीभत्सरस की सामग्री का श्रवण होने के कारण उसका आस्वादन होता है और उसके अनतर, बीभत्स-रस की सामग्री से 'निर्भय होकर प्राण त्याग देने आदि' वीर-रस की सामग्री का आक्षेप होता है, सो उसके द्वारा जब वीर-रस का आस्वादन हो चुकता है, तब शृगार-रस का आस्वादन होता है—यह भेद है। अर्थात् हमारे पद्य में क्रमशः शृंगार, वीर और बीभत्स का आस्वादन होता है और काव्य-प्रकाश के पद्यों में बीभत्स, वीर और शृगार का।

अस्तु। इस तरह इस सब कथन का तात्पर्य यह होता है कि मध्य में उदासीन रस का आस्वादन होने से रुकावट डालनेवाले ज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, और इस कारण जिसको रोक दिया जा सकता था, उस रस का आस्वादन निर्विघ्नता से हो जाता है—अर्थात् आस्वादन में किसी प्रकार की रुकावट नहीं रहती।

अन्य प्रकार से विरोध दूर करने की युक्ति

एक रस दूसरे रस-भाव आदि का अंग हो गया हो, अथवा दोनों रस किसी अन्य रस-भाव आदि के अंग हो गए हो, तो उनमें विरोध नहीं रहता, क्योंकि यदि वे विरुद्ध रहें तो अग ही नहीं बन सकते। जैसे कि—

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः।
मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले!
हा! लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोषि॥

× × × ×

स्मर के सचिव समान सरस चितवन सुखकारी
अरु अति-मंजुलरचन वचन-गन सौं हा प्यारी !
विनय सहित झट सखिन संग लै सम्मुहे आई
करति क्यों न मम आज कछु हु आदर हरषाई ।

हाय ! बाले ! तुम सखियों सहित विनयपूर्वक झट से सामने आकर, कामदेव को कामदार—उसकी सिफारिश करने वाली विकसित और सरस चितवनो से तथा सुंदर रचनावाले वचनो से, आज, मेरा कुछ भी सत्कार क्यो नहीं कर रही हो । यह आगे पड़ी हुई मृतक नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

यहाँ, नायिका रूपी आलंबन, अश्रुपातादिक अनुभाव और आवेग, विषाद आदि संचारी भावो से अभिव्यक्त हुआ नायक का (नायिका-विषयक) प्रेम, इन्हीं आलंबनादिको से अभिव्यक्त हुए, परंतु प्रस्तुत होने के कारण प्रधान, नायक के 'शोक' का, उसे बढानेवाला होने के कारण, अंग है ।

यदि यह आग्रह किया जाय कि—यहाँ नायक के प्रेम की प्रतीति नहीं होती, किंतु पूर्वोक्त सामग्री के द्वारा उसका शोक ही प्रतीत होता है, क्योकि वही प्रस्तुत हैं—उस बेचारे में प्रेम कहाँ से आवेगा, उसे तो रोना पड़ रहा है तो जिसका नायक आलंबन है, 'सामने आना' आदि अनुभाव हैं, हर्षादिक संचारी भाव हैं—उस नायिका के प्रेम को ही शोक का अंग समझिए, क्योंकि नायिका का प्रेम नायक के शोक का बढाने वाला होता है—यह बात सब लोगो की मानी हुई है । आप कहेंगे कि जब नायिका नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम विद्यमान तो है नहीं फिर वह शोक का अंग कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि अंग होने में विद्यमान होना आवश्यक नहीं है, अत. स्मरण किया जा रहा प्रेम भी अंग हो सकता है ।

अन्य का अंग होने पर विरुद्ध रसों का अविरोध, जैसे—

उत्क्षिप्ताः कबरीभरं, विवलिताः पार्श्वद्वयं, न्यक्कृताः
पादाम्भोजयुगं, रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम् ।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभटक्ष्मापालवामभ्रुवां ।
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः ?

× × × ×

ऊँचे कबरिन, किए बक दोऊ बगलनि कों ।
बल सों नीचे किए झूमि सु-चरन-कमलनि कों ॥
किए रोस सों दूर तुरत पट-आँचल पकरत ।
सब जतननि कों हाय ! सहज ही में हैं निदरत ॥
इहि भाँति विपिन में विचरतीं तुव रिपु-नृप-नारिन विकल ।
हे भूमिनाथ ! कहु कौन नहिं करत कँटीले तरुन दल ॥

हे राजन्, कौन ऐसे कँटीले पेड हैं, जो, जंगल में जाती हुई, आपके शत्रु-राजाओं की स्त्रियों के, ऊँचे करने पर केशपाश को, टेढे करने पर दोनों बगलों का, नीचे करने पर दोनों चरण-कमलों को और रोष से दूर हटा देने पर झट से कपडे का प्रांत न पकड लेते हों।

इस पद्य में समासोक्ति अलंकार है और उसके अंग हैं दो प्रकार के व्यवहार—एक प्रस्तुत और दूसरा अप्रस्तुत। उनमें से यहाँ प्रस्तुत व्यवहार है—पेड़ों के द्वारा स्त्रियों की चोटी-आदि का पकड़ना, और अप्रस्तुत है—किसी कामी पुरुष के द्वारा उनका पकड़ना। इन दोनों व्यवहारों में से पहले के द्वारा करुण रस की और दूसरे के द्वारा शृंगार-रस की अभिव्यक्ति होती है, और वे दोनों रस (परस्पर विरोधी होने पर भी) राजा के विषय में जो कवि का प्रेम है, उसके अंग हो गए हैं, अतः उनमें कुछ भी विरोध नहीं रहा।

विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता

सच पूछिए तो प्रकरण-प्राप्त रस को अच्छी तरह पुष्ट करने के लिये विरोधी रस का बाधित करना उचित है, अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से, जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसकी शोभा, वैरी का विजय कर लेने के कारण, अनिर्वचनीय हो जाती है।

नरसो और भावोकी काव्यता का अर्थ

(प्रकृत) रस के बाधित किए जाने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अगों के प्रबल होने के कारण, अपने अगों के विद्यमान होने पर भी रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना। अर्थात् किसी रस के अभिव्यक्त होने की सामग्री के होने पर भी, दूसरे रस की सामग्री के प्रबल होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना। पर व्यभिचारी भावो का बाध्य होना तो इसी का नाम है कि उनके द्वारा जिम रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिए थी उसका न होना, न कि व्यभिचारी भावो की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्योकि व्यभिचारी भावो की अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करनेवाला कोई नहीं है। आप कहेंगे कि क्यो नहीं, विरोधी रस के अग-रूप भावों की अभिव्यक्ति होने से रुकावट हो जायगी और इस कारण प्रस्तुत भावों की अभिव्यक्ति न हो सकेगी, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस समय प्रस्तुत भावों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्दो और अर्थों का ज्ञान होगा, उस समय विरोधी रस के अंगरूप भावों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्दो और अर्थों का ज्ञान नहीं रह सकता, इस कारण एक दूसरे को प्रतिबध्य (रुकनेवाला) और प्रतिबधक (रोकनेवाला) मानने में कोई प्रमाण नहीं। दूसरे, यदि ऐसा मान लिया जाय तो, विरोधी भावों का एक पद्य में एकत्र होना, जिसे भाव-शबलता कहते हैं, सर्वथा उच्छिन्न हो जाय, जो कि सर्व-संमत है। रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना तो अनु-

भव सिद्ध है, इस कारण विरोधी रस के प्रबल अंगो के अभिव्यक्त होने से रस की अभिव्यक्ति का ही प्रतिबधक मानना उचित है, व्यभिचारी भावों का नहीं।

जहाॅ एकसे विशेषणों के प्रभाव मे दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहाॅ भी उनका विरोध निवृत्त हो जाया करता है, जैसे—

नितान्तं यौवनोन्मत्ता गाढरक्ताः सदाऽऽहवे।
वसुंधरां समालिङ्ग्य शेरते वीर! तेऽरयः॥

हे वीर! यौवन से अत्यत उन्मत्त और रण मे सर्वदा गाढ रक्त (खूब चोट खाए हुए + अत्यत अनुरक्त) तेरे शत्रुलोग पृथ्वी से चिपटकर सो रहे हैं।

यहाॅ समान विशेषणो के द्वारा वीर के साथ-साथ उसके विरोधी श्रृंगार की भी प्रतीति होती है।

रस-वर्णन में दोष

इस तरह विरोध मिटा देने पर भी जिस रस का वर्णन किया जाय, उसको 'रस' शब्द अथवा 'श्रृंगार-आदि' शब्दों से बोल देना अनुचित है, क्योंकि ऐसा करने से आस्वादन करने योग्य नहीं रहता—प्रकट हो जाने के कारण उसका मजा जाता रहता है, इसीलिये पहले कह चुके हैं कि रस का आस्वादन केवल व्यजना वृत्ति से सिद्ध होता है। आप पूछ सकते हैं कि जहाॅ विभावादिकों से अभिव्यक्त रस को उसका नाम लेकर वर्णन कर दिया जाय, वहाॅ कौन दोष होता है? तो उत्तर यह है कि व्यग्य को वाच्य बना देने से सभी व्यग्यो में 'वमन' नामक दोष होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

यह तो हुई सामान्य दोष की बात। पर रसों का जिस रूप में आस्वादन किया जाता है वह प्रतीति, वाच्य-वृत्ति (अभिधा) के द्वारा, अर्थात् उन रसों का नाम लेने से उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः जहाँ रसों का वर्णन हो उस स्थल पर ऐसा करना बदर की सी चेष्टा

है—अर्थात् जिस तरह बदर अपने घाव को, ठीक करने के लिये, खोदकर और बिगाड़ डालना है उसी प्रकार इस चेष्टा से भी रसवर्णन उत्तम होने के स्थान पर और भी विगड जाता है। सो रसों के विषय मे तो यह विशेष दोष भी है।

इसी तरह **स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों** का भी **अभिधा द्वारा वर्णन करना**—उनके नाम ले लेकर लिखना—दोष है।

इसी प्रकार **विभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना अथवा क्लिष्टसे प्रतीतहोना** दोष है, क्योकि ऐसा होने से रस का आस्वादन नहीं हो पाता।

विरोधी रसों के (प्रस्तुत रसों के अङ्गो की अपेक्षा) **समबल अथवा प्रबल अंगों का वर्णन** करना भी दोष है, क्योंकि ऐसा वर्णन जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसके प्रतिकूल है। किसी भी निबध में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, वह यदि किसी दूसरे प्रसग के कारण विच्छिन्न हो जाय, तो उसको फिर से दीपन करने से—गए किस्से को दुबारा उठाने से—**'विछिन्न दीपन'** नामक दोष होता है। कारण कि मध्य मे उच्छिन्न हो जाने से सहृदयो को पूर्णरूप से रसास्वाद नहीं होता।

इसी तरह जहाँ जिस रस के **प्रस्तुत करने का अवसर न हो वहाँ उसका प्रस्तुत करना** और जहाँ उसे **विच्छिन्न न करना चाहिए वहाँ विच्छिन्न कर देना**देना दोष है। जैसे—सध्यावदन, देव-यजन आदि धर्म का वर्णन प्रस्तुत हो, उस समय किसी कामिनी के साथ किसी कामी का प्रेम वर्णन करने में। अथवा जैसे महायुद्ध में मदमत्त शत्रु-वीर उपस्थित हो और मर्मभेदी वचन बोल रहे हों ऐसे समय नायक के सध्या-वदन आदि का वर्णन करने में। ये दोनो ही बाते अनुचित हैं।

इसी प्रकार जिसका प्रधानतया वर्णन न हो, उस **प्रतिनायक आदि** के नाना प्रकार **के चरित्र** और अनेक प्रकार की **संपदाओं की** नायक के चरित और संपदाओ से, **अधिकता का वर्णन** करना

उचित नहीं, क्योंकि ऐसा करने से नायक के उत्कर्ष का वर्णन, जिसका करना अभीष्ट है, सिद्ध न होगा और उसके कारण होनेवाली रस की पुष्टि भी न होगी।

आप कहेंगे—प्रतिनायक के उत्कर्ष का वर्णन तो उसको परास्त करनेवाले नायक के उत्कर्ष का अंग है—उस वर्णन से तो नायक का और भी अधिक उत्कर्ष सिद्ध होता है, फिर आप उसका वर्णन क्यो अनुचित मानते हैं? हम कहेंगे कि—जैसा प्रतिनायक का उत्कर्ष, उसे परास्त करनेवाले नायक के उत्कर्ष का अग हो सके, वैसे उत्कर्ष का वर्णन हमे स्वीकृत है हम तो उसी उत्कर्ष-वर्णन का निषेध कर रहे हैं, जो नायक के उत्कर्ष के विरुद्ध हो। पर यदि आप कहें कि प्रकृत नायक की अपेक्षा प्रतिपक्षी का उत्कर्ष वर्णन किया जायगा, तथापि, नायक तो जिसका उत्कर्ष वर्णन किया गया है उसका मार देनेवाला न है, बस, इतना होने से ही यह वर्णन नायक के उत्कर्ष को बढा देगा, अत· ऐसे वर्णन में कोई दोष नहीं। तो हम कहेंगे कि—यदि यों मानने लगोगे तो जिस तरह किसी बडे राजा को किसी कंगाल भील ने केवल जहरीला बाण फेंक देने-आदि के कारण मार डाला हो ऐसी दशा में उस महाराज की अपेक्षा उस भील का कुछ भी उत्कर्ष नहीं होता, उसी तरह जिसका वर्णन किया जा रहा है उस नायक का भी कुछ उत्कर्ष नहीं होगा।

इसी तरह यदि रस के **आलंबन और आश्रय का बीच-बीच में अनुसंधान न हो तो दोष है**, क्योकि रस के अनुभव की धारा आलम्बन और आश्रय के अनुसधान के ही अधीन है; अतः यदि उनका अनुसंधान न हो तो वह निवृत्त हो जाती है।

इसी प्रकार **जिस वस्तु का वर्णन करने से वर्णन किए जाने-वाले रस को कोई लाभ न हो उसका वर्णन** प्रस्तुत रस को समाप्त कर डालता है, अतः ऐसा वर्णन भी दोष ही है।

अनौचित्य

जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस के भग का कारण है, अतः उसे तो सर्वथा नहीं आने देना चाहिए। भग किसे कहते हैं सो भी समझ लीजिए। जिस तरह शरबत आदि किसी तरल वस्तु में करकर (ककड़) गिर जाने के कारण वह खटकने लगता है, इसी प्रकार रस के अनुभव में खटकने को रस का भग कहते हैं। और अनुचित होने का अर्थ यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि सासारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एव उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।

अच्छा, अब जाति-आदि के अनुचित जो बातें हैं, उनके कुछ उदाहरण भी सुनिए। **जाति के विरुद्ध**, जैसे—बैल और गाय आदि के तेज और बल के कार्य पराक्रम आदि और सिंह आदि का सीधापन आदि। **देश के विरुद्ध**, जैसे—स्वर्ग में बुढापा, रोग आदि और पृथ्वी में अमृत-पान आदि। **काल के विरुद्ध**, जैसे ठड के दिनों में जलविहार आदि और गरमी के दिनो मे अग्नि-सेवन आदि। **वर्ण के विरुद्ध**, जैसे—ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढना। **आश्रम के विरुद्ध**, जैसे—ब्रह्मचारी और संन्यासी का ताबूल चबाना और स्त्री को स्वीकार करना। **अवस्था के विरुद्ध**: जैसे बालक और बूढे का स्त्री-सेवन और युवा पुरुष का वैराग्य। **स्थिति के विरुद्ध**, जैसे—दरिद्रियो का भाग्यवानो जैसा आचरण और भाग्यवानो का दरिद्रियों जैसा आचरण।

अब **प्रकृतियों** के अनुसार दोषों की बात सुनिए। साहित्य-शास्त्र के अनुसार (नायक की) तीन प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं—कुछ, दिव्य (देवतारूप इद्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त

आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी अवतारूप होने से मनुष्य हैं राम, कृष्ण आदि) होते हैं। इसी तरह उन प्रकृतियो (नायको) के दूसरे भेद—**धीरोदात्त** जिनमे उत्साह प्रधान होता है, **धीरोद्धत**—जिनमें क्रोध प्रधान हाता है **धीर-ललित**—जिनमें स्त्री-विषयक प्रेम प्रधान होता है और **धीर-शात**—जिनमे वैराग्य प्रधान होता है, होते हैं। इस तरह पूर्व भेदो से बारह प्रकार के नायक प्रत्येक उत्तम, मध्यम और अधम के भेद से छत्तीस प्रकार के होते हैं।

इन नायको मे यद्यपि भय के अतिरिक्त अन्य सब रति-आदि स्थायी भाव सर्वत्र समान ही होते हैं, तथापि सभोगरूप रति का, जिस तरह मनुष्यो मे वर्णन किया जाता है उसी तरह सब अनुभावो (आलिंगन-चुम्बन आदि) को स्पष्ट करके, उत्तम देवताओ के विषय में वर्णन करना अनुचित है, और ससार को भस्म कर देने मे समर्थ एवं रात्रि और दिन को बदल देने - आदि अनेक आश्चर्यों के उत्पन्न कर देनेवाले क्रोध का जिस तरह दिव्य नायको मे वर्णन किया जाता है उसी तरह अदिव्य नायको में वर्णन करना अनुचित है क्योकि दिव्य आलबनो में हम लोगो को पूज्यता की बुद्धि रहने के कारण और आदिव्य आलबना में पूर्वोक्त अनुभावो के झूठेपन की प्रतीति होने के कारण रस विकसित नहीं हो सकेगा। आप कहेंगे कि रस-प्रतीति के पहले नायक-नायिका आदि के साधारण हो जाने के कारण उनमें हमारी पूज्यताबुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि जिस स्थान पर सहृदय पुरुषों को रस का उद्बोध प्रमाण-सिद्ध है, उन्हीं नायक-नायिका आदि में साधारण कर लेने की कल्पना की जाती है, अन्यथा अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी रस की प्रतीति होने लगेगी। पर जयदेव आदि - कवियों ने गीतगोविंद - आदि ग्रन्थों में, सब सहृदयों के माने हुए इस नियम

को, मदोन्मत्त हाथियों की तरह, तोड डाला है, सो उनका दृष्टात देकर आधुनिक कवियो को इस तरह के वर्णन न करने चाहिए।

इसी तरह जो लोग विद्या, अवस्था, वर्ण, आश्रम और तप आदि के कारण उत्कृष्ट हो उन्हें अपने से छोटे लोगों के साथ अत्यन्त सम्मानयुक्त वचनो से व्यवहार नहीं करना चाहिए, और छोटों को बड़ों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए। उनमें भी 'तत्र भवन्' 'भगवन्' इत्यादि सबोधनो से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही संबोधन किया जाना चाहिए, राजादिको का नही। सो भी जो लोग जाति से उत्तम—अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य—हों, वे ही ऐसे सबोधनो का प्रयोग करे, शूद्रादिक नही। इसी तरह 'परमेश्वर' आदि संबोधनों से चक्रवर्तियों का ही सबोधन किया जाना चाहिए, मुनि-आदि का नहीं। यही सब सोचकर कहा गया है कि—

अनौचित्यादृते नाऽन्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

अर्थात् रस के भग का अनौचित्य के अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं है, और प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही रस की सबसे वडी उपनिषत् है। तात्पर्य्य यह कि जिस तरह उपनिषत् से ही ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, उस तरह प्रसिद्ध औचित्य के वर्णन से ही रस का प्रतिपादन होता है, अन्यथा नहीं। बस, इतने में सब समझ लीजिए।

अनौचित्य से रस की पुष्टि

हॉ, जितने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो उतने अनौचित्य का वर्णन निषिद्ध नहीं है, क्योकि जो अनुचितता रस के प्रतिकूल हो वही निषेध करने के योग्य है। इसी कारण—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयताम्
स्वल्पं जल्प बृहस्पते ! जडमते ! नैषा सभा वज्रिणः ।
वीणां संहर नारद ! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो !
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः ॥

ब्रह्मन् ! यह वेदपाठ का समय नहीं, चुप-चाप बाहर बैठो, बृहस्पते ! जो कुछ कहना है थोडे में कहो, हे मूढ ! यह इद्र की सभा नहीं है कि घन्टों बक-बक करते रहो, नारद ! अपनी वीणा समेट लो; हे तुम्बुरो ! इस समय स्तुतिकथाएँ—खुशामद की बातें—न करो, क्योंकि सीता की माँग (केशों के बीच सिन्दूर भरने की रेखा) रूपी भाले से लकेश्वर—महाराज रावण—का हृदय घायल हो गया है, वे स्वस्थ नहीं हैं।

इस किसी नाटक के पद्य में, ब्रह्मादिकों के तिरस्कार के लिए बोले गए द्वार-पाल के वचन की अनुचितता दोष नहीं है, क्योंकि उससे रावण के परम ऐश्वर्य की पुष्टि होती है और उसके द्वारा वीररस का आक्षेप होता है, जो कि विप्रलभ-शृगार (रसाभास) का अग हो गया है।

इसी तरह "अलेले ! सद्दस्समुप्पाडिअहरिअकुसग्गंथिमयाक्खमालापइविचित्तिविस्सम्भिअबालविहवन्दःकरणा बह्मणा—अरे ओ ! तत्काल उखाडे हुए हरित कुशो की गाँठो से बनी हुई अक्ष-मालाओं (जपमालाओं) के फिराने से बालविधवाओं के अन्तःकरणों को विश्वस्त करनेवाले ब्राह्मणों ! ... ..." इत्यादि विदूषक के वचन में भी अनौचित्य दोष नहीं है, क्योंकि वह हास्य-रस के अनुकूल है।

सो इस तरह यह अनौचित्य समझने की रीति दिखा दी गई है, सुबुद्धि पुरुषों को इसी प्रकार और भी सोच लेना चाहिए।

गुण

इन पूर्वोक्त रसो में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण वर्णन किए जाते हैं। उनके विषय मे—कुछ विद्वानो का कहना है कि—सयोग-शृगार में जितना माधुर्य होता है, उससे अधिक करुण-रस में होता है और उन दोनो से अधिक होता है विप्रलभ-शृगार में, एवम् इन सबसे अधिक शातरस मे होता है, क्योंकि पूर्व-पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर-उत्तर रस में चित्त का द्रव विशेष होता है। दूसरे विद्वानों का कथन है कि—संयोग-शृङ्गार से करुण और शात-रसों में अधिक माधुर्य होता है और इन दोनो से अधिक होता है विप्रलभ-शृङ्गार में। अन्य विद्वानों का यह कथन है कि—सयोग-शृङ्गार से करुण, विप्रलभ शृङ्गार और शात इन तीनों रसो में अधिक होता है, फिर इन तीनो में कुछ भी तारतम्य (कमी-बेशी) नहीं होता—ये सब समान ही मधुर हैं। इनमें से पहले और तीसरे मत में "करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चाऽतिशयान्वितम्" यह प्राचीन आचार्यों का सूत्र अनुकूल है; क्योंकि उसके आगे के सूत्र में जो 'क्रमेण' पद है, उसको पहले सूत्र में खींचने और न खींचने से उसकी दो व्याख्याएं हो सकती हैं। रहा बीच का मत, सो उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि करुण और शातरसो की अपेक्षा विप्रलंभ शृगार के माधुर्य की अधिकता का यदि सहृदय पुरुषों को अनुभव होता हो तो उसे भी प्रमाण मान लेना चाहिए। वीर, बीभत्स और रौद्र-रसो में पहले की अपेक्षा पिछले में अधिक ओज रहता है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक पिछला रस चित्त को अधिक दीप्त करनेवाला है। अद्भुत, हास्य और भयानक रसों के विषय में कुछ विद्वानों का मत है कि इनमें माधुर्य और ओज दोनो गुण रहते हैं और दूसरे कहते हैं कि इनमें केवल प्रसाद गुण ही रहता है। हाँ, यह बात सिद्ध है कि प्रसाद-गुण सब रसों और सब रचनाओं में रहता है—वह किसी विशेष रस से ही सबध रखनेवाला नहीं है।

इन गुणो के द्वारा, क्रम से, द्रुति (पिघलना), दीप्ति (जोश) और विकास (खिल जाना) ये चित्त की वृत्तियाँ उभारी जाती हैं, अर्थात् उन-उन गुणो से युक्त रसो के आस्वादन से ये वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। तात्पर्य यह है कि माधुर्य-गुण से युक्त रस का आस्वादन करने से चित्त पिघल जाता है, ओज-गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त में जोश आता है और प्रसाद-गुण से युक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है—खिल उठता है।

इस तरह इन गुणो के केवल रस-धर्म (रसो में ही रहनेवाले) सिद्ध होने पर, लोगों का जो '(पद्य की) रचना मधुर है' 'वध ओजस्वी है' इत्यादि कथन है, वह कल्पित है, जैसे कि किसी मनुष्य के विषय में कहा जाय कि—'इसका आकार शूर है'। तात्पर्य यह कि शूर-वीर होना मनुष्य के आत्मा (अन्तःकरण) का धर्म है, उसके आकार का नहीं, क्योकि आकार तो जड है, सो जिस प्रकार यह कथन कल्पित है, उसी प्रकार पूर्वोक्त व्यवहारों को भी समझिए। यह है मम्मट-भट्ट आदि प्राचीन विद्वानो का मत।

पर पण्डितराज के विचार भिन्न हैं। वे कहते हैं कि—इन माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणो को जो केवल 'रस के धर्म' ही बताया जाता है—यह माना जाता है कि ये केवल रस ही में रहते हैं—इसमे क्या प्रमाण है? आप कहेंगे कि—प्रत्यक्ष ही है, क्योकि पूर्वोक्त रीति के अनुसार हमें उन-उन रसो के आस्वादन से पूर्वोक्त चित्तवृत्तियो की उत्पत्ति का अनुभव होता है, तो हम कहेंगे कि—नहीं। जैसे अग्नि का कार्य दग्ध करना है और उष्ण स्पर्श उसका गुण है, इन दोनो का हमें पृथक्-पृथक् अनुभव होता है—हम जलते नहीं, पर हमे उष्ण स्पर्श का अनुभव हो सकता है, इस तरह रसों के कार्य जो द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अतिरिक्त रसों में रहनेवाले गुणो का हमें अनुभव नहीं होता। आप कहेंगे—अच्छा, जाने दीजिए; प्रत्यक्ष नहीं होता तो न

सही; पर माधुर्य-आदि गुणो से युक्त ही रस द्रुति-आदि के कारण होते हैं—अर्थात् उन गुणो के साथ रहने पर ही रसो से द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं, अतः कारणता के अवच्छेदक—अर्थात् कारण मे रहनेवाले विशेष धर्म—के रूप में उनका अनुमान किया जा सकता है। सो भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक रस जब कि बिना गुणो के ही उन वृत्तियो का कारण हो सकता है, तो गुणो की कल्पना करने में गौरव है—अर्थात् केवल रसो को ही उन वृत्तियो का कारण न मानकर उनके साथ गुणो का झमेला लगाने की क्या आवश्यकता है?

आप कहेंगे कि शृङ्गार, करुण और शान्त रसो मे से प्रत्येक को द्रुति का कारण मानने की अपेक्षा 'तीनो माधुर्य-गुण-युक्त हैं, इस कारण तीनो से द्रुति उत्पन्न होती है'—यह मानने मे लाघव है—अर्थात् द्रुति के तीन कारण मानने की अपेक्षा द्रुति के प्रति 'माधुर्यगुणवान्' एक ही को कारण मान लेना सीधी बात है। तब हम कहेंगे कि मम्मट-आदि कितने ही विद्वानो ने मधुररस से द्रुति, अत्यन्त मधुररस से अत्यंत द्रुति-इत्यादिक जो कार्यों मे कमी-वेशी मानी है, उसके कारण माधुर्य-गुण-युक्त होने से रस द्रुति का कारण होता है—यह मानना घेघे (घेघा-एक प्रकार की गाँठ, जो गले-आदि में हो जाया करती है) की तरह व्यर्थ है, क्योंकि पूर्वोक्त हिसाब से अन्ततोगत्वा एक-एक कार्य का एक-एक रस को पृथक्-पृथक् कारण मानना ही पडेगा। सो इस तरह प्रत्येक रस को माधुर्य-आदि का पृथक्-पृथक् कारण मानने में ही लाघव है।

दूसरे, एक यह भी बात है कि आत्मा निर्गुण है और रस है आत्मरूप, अतः माधुर्यादिक को रस का गुण मानना बन भी नहीं सकता। पर यदि कहो कि रस के न सही, इनको रसों के उपाधिरूप रति-आदि स्थायी भावो के ही गुण मान लीजिए; सो उनके गुण मानना भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रथम तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं,

और दूसरे काव्यप्रकाश-कार आदि की रीति से रति-आदि सुखरूप हैं, अतः वे स्वय ही गुण हैं, सो उनमें अन्य गुणो का मानना अनुचित भी है।

अब यह शङ्का हो सकती है कि 'शृङ्गार-रस मधुर होता है'— इत्यादि व्यवहार, जो सब विद्वानो में प्रचलित है, कैसे बन सकता है ? क्योंकि आपके हिसाब से तो माधुर्य-आदि गुण हैं ही नही। उसका समाधान यह है कि—द्रुति-आदि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता (उन्हे पैदा करनेवाला होना), जो रसों मे रहती है, उसे ही माधुर्य-आदि समझिए, और उसी के रहने से रसो को मधुर-आदि कहा जाता है। अथवा, यो कहिए कि—द्रुति-आदि चित्तवृत्तियाँ ही जब (किसी रस-आदि के साथ) उभारने का (प्रयोजकता) सबध रखती हैं, तो उन्हें माधुर्य-आदि कहा जाता है।

इसपर आप कह सकते हैं कि—यदि प्रयोजकता सबध से रहनेवाली द्रुति-आदि चित्तवृत्तियो का नाम ही माधुर्य-आदि है, तो 'शृङ्गाररस मधुर (माधुर्य गुण से युक्त) होता है' यह व्यवहार न बन सकेगा; क्योकि, द्रुति-आदि चित्तवृत्तियाँ रसो मे रहती तो हैं नहीं, उनसे उभार दी जाती हैं, फिर रसो को माधुर्य से युक्त कैसे कहा जा सकता है ? हम कहते हैं कि जिस तरह असगध (एक औषध) उष्णता को उत्पन्न करती है—उसके खाने से शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है, इस कारण लोग कहते हैं कि 'असगध गरम होती है', इसी प्रकार शृगार-आदि माधुर्य-आदि के प्रयोजक (उत्पादक) होते हैं, अतः उनको मधुर कहा जाता है।

पर, संसार के जितने काम हैं, उन सबकी प्रयोजकता अदृष्ट (धर्म, अधर्म) आदि में भी रहा करती है, बिना अदृष्ट आदि के प्रयोजक हुए कोई काम होता ही नहीं, अतः यह तो मानना ही पडेगा कि यह प्रयोजकता उससे भिन्न है, जो कि शब्द, अर्थ, रस और रचना

में रहती है। बस, यहाँ उसी का ग्रहण करना चाहिए जिससे कि पूर्वोक्त व्यवहार की अदृष्ट आदि मे अतिव्याप्ति नहीं हो सके। तात्पर्य यह है कि अदृष्ट आदि में जा प्रयोजकता है, वह दूसरे ढग की है और शब्द-अर्थ-आदि में जो प्रयोजकता है, वह दूसरे ढग की, अतः अदृष्ट-आदि में द्रुति-आदि की प्रयोजकना रहने पर भी अदृष्ट आदि को मधुर नहीं कहा जाता।

तब यह सिद्ध हुआ कि इस ढग का माधुर्य शब्द और अर्थ मे भी रहता है, केवल रस मे ही नहीं, अतः शब्द और अर्थ के माधुर्य-आदि को कल्पित नहीं कहना चाहिए (जैसा कि प्राचीन विद्वान् कहते हैं)। ये हैं हमारे (पण्डितराज)-जैसे लोगों के विचार।

अत्यन्त प्राचीन आचार्यों का मत

अत्यन्त प्राचीन आचार्यों का तो मत है कि—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, काति और समाधि ये दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों के गुण हैं। नाम दोनों के वे ही हैं, पर लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। अच्छा, क्रमशः सुनिए—

शब्द-गुण

श्लेष

इसलिये कि भिन्न-भिन्न शब्द भी एक ही शब्द-से प्रतीत हों, अत्यंत समीप-समीप में एक जाति के वर्णों की विशेष प्रकार की रचना, जिसे गाढत्व भी कहते हैं, 'श्लेषगुण' कहलाता है।

यही लिखा भी है—'श्लिष्टमस्पष्टशैथिल्यम्' अर्थात् उस रचना को

श्लेषगुण से युक्त कहा जाता है, जिसमे शिथिलता दिखाई न दे। जैसे—

* अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दाममदपौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः (अथवा, जैसे हिंदी की अमृतध्वनियाँ)।

प्रसाद

रचना मे गाढता और शिथिलता का विपरीत मिश्रण—पहले शिथिल और फिर गाढ (चुस्त) रचना का होना—'प्रसाद गुण' कहलाता है, जैसे कि—

†किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी, यस्मिन्, धराखण्डल !
क्रीडाकुण्डलितभ्रु, शोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति।
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥

---

* किसी राजा का वर्णन है। कवि कहता है कि—(वह राजा) 'विद्वान्‌रूपी वृक्षों से सर्वदा द्रोह करनेवाले दारिद्र्यरूपी मस्त हाथी के मर्यादारहित (असीम) गर्व-समूह के नष्ट करने के लिये बड़ा भारी सिंह है'—अर्थात् जिसके समीप जाते ही विद्वानों का वैरी दारिद्र्य खड़ा ही नहीं रह सकता।

† वर्णन पूर्ववत् ही है। हे राजन्! आपकी वीरता को ये (बेचारे) हम क्या कहें। जिन आपके खेल में भौंहों को गोल और नेत्रों को लाल करके भुजा-मडल के देखने पर, तत्काल ही, माणिक्यावलि की कांतियों से अत्यंत नतोन्नत सहस्रों आभूषणों के समूहों से विंध्याचल के वनों के गुफारूपी घरों में जो वृक्ष हैं वे चमकने लग गए। अर्थात् खेल में की हुई आपकी पूर्वोक्त चेष्टा को जानकर बेचारे शत्रुलोग ठहर ही न सके, उन्हें भगकर विंध्य-वन के शरण में पहुँच जाना पड़ा।

इस पद्य मे 'यस्मिन्' शब्द तक शिथिलता है, फिर 'भ्रु' शब्द तक गाढता है और फिर 'नयने' शब्द तक शिथिलता है—इत्यादि समझ लेना चाहिए।

समता

आरंभ से अंत तक एक ही प्रकार की रीति* (रचना) होने को 'समता' कहते हैं। जैसे कि आगे—'माधुर्य' के उदाहरण में—है। वहाँ उपनागरिका वृत्ति से ही प्रारभ और उसी से समाप्ति की गई है।

माधुर्य

जिनके आगे संयुक्त अक्षर हो ऐसे ह्रस्वों के अतिरिक्त अन्य अक्षरों से रचना की गई हो और अलग-अलग पद हों—अर्थात् समास तथा संधियाँ अधिक न हों, तो 'माधुर्य' गुण कहलाता है। जैसे

† नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम्॥

---

* रीतियाँ तीन है—उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन्हीं को वैदर्भी, गौडी और पाचाली भी कहते हैं। पहली रीति माधुर्य को प्रकट करनेवाले वर्णों से युक्त, दूसरी ओज को प्रकट करनेवाले वर्णों से युक्त और तीसरी माधुर्य और ओज दोनों गुणो को प्रकट करनेवाले वर्णों के अतिरिक्त प्रसाद गुणवाले अक्षरों से ही युक्त होती है।

† नायक नायिका से कहता है कि—यदि तेरे अग कोमल हैं, तो (कहना पडेगा कि) कमलों की माला अत्यत कठोर है और मृणाल तो इस विचार में आने की शक्ति भी नहीं रखते कि—वे तेरे अगों के समान हैं अथवा नहीं, रहे पल्लव, सो उन बेचारों की तो बात ही क्या करना है—उनका तो तेरे अगो की तुलना के लिये नाम लेना भी दोष है।

सुकुमारता

कठोर वर्णों के अतिरिक्त वर्णों से रचित होने का नाम 'सुकुमारता' है। जैसे—

*स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
दोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः॥

इसके पूर्वार्ध में सुकुमारता है। उत्तरार्ध में तो माधुर्य और सुकुमारता दोनो हैं।

अर्थव्यक्ति

जहाँ अर्थ और अन्वय तत्काल विदित हो जायँ, वहाँ 'अर्थव्यक्ति' गुण होता है। जैसे

'नितरा परुषा सरोजमाला..... ' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य-आदि में।

उदारता

कठिन अक्षरों की रचना, जिसे विकटता माना जाता है, 'उदारता' कहलाती है। जैसे—

---

* नायक अपने मित्र से कहता है कि—पसीने के जल की सघन बूँदों से शोभित कपोल-स्थल पर झूलते हुए कानों के कुण्डलो के कारण प्रशंसनीय और अनिर्वचनीय, मदमाते नेत्रवाली नायिका की, रमणीय अवस्था, स्मरण आते ही, हृदय में आनंद को अकुरित कर देती है।

*प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि ।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटो
हठोद्धूतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति ॥

काव्य प्रकाश के टीकाकारों की आलोचना

अच्छा, यहाँ एक विचार और भी सुनिए। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार व्याख्या करते हैं कि 'पदो के नाचते-से प्रतीत होने का नाम विकटता है' और उदाहरण देते हैं **'स्वचरणविनिष्टैर्नूपुरैर्नर्त्त-कीनाम्'** इत्यादि। इस विषय में हमे यह कहना है कि—उनकी इस तरह की विकटतारूपी उदारता का ओज-गुण में समावेश करनेवाले काव्य-प्रकाशकार उनके अनुकूल कैसे हुए—इनकी और उनकी कैसे एक राय हो गई—इसे वे ही जाने, क्योंकि यहाँ ओज-गुण अधिकता से प्रतीत नहीं होता। हाँ, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त' इस भाग में ओज का अंश है भी, पर चमत्कारी नही, और न सहृदयो को उसमें नाचते-से पदो का ही अनुभव होता है। रहा अन्य अश, सो उसमे तो माधुर्य ही है।

ओज

जिनके आगे संयोग हो ऐसे ह्रस्वों की अधिकता के रूप में जो गाढता होती है, उसे 'ओज' कहते हैं। जैसे निम्नलिखित पद्य में—

---

* अत्यत आनद में फूले हुए प्रमथ लोगों की दी हुई तालियों से विनोदयुक्त विनायक-देव का डमरु डम्-डमा-डम् बज रहा है, और जिनके ललाटस्थल से अग्नि की नवीन छटा फूटकर निकल रही है ऐसे बलाद उछाली हुई जटा के कारण विकट नंगे नट—शिव-नाच रहे हैं।

*साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दिर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः ।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण ! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः ॥

अथवा, जैसे "अय पततु निर्दयम् . .." इत्यादि पहले (रौद्र-रस में) उदाहरण दिए हुए पद्य मे ।

कांति

जिनको चतुर नही माना जाता, उन वैदिक आदि लोगों के प्रयोग के योग्य पदों के अतिरिक्त प्रयोग किए जानेवाले पदों मे जो अलौकिक शोभारूपी उज्ज्वलता रहती है. उसे 'कांति' कहते हैं। जैसे—"नितरा परुषा सरोजमाला ·" इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में ।

समाधि

रचना की गाढता और शिथिलता को क्रम से रखना—अर्थात् पहले गाढ रचना का और पीछे शिथिल रचना का होना—'समाधिगुण' कहलाता है। इन्ही—गाढता और शिथि-लता—को प्रचीन आचार्य आरोह और अवरोह कहते हैं।

---

* कवि कहता है कि—हे पृथिवी के अलंकार ! अहकार-सहित देवों और असुरों की पक्तियों के हाथों से खींचे हुए, अतएव फिरते हुए, मदराचल से क्षुब्ध क्षीर-समुद्र की मनोहर तरंगों के मारे घबराए हुए तपस्वियों के समूहों से (तृषा-शाति का साधन समझकर) आनद-सहित अवलोकन की हुई आपकी कीर्त्तियाँ समग्र ससार को शोभित कर रही हैं।

प्रसाद-गुण मे और इस गुण मे गाढ और शिथिल रचना के क्रम का ही भेद है, क्योंकि प्रसाद-गुण मे वे व्युत्क्रम—विपरीत ढग—से रहती हैं और इसमे क्रम से। तात्पर्य यह कि प्रसाद-गुण मे पहले शिथिलता और पीछे गाढता रहती है और समाधिगुण मे पहले गाढता और फिर शिथिलता। समाधि का उदाहरण—

*स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गातुङ्गभङ्गुरतरङ्गसखानाम्।
केवलामृतमुचां वचनानां यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम्॥

यहाँ पूर्वार्ध मे आरोह है और तीसरे चरण मे अवरोह। यद्यपि गगा आदि शब्दो मे माधुर्य को अभिव्यक्त करनेवाले वर्ण भी हैं, तथापि वे लबे समास के बीच मे आ गए हैं, अतः माधुर्य उठ नहीं सकता, वह समास के चक्कर मे आकर दब गया है। यहाँ, उत्तरार्ध में तो वह भी है।

ये हैं दस शब्दो के गुण।

अर्थगुण

श्लेष

इसी तरह—

चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको सिद्ध कर देनेवाली युक्ति, इनका एक के बाद दूसरी क्रिया द्वारा एक ही स्थल मे इस प्रकार वर्णन करना कि परस्पर का संबंध

---

* कवि कहता है कि—जिस (राजा) का मुख-कमल स्वर्ग से निकली हुई अतएव बेरोक-टोक चलनेवाली गगा की ऊँची और लचकती हुई लहरों के मित्र (अर्थात् उनके समान) एव निरा अमृत बरसानेवाले वचनों की नाट्यशाला है—अर्थात् जहाँ ऐसे वचन सर्वदा नाचते ही रहते हैं।

बना रहे श्लेष कहलाता है। जैसा कि अमरुक कवि का निम्न-लिखित पद्य है—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलका प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति ॥

दोऊ प्यारिन देखि ढिँग-बैठी, इकके, आइ।
पीछे सोँ, मिस खेल के, मीचे नैन दुराइ ॥
मीचे नैन दुराइ नैंक करि ग्रीवा नीची।
पुलकित ह्वै, चितमाँहि प्रेम-रस सों अति सीची ॥
हँसत कपोलन माँहि, आन कहँ, धूत सिसक बिन।
चूमत, इहि विध करत मुदित सो दोऊ प्यारिन ॥

धूर्त्त नायक ने देखा कि दोनो प्रियतमाएँ (जिसे चूमना चाहता है वह और दूसरी) एक ही आसन पर बैठी हुई हैं। दबे पाँव उसने, पीछे से, उनके समीप में आकर, एक (नायिका) के नेत्रो को, खेल करने के मिस से, बन्द कर दिया, अपनी गरदन को थोडी-सी टेढी करके, प्रेम के कारण चित्त मे प्रसन्न होती हुई और (दूसरी नायिका न जान जाय, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से जिसके कपोल शोभित हो रहे हैं—ऐसी दूसरी नायिका को, रोमाञ्चित होकर, चूम रहा है।

यहाँ 'एक नायिका को छोडकर दूसरी नायिका का चूमना' चतुरता से काम करना है, वह प्रकट भी न हुआ (क्योकि दूसरी नायिका उसे न जान सकी, और उसको सिद्ध कर देने की युक्ति है आँख-मिचोनी का खेल। (इन सब बातो का, पीछे से आना, आँख मींचना और खेल

करना—आदि क्रियाओ के साथ-साथ होते रहना वर्णन किया गया है।)

प्रसाद

जितना प्रयोजन हो, उतने ही पदों का होना यह जो अर्थ की निर्मलता है, इसका नाम है 'प्रसाद-गुण'। जैसे—

कमलानुकारि वदनं किल तस्याः

× × × ×

कमल अनुहरत तासु मुख

उसका मुख कमल की नकल करनेवाला है। यहा (कमल और मुख के समानधर्म का वाचक) 'कान्ति' शब्द स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, अतः उसे छोड दिया गया है। और यदि इसी को यो कहा जाय कि—

कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्

× × × ×

कमल-कान्ति अनुहरत मुख

(उसका) मुख कमल की कान्ति की नकल करनेवाला है तो यह इसका प्रत्युदाहरण हो जायगा क्योकि यहॉ 'कान्ति' पद भी ले लिया गया है।

समता

जो प्रारम्भ किया गया है, वह टूटने न पावे—ज्यों का त्यों निभ जाये—यह जो विषमता का न होना है, इसी को 'समता-गुण' कहते है। जैसे—

हरिः पिता हरिर्माता हरिर्भ्राता हरिः सुहृत्।
हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेरन्यन्न भाति मे॥

× × × ×

हरि माता हरि ही पिता हरि भ्राता हरि मित्र ।
हरि ते आन न लखहु मै हरि देखो सर्वत्र ॥

एक अनन्य भक्त कह रहा है— (मेरे) हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही भाई हैं और हरि ही मित्र हैं। मै सब जगह हरि को ही देखता हूँ, सिवाय हरि के मुझे अन्य किसी का भान नहीं है।

यहाँ यदि (सस्कृत मे) 'विष्णुर्भ्राता' और (हिदी मे) 'प्रभु भ्राता' बना दिया जाय, तो जो (हरि शब्द के द्वारा सबध दिखाना) प्रारभ किया गया है, वह टूट जायगा और विषमता आ जायगी।

माधुर्य

एक ही बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से बार बार कहना—यह जो उक्ति की विचित्रता है, इसे 'माधुर्य-गुण' कहते है। जैसे—

विधत्तां निश्शङ्कं निरवधिममाधि विधिरहो !
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामनां यदि जगति जागर्त्ति भवती ॥

× × × ×

रहैं सदैव समाधि-मग्न विधि चिन्ता तजिके ।
हरि हू सोवैं सुखित, शेष-सेजहि सुठि सजिके ॥
शिव हू सँग लै भूत-प्रेत नित निरतत रहहू ।
अथवा नाना कथा शैलतनया ते कहहू ॥
प्रायश्चित्त हु पूर्ण भे, वृथा दान, तप, यजन सब ।
सकल-मनोरथ-दैनि, तू जग में जागति जननि ! जब ॥

भक्त गङ्गाजी से कहता है—ब्रह्मा निश्चित होकर अनत काल तक समाधि लगाते रहे, भगवान् विष्णु शेष-शय्या पर सुख से सोते रहें और शिवजी भी सतत नृत्य करते रहे, हमे किसी की कुछ परवा नहीं। हमारे (सब पापो के) प्रायश्चित्त हो चुके और हमें तप, दान तथा यजन किसी की कुछ आवश्यकता नही, जब कि हे जगदंबे ! सब मनोरथो को पूर्ण करनेवाली तू जगत् मे जग रही है। बता, फिर कोई हमारा क्या कर सकता है।

यहाँ 'ब्रह्मा-आदि से हमे कुछ भी प्रयोजन नही है' इस बात को समाधि लगाते रहे' इत्यादि प्रेरणाओ के रूप मे, उक्ति की विचित्रता से (अनेक प्रकार से) वर्णन किया गया है, अन्यथा 'अनवीकृतता'-नामक दोष आ जाता।

सुकुमारता

विना अवसर के शोकदायीपन का न होना—यह जो कठोरता का अभाव है, इसे 'सुकुमारता' कहते है। जैसे—

त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः।

× × ×

प्रिया-विरह ते डरत यह पथिक तुरत घर जात।

एक स्त्री दूसरी स्त्री से कह रही है—यह पथिक प्रियतमा के विरह से डरता हुआ जल्दी से जा रहा है।

यही यदि 'प्रियामरणकातरः' अथवा 'प्रिया मरन ते डरत यह' कर दिया जाय, तो 'मरण' शब्द के शोक-दायक होने से कठोरता आ जायगी। यह कठोरता (नवीन विद्वानो के मत से) 'अश्लीलता'-नामक दोष के अतर्गत है।

अर्थव्यक्ति

जिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके असाधारण कार्य और रूप का वर्णन करना 'अर्थ-व्यक्ति' गुण कहलाता है। जैसे—

गुरुमध्ये कमलाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम् ।
रदयन्त्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे ॥

× × ×

कमल-बीज-सन हनत म्वहिँ कमल-नैनि गुरु-माँहि ।
दाँतन जीभ दबाइ, करि तरल नैन, किय नाँहि ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—सास-ननद आदि गुरुजनो के बीच में बैठी कमलनयनी (नायिका) ने जब देखा कि मै कमल के मनके (बीज) से उसके ऊपर प्रहार करना चाहता हूँ, तो उसने दाँतो से जीभ के अग्र-भाग को दबाकर एव नेत्रो को चचल बनाकर मना कर दिया—कह दिया कि ऐसा न करिएगा, अन्यथा अनर्थ हो जायगा ।

इसी को आधुनिक विद्वान् 'स्वभावोक्ति' अलकार कहते हैं ।

उदारता

"चुम्बनं देहि मे भार्ये ! कामचण्डालतृप्तये ।"

× × ×

चूमन दै म्वहि मेहरिया ! करु तिरपत स्मर-डोम ।

"अरी मेहरिया ! तू कामरूपी चंडाल को तृप्त करने के लिये मुझे चूम लेने दे" इत्यादि ग्रामीण बातो का हटा देना 'उदारता' कहलाता है ।

ओज

'ओज-गुण' पाँच प्रकार का है—

१—एक पद के अर्थ का अनेक पदो मे वर्णन करना,
२—अनेक पदों का अर्थ का एक ही पद मे वर्णन कर देना,
३—एक वाक्य के अर्थ का अनेक वाक्यों मे वर्णन करना,

४—अनेक वाक्यों के अर्थ का एक वाक्य में वर्णन; और

५—विशेषणों का किसी प्रयोजन से युक्त होना—निरर्थक न होना।

जैसा कि लिखा है—

पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

अर्थात् एक पद के अर्थ मे वाक्य की रचना, वाक्य के अर्थ मे एक पद का वर्णन करना एव किसी भी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार की प्रौढि—अर्थात् वर्णन करने की विचित्रता और विशेषणो का किसी अभिप्राय से युक्त होना—इस तरह ओज-गुण पॉच प्रकार का होता है। जैसे—

सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले
रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्रादुद्गतानां नराणां
मधु-मधुरगिरां च प्रादुरासीद्विनोदः॥

× × × ×

जलज-विपिन के सुजन केरि छवि-जनम-समय में।
रजनि-रमन के रम्य राज्य के होत विलय में॥
जनमे हैं जे परम-पुरुष के वदन कमल-सन।
करत वहै सुविनोद मनुज अरु मधुर-वचन-गन॥

जिस समय कमल-वन के बाधव भगवान् भुवन-भास्कर की शोभा का आरभ हो रहा था और निशा-नाथ चद्रदेव का राज्य शीघ्रता से नष्ट हो रहा था, उस समय परम पुरुष (जगदीश्वर) के मुख से उत्पन्न मनुष्यो (अर्थात् ब्राह्मणो) का और मधु के सदृश मधुर वचनो

(अर्थात् श्रुतियो) का विनोद प्रकट हुआ । इसका साराश केवल इतना है कि 'प्रात.काल मे ब्राह्मणो ने वेद-पाठ करना प्रारभ किया' ।

(यहाँ 'प्रातःकाल मे' इस एक पद का अर्थ वर्णन करने के लिये पूर्वार्ध के दो चरण बनाए गए हैं और 'ब्राह्मणो' तथा 'वेदो' इन एक-एक पदो के लिये आगे का डेढ चरण । अतः यह एक पद के अर्थ मे अनेक पदो के वर्णन का उदाहरण हुआ ।)

अब अनेक पदो के अर्थ का वर्णन करने के लिये एक पद के वर्णन का उदाहरण सुनिए—

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः ।
मण्डिताखिलादक्प्रान्ताश्चण्डांशोर्भान्ति भानवः ॥

× × × ×

खण्डित - वनिता - नैन-नलिन रँगिवे में पडित ।
चड-किरन के किरन करत दिग-भागन मडित ।

खडिता स्त्रियो के नेत्र-कमलो की पक्तियो को सुदरतया रँगने मे चतुर सूर्यदेव की किरणे सपूर्ण दिग्भागो को भूषित करती हुई शोभित हो रही हैं ।

यहाँ **'यस्याः पराङ्गनागेहात् पतिः प्रातर्गृहेऽञ्चति ।** अर्थात् जिसका पति दूसरी स्त्री के घर से प्रात.काल अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ के स्थान मे केवल 'खडिता' पद वर्णन किया गया है ।

अच्छा, अब एक वाक्य के अर्थ के लिये अनेक वाक्यो का वर्णन भी सुनिए—

अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति ।
सर्वस्वं चाऽपि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥

× × × ×

विन माँगे सुख देत अरु माँगे कछु हु न देत।
उच्छृ खल विधि नरन को सरबस हू हरि लेत॥

कोई बेचारा भाग्य का मारा विधाता को कोसता है। कहता है—उच्छृ खल विधाता विना माँगे सुख देता है और माँगने पर नहीं देता, प्रत्युत उनका सर्वस्व भी लूट लेता है।

यहाँ 'सब कुछ भाग्य के अधीन है' इस एक वाक्य के अर्थ मे अनेक वाक्यो की रचना की गई है, अतः यह विस्तार है, जिसे कि प्राचीन आचार्य 'व्यास' नाम से पुकारते हैं।

तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्वेदार्थमधिगत्य सः।
वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परमं पदम्॥

× × × ×

तप करते मुनि-वदन ते वेद-अरथ वह पाइ।
वासुदेव में मेलि मन गह्यो परम पद जाइ॥

कोई मनुष्य किसी भक्त के विषय में कहता है कि—वह तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेद का अर्थ प्राप्त करके वासुदेव मे चित्त लगाकर मोक्ष को प्राप्त हो गया।

यहाँ (१) मुनि तप कर रहे हैं, (२) उनके मुँह से उसने वेद का अर्थ प्राप्त किया, (३) उसके बाद परब्रह्म वासुदेव में चित्त प्रविष्ट किया और (४) तदनतर मोक्ष को प्राप्त हो गया, इतने वाक्यों के अर्थों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यतः), क्त्वा प्रत्यय (अधिगत्य) और बहुव्रीहि समास (वासुदेवनिविष्टात्मा) के द्वारा अनुवाद्यरूप से और तिङन्त (क्रिया—विवेश) के द्वारा विधेय रूप से लिखकर एक वाक्यार्थ के रूप मे कर दिया गया है।

'साभिप्रायता' का अर्थ यह है कि जो वर्णन चल रहा है, उसको पुष्ट करना अर्थात् सहायता पहुँचाना। जैसे—

गणिकाजामिलमुख्यानवता भवता बताऽहमपि ।
सीदन् भवमरुगर्त्ते करुणामूर्त्ते ! न सर्वथोपेक्ष्यः ॥

× × × ×

गनिका-अजामेल-आदिक की रक्षा कीन्हीं तुमने नाथ ।
भव-मरु-खाडे में सीदत मम करुना-मूरति ! तजो न हाथ ॥

हे करुणामूर्त्ते ! गणिका (पिङ्गला) और अजामिल आदि जिनमें मुख्य हैं, उन (बडे-बडे पापियो) की रक्षा करनेवाले आप ससाररूपी मरु-स्थल के (निर्जल) गड्ढे मे दुःख पाता हुआ जो मै हूँ उसकी सर्वथा उपेक्षा न करिएगा—मुझे बिलकुल ही न भूल जाइएगा ।

यहाँ 'उपेक्षा न करिएगा' इस बात को पुष्ट करने के लिये भगवान् को 'करुणामूर्त्ति' विशेषण दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि—आप परम दयालु हैं, आप मेरी उपेक्षा करे यह हो ही नहीं सकता । पर, 'यदि पापी समझकर करुणा न करे तो यह भी आपके स्वभाव के विरुद्ध है' इस बात को सिद्ध करने के लिये गणिका-आदि का दृष्टात दिया गया है और अपना विशेषण 'दुःख पाता हुआ' लिखा है । सो यहाँ एक भी पद निरर्थक नहीं है—सत्र में कुछ न कुछ अभिप्राय है ।

काति

रस के स्पष्टतया प्रतीत होने को 'कांति' कहते हैं । इसके उदाहरण रस-प्रकरण में वर्णन कर चुके हैं और आगे भी वर्णन किये जायँगे ।

समाधि

'जिस बात का मैं वर्णन कर रहा हूँ, वह पहले (किसी के द्वारा) वर्णन नहीं की गई है, अथवा पूर्वोक्त की छाया ही है' यह जो कवि का सोचना है, इसे 'समाधि' कहते है ।

आप कहेंगे कि 'सोचना' एक प्रकार का ज्ञान है, और ज्ञान आत्मा का गुण है, अर्थ का गुण तो है नहीं, फिर इसे आपने अर्थ-गुणो मे कैसे गिन लिया ? इसका समाधान यह है कि ज्ञान भी तो किसी न किसी अर्थ के विषय में ही होता है, अतः जिस तरह वह समवाय-संबंध से आत्मा मे रहता है, वैसे ही विषयता-सबध से अर्थ में भी रहता है, सो उसे अर्थ-गुण मानने मे कोई बाधा नहीं। उनमें से पहला—अर्थात् पहले वर्णन न की गई (अभिनव) बात का वर्णन करना, जैसे—

* **तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी** इत्यादि मे।

और दूसरा—पहले वणन की गई बातो की छाया तो प्रायः सर्वत्र ही है।

यह है अत्यत प्राचीन आचार्यों का सिद्धात।

अन्य आचार्यों का मत

गुण २०, न मानकर ३ ही मानने चाहिएँ

अन्य विद्वान् तो उपर्युक्त गुणो मे से कुछ को पूर्वोक्त—माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक—तीन गुणो से एवं आगे वर्णन किए जाने वाले दोषो के अभावो और अलंकारो से निरर्थक सिद्ध करते हैं, तथा कुछ को विचित्रतामात्र और कही कहीं दोषरूप मानते हैं, अतः उतने स्वीकार नहीं करते। अर्थात् वे २० न मानकर ३ ही गुण मानते हैं। अच्छा, उनके विचार भी सुनिए। वे कहते हैं—

शब्द-गुणो में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन गुणो का ओज को ध्वनित करनेवाली रचना में अतर्भाव हो जाता है। यदि आप कहें कि—श्लेष और उदारता का जो कि सब अशो में गाढरचनारूप होते हैं, अतर्भाव ओज को ध्वनित करनेवाली रचना में कर लीजिए,

* इसका अर्थ पृ० ४४ पर देखो।

पर प्रसाद और समाधि तो गाढ और शिथिल दोनो प्रकार की रच-नाओ के मिश्रणरूप होते हैं, अतः एक (गाढ) अश को ओज का व्यजक मान लेने पर भी दूसरे (शिथिल) अश का अतर्भाव किसमें होगा ? ता हम अनायास कह सकते हैं कि—माधुर्य अथवा प्रसाद की अभिव्यजक रचना में ।

अच्छा, चार की गति तो हुई, अब आपके माधुर्य को लीजिए, वह तो हमारे माधुर्य की अभिव्यजक रचना ह-ई-है । इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीनो के मत मे व्यजको (रचना-आदि) मे व्यग्यो (माधुर्य-आदि) का प्रयोग लाक्षणिक है । अतएव ओज गुण का भी ओजोव्यजक रचना में अतर्भाव समझ लेना चाहिए ।

अब 'समता' की चर्चा करिए । सो उसका सर्वत्र होना तो अनुचित ही है, क्योकि सभी विद्वान्, जिस विषय का प्रतिपादन किया जा रहा है उसकी उद्भटता और अनुद्भटता के अनुसार, एक ही पद्य मे, भिन्न-भिन्न रीतियो के प्रयोग को स्वीकार करते हैं, जैसे—

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव
न्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम् ।
काव्यं तर्हि सखे ! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद् बहिर्मा कृथाः ॥

× × × ×

अति पकिबे ते द्रवत दाख अरु मधु को, पूरो ।
परम-माधुरी-गरब करत जे बढ़ि - बढ़ि दूरो ॥
तिन बानिन निरमान माँहि जो निपुन अहै तू ।
तो कविता कहु, परम मुदित ह्वै, मो-समुहै तू ॥

नतरु कर्ण-कटु काव्य की कथा व्यर्थं, मदमत्त बनि ।
निज दुष्ट कर्म लौं हृदय ते बाहिर हू करु मूढ ! जनि ॥

यदि तू अत्यंत पकने के कारण झरती हुई दाख (अंगूर) और शहद की मधुरता के मद को हटा देने में तत्पर वचनो की रचना का पूर्ण मर्मज्ञ है तो हे सखे ! तू अपनी कविता को मेरे-जैसे लोगो के सामने आनद से कह । पर यदि ऐसा न कर सकना हो तो जिस तरह अपने किए हुए पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता, इसी तरह उसे अपने हृदय के बाहर न कर—मन की मन ही मे रख ले—जबान पर मत आने दे ।

यहाँ अलौकिक काव्य के निर्माण का वर्णन करने के लिये बनाए हुए तीन चरणो मे जिस मार्ग का अवलबन किया गया है, उसका हीन-काव्य के प्रतिपादन करने के लिये बनाए हुए चौथे चरण मे नहीं किया गया । सो यहाँ विषमता ही गुण है, और यदि समता—अर्थात् एक ही रीति—कर दी जाय, तो उलटा दोष हो जायगा ।

अच्छा, अब रही काति और सुकुमारता, सो वे ग्राम्यत्व और कष्टत्व नामक जो दोष हैं उनका त्याग देना मात्र हैं, अतः वे भी गतार्थ हैं । फिर केवल 'अर्थ-व्यक्ति' रह जाती है, सो प्रसाद-गुण के मान लेने पर उसकी कोई आवश्यकता ही नही रहती ।

यह तो हुई शब्द-गुणो की बात, अब अर्थ-गुणो को लीजिए । उनमें से श्लेष और ओज-गुण के पहले चार भेद तो केवल विचित्रता मात्र हैं, उन्हे गुणो मे गिनना उचित नही, अन्यथा प्रत्येक श्लोक में जो अर्थों की विलक्षण-विलक्षण विचित्रताएँ रहती हैं वे सब भी गुणो के अतर्गत होने लगेगीं—और आप उन्हे गिनते-गिनते पागल हो जायँगे ।

अच्छा, अब आगे चलिए, अधिक पद न होने का नाम 'प्रसाद' है, उक्ति की विचित्रता का नाम 'माधुर्य', कठोरता न होने का नाम

'सुकुमारता', ग्राम्यता न होने का नाम 'उदारता' और विषमता न होने का नाम 'समता' है, एवं पदो का साभिप्राय, होना जो ओज-गुण का पॉचवॉ भेद है , ये सब क्रमशः अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलता, ग्राम्यता, भग्न-प्रक्रमता और अपुष्टार्थतारूपी दोषो के हटा देने से गतार्थ हो जाते हैं। अर्थात् ये दोषो के अभावमात्र हैं, गुण नहीं।

अब जो स्वभाव के स्पष्ट वर्णन करने का नाम अर्थव्यक्ति कहा गया है उसकी स्वभावोक्ति अलकार के स्वीकार कर लेनेसे और जो रस के स्पष्टतया प्रतीत होने का नाम काति है उसकी रसध्वनि तथा रसवान् अलकारों के स्वीकार कर लेने से कोई आवश्यता नही रहती।

अब केवल समाधिगुण बच रहता है, वह कवि के अतःकरण में रहनेवाली ज्ञानरूप वस्तु है, सो वह कविता का कारण है, गुण नहीं। और यदि ऐसा न मानो तो हम आप से कहेंगे कि प्रतिभा को भी काव्य का गुण क्यो नहीं मानते, क्योकि आलोचना और प्रतिभा दोनों ही एक प्रकार के ज्ञान हैं, फिर जब प्रतिभा को काव्य का कारण माना जाता है तो आलोचना को गुण मानने मे क्या प्रमाण है ? अतः अततोगत्वा तीन ही गुण सिद्ध होते हैं, बीस नहीं। यह है 'मम्मट-भट्ट'-आदि का कथन।

माधुर्य-व्यञ्जक रचना

उनमें से माधुर्य गुण को ध्वनित करनेवाली रचना निम्नलिखित प्रकार की होती है। वह टवर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्रथम और तृतीय अक्षरो, तथा श-ष-स एव य-र-ल-व से बनी हुई, समीप-समीप में प्रयोग किए हुए अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिको से शोभित, जिनका आगे वर्णन किया जायगा उन—साधारणतया और विशेषतया—निषेध किए हुए सयोगादिको के स्पर्श से शून्य और समास के प्रयोगों से रहित अथवा समासके कोमल प्रयोगो से युक्त होनी

चाहिए। वर्गों के दूसरे और चौथे अक्षर—ख-घ आदि—यदि दूर-दूर आए हो, तो वे इस गुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल। हाँ, यदि उनका समीप-समीप मे प्रयोग हो और उनसे अनुप्रास बन जाते हो तो प्रतिकूल भी हो जाते हैं। कुछ विद्वानो का यह भी कथन है कि टवर्ग से भिन्न वर्गों के पॉचो अक्षर समान रूप से ही माधुर्य को ध्वनित करनेवाले होते हैं॥।

अच्छा, अब माधुर्य का उदाहरण सुनिए—

तान्तमाल-तरु-कान्तिलङ्घिनीं किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विषम्।
स्वान्त! मे कलय शान्तये चिरं नैचिकी-नयन-चुम्बितां श्रियम्॥

× × × ×

जो किङ्कर किय नव-अम्बुद-दुति, उलँघिय जो तमाल-तरु-कान्ति।
धेनु-नैन-चुम्बित तेहि शोभहि, मम मन, सुमिरु चहसि जो शान्ति॥

एक भक्त अपने हृदय से कहता है—हे मेरे हृदय, तू, शान्ति प्राप्त करने के लिये, जिसने तमाल-वृक्ष की काति का उल्लंघन किया है—उस बेचारी को पैरो के नीचे से निकाल दिया है, और जिसने नवीन मेघो की काति को अपना आज्ञाकारी चाकर बना लिया है, उस, उत्तमोत्तम गायो के नेत्रो से चुबन की हुई—उनके द्वारा इकटक देखी गई (भगवान् श्रीकृष्णचद्र की) शोभा को स्वीकारकर —सदा उसी का स्मरण करता रह।

अथवा, जैसे—

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
रन्तःस्मितालसविलोकनवन्दनीया।

॥ पर उन लोगों का ध्यान द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के अनुप्रासों की तरफ नहीं गया ऐसा प्रतीत होता है।—अनुवादक।

आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥

× × × ×

सेद-सलिल के सघन कनन शोभित कपोल-वर
अन्तरगत मृदु हँसन, अलस चितवन ते मनहर ॥
अरुन-नयनि की वहै अकथ थिति अतिसै सुन्दर ।
सुमिरत होत अनद केर अंकुर उर अतर ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—जिसका कपोलस्थल पसीने के जल की सघन बूँदो से सुशोभित है और जो भीतरी मद हास तथा आलस्ययुक्त चितवन से प्रशंसनीय है, वह मदमाते नेत्रवाली नायिका की अनिर्वचनीय रमणीय अवस्था स्मरण करते ही हृदय में आनद को अकुरित कर देती है।

यहाँ पहले पद्य में, अतिशयोक्ति से अलकृत, जो भगवान् के ध्यान की उत्सुकता है उसका, अथवा भगवान् के विषय मे जो प्रेम है उसका, अततोगत्वा शात-रस मे ही पर्यवसान होता है, अतः यह रचना शात-रस के माधुर्य को अभिव्यक्त करती है और दूसरे पद्य मे स्मरण के सहारे उपस्थित (स्मृत) शृगार रस के माधुर्य को अभिव्यक्त करती है।

ओजो-व्यंजक रचना

ओज-गुण का बध, समीप-समीप में प्रयोग किए हुए वर्गों के दूसरे और चौथे अर्थात् ख-घ आदि-अक्षरो, टवर्ग के अक्षरो और जिनमें जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग और सकार आदि अधिक हों—ऐसे अक्षरो से बना हुआ, वर्गों के आदि के चार अक्षरो अथवा रेफ के द्वारा बने हुए सयोग जिनके आगे हो ऐसे और समीप-समीप

में प्रयोग किए हुए ह्रस्व स्वरो से युक्त और बडे-बडे समासवाला होता है। इस बध के अदर आए वर्गों के पहले और तीसरे—अर्थात् क-ग आदि अक्षर यदि सयुक्त न हो, तो न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल; और यदि सयुक्त हों तो अनुकूल हो जाते हैं। इसी तरह अनुस्वार और परसवर्णों को भी समझिए—वे भी न अनुकूल हैं, न प्रतिकूल।

इसके उदाहरण हैं 'अय पततु निर्दयम्...' आदि; जो कि पहले रौद्र-रस आदि के उदाहरणो में लिखे जा चुके हैं। (हिंदी में महाकवि भूषण की रचना प्राय. इसी गुण का उदाहरण है)

प्रसादव्यञ्जक रचना

जिसके सुनते ही वाक्य का अर्थ हाथ के बेर की तरह दीखने लगे—उसके समझने के लिए किंचित् भी प्रयास न करना पडे—वह रचना प्रसाद-गुण को अभिव्यक्त करनेवाली होती है। यह गुण सब—रस, भाव आदि—में रहता है, किसी विशेष प्रकार के रस अथवा भाव में ही रहता हो, सो नहीं। प्रायः मेरे (पडितराज के) सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हो सकते हैं, तथापि जैसे—

चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत् त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे
मुग्धे! मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति॥

× × × ×

मुकुलित किय मन मदन सतत चिन्ता उपजाके।
सखियाँ निष्प्रभ भईं, प्रानपति विनवत थाके॥

रहै यहै सब, करौं निवेदन इतनो तोसों।
राखत तू जो सखी! हितू को नातो मोसों॥
भोरी! मान न करु, नतरु मान-मलिन यह मुख-नलिन।
हारि जाइगो सरद के राकापति सो जोति बिन॥

मानिनी नायिका से सखी कहती है कि—कामदेव का चित्त चिन्ता से बिलकुल घिर गया है—उसमे सोचने की शक्ति ही नहीं रही है, सखियाँ (सोच के मारे) काति-हीन हो गई हैं और प्राणनाथ प्रेम के कारण अधीर हो उठे हैं—अब तो हठ छोड दे। अच्छा, यह भी रहने दे, पर यदि तू मेरे कथन को भला समझती है—जैसा कि सदा से समझती आई है—तो तुझसे इतना निवेदन कर देती हूँ कि मुग्धे! तू मान न कर, अन्यथा इस सुदर मुखडे को पूर्ण चंद्रमा जीत जायगा—रोष से मुख मे मलिनता आ जाने के कारण उस कलङ्की की इससे तुलना हो जायगी जो पहले कभी न थी। हाय रे! भोलापन!! क्या अब भी प्रसन्न होना नहीं चाहती!

यह पूरा पद्य प्रसाद-गुण को अभिव्यक्त करता है, और किसी किसी अश में माधुर्य तथा ओज को भी क्योकि **'चिन्तामीलितमानसो मनसिजः'** और **'मा कुरु मानमाननमिदम्'** इन भागो से माधुर्य की, और **'सख्यो विहीनप्रभाः · ·'** आदि भागो से ओज की भी अभिव्यक्ति होती है।

आप शका कर सकते हैं कि यहाँ शृंगाररस में रहनेवाले माधुर्य को अभिव्यक्त करने के लिये उसके अनुकूल रचना भले ही रहे, पर ओज का यहाँ प्रसग ही क्या है कि उसके अनुकूल अक्षरो का विन्यास किया गया। इसका समाधान यह है कि—सखी ने नायिका का मान शात करने के लिये अनेक यत्न किए और उसके भले की बात कह रही है, तथापि वह प्रसन्न न हुई, अतः उसे क्रोध आ गया। सो उसको

क्रोधयुक्तता को अभिव्यक्त करने के लिये वह विन्यास भी सफल है। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, (यह सिद्धात है कि) जहाँ ओजस्वी रस और अमर्षादि भावो के वर्णन की इच्छा न हो वहाँ भी यदि बोलनेवाले का क्रोधीपन प्रसिद्ध हो, अथवा जिस अर्थ का वर्णन किया जाता हो वह अत्यत क्रूर हो, यद्वा जो निबध लिखा जा रहा हो वह आख्यायिका-आदि हो तो कठिन वर्णों की रचना होनी चाहिए।

अच्छा, छोडिए इस सब पचायती को, आप केवल प्रसाद गुण का ही उदाहरण सुनिए—

वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ ! शिक्षामदा-
स्तां स्वप्नेऽपि न संस्पृशाम्यहमहंभावावृतो निस्त्रपः ।
इत्यागःशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत-
स्त्वत्तो नाऽस्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तः परः ॥

× × × ×

सुधा-मधुर निरमल बानी ते जो तुम शिक्षा दीन्हीं नाथ !
तेहिँ सपनेहू छुवत न निरलज हौं, परि अहङ्कार के हाथ ॥
इहि विधि शत-शत दोष-युक्त म्वहिँ पुनि पुनि देत निजन में स्थान ।
तुम-सम करुनानिधि ना यदुपति, मो सम मदमातो ना आन ॥

हे नाथ ! आपने अमृत के समान मधुर और निर्मल वाणी से, जो शिक्षा दी उसे, अहङ्कार से आच्छादित निर्लज्ज मैं, सपने में भी, नहीं छूता। हे यदुपते ! इस तरह सैकडों अपराधो से युक्त मुझे फिर भी आत्मीयो में भरती करनेवाले आपसे अधिक कोई दयानिधि नहीं है, और मुझसे अधिक मदमत्त नहीं।

यहाँ केवल प्रसाद-गुण है, उसके साथ अन्य किसी गुण का मिश्रण नहीं।

रचना के दोष

अब जिस रचना मे पूर्वोक्त गुणो को ध्वनित करने की शक्ति रहती है, उसके परिचय के लिये, साधारणतया—अर्थात् जिनको सब काव्यो में छोड़ना चाहिए और विशेषतया अर्थात् जिनको किसी रस मे छोड़ना चाहिए और किसी मे नही, वर्जनीयो का कुछ वर्णन किया जाता है—

साधारण दोष

एक अक्षर का साथ ही साथ फिर से प्रयोग, यदि एक पद मे और एक बार हो तो, सुनने मे कुछ अनुचित प्रतीत होता है, जैसे—'ककुभसुरभिः', 'विततगात्रः' और 'पललमिवाभाति' इत्यादि मे बड़े अक्षरों का। यदि वही बार-बार हो तो अधिक अनुचित प्रतीत होता है; जैसे—'विततततरस्तरुरेष भाति भूमौ'। इसी तरह भिन्न-भिन्न पदो में आने पर भी अधिक अनुचित प्रतीत होता है, जैसे—'शुककरोषि कथ विजने रुचिम्' इत्यादि में। और यदि भिन्न - भिन्न पदो मे हो और बार-बार हो तो, और भी अधिक अनुचित होता है, जैसे 'पिक ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्'।

इसी तरह पहले जिम वर्ग का अक्षर आया है, उसके साथ ही साथ उसी वर्ग के अन्य अक्षर का प्रयोग, यदि एक-पद मे और एक बार हो तो, कानो को कुछ अनुचित लगता है, जैसे—'वितथस्ते मनोरथः' यहाँ त और थ का। पर यदि बार-बार हो तो अधिक अश्रव्य होता है, जैसे—'वितथतर वचनं तव प्रतीमः' यहाँ 'त-थ त' का प्रयोग। इसी तरह यदि भिन्न-भिन्न पदो मे हो, तब भी अधिक अश्रव्य होता है, जैसे—'अथ तस्य वचः श्रुत्वा' इत्यादि मे। और यदि भिन्न-भिन्न पदों में और बार-बार हो तो और भी अधिक अश्रव्य होता है, जैसे—'अथ तथा कुरु येन सुख लभे' यहाँ 'थ-त-थ' का प्रयोग।

यह एक वर्ग के अक्षरों का सह-प्रयोग पहले के बाद दूसरे का और तीसरे के बाद चौथे का हो तभी अनुचित होता है। पहले और तीसरे एव दूसरे और तीसरे का सह-प्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता, किंतु बहुत कम होता है, जिसे कि रचना के मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। यह अर्थात् पहले के बाद तीसरे का और दूसरे के बाद तीसरे का प्रयोग भी यदि बार-बार हुआ तो उसे साधारण मनुष्य भी समझ सकते हैं, जैसे—'खगकलानिधिरेष विजृम्भते' और 'इनि वदति दिवानिश धन्यः' इत्यादि में। पचम वर्णों अर्थात् ङकारादिकों का तो मधुर होने के कारण अपने वर्ग के अक्षरों के पहले अथवा पीछे आना बुरा नहीं प्रतीत होता, जैसे—'तनुते तनुता तनौ' इत्यादि में। परतु एक ही अक्षर का साथ ही साथ बार-बार प्रयोग तो उनका भी अश्रव्य होता है, जैसे—'**मम महती मनसि** व्यथाऽऽविरासीत्' यहाँ।

ये अश्रव्यताएँ गुरु अक्षर के बीच मे आ जाने से हट जाती हैं, जैसे—'सजायता कथङ्कार **काके केका**कलस्वनः' इत्यादि में। अथवा, जैसे—

***यथा यथा तामरसायतेक्षणा**
मया सरागं नितरां निवेषिता।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो
विकृष्य मामेकरसञ्चकार सा॥

*** नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैंने कमल-से विशाल नेत्रवाली (उस नायिका) को ज्यों-ज्यो प्रेमसहित अत्यन्त सेवन किया त्यों-त्यों उसने मुझे, तत्त्व-कथा (ब्रह्मविचार) की तरह, सब तरफ से खींचकर, एक-रस कर लिया—अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञानी को सिवाय ब्रह्म के और कुछ भी नहीं सूझता वैसे मुझे सिवाय उसके और कुछ भी नहीं सूझने लगा।**

गुरु-अक्षर दो प्रकार के होते हैं—एक दीर्घ, और दूसरे वे जिनके आगे संयोग होता है। उनमें से, पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घों के बीच में आने के कारण अश्रव्यता मिट गई—यह दिखाया गया है। अब जिन अक्षरों के आगे संयोग होता है, उनके बीच मे आने से अश्रव्यता की निवृत्ति का उदाहरण सुनिए—

* सदा जयानुषङ्गाणामङ्गानां सङ्गरस्थलम् ।
रङ्गाङ्गणमिवाभाति तत्तत्तुरगताण्डवैः ॥

यहाँ 'तत्तत्तु' मे संयुक्त तकारों के द्वारा अश्रव्यता निवृत्त हो गई।

यहाँ एक बात और समझ लेने की है। वह यह कि गुरु-स्वर जिन दो अक्षरों के बीच मे आता है, उन दो मे एक के बाद दूसरे के आने के कारण, जो अश्रव्यता उत्पन्न हो जाती है, उसे ही दूर करता है, इस कारण, पूर्वोक्त 'यथा यथा तामरसायतेक्षणा ··' इस पद्य मे 'यथा ता' इस भाग में और 'तथा तथा त' इस भाग मे थकार के अनंतर जो तकार आए हैं उनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद थकार आने के कारण जो अश्रव्यता आ गई है वह ज्यों की त्यों है, क्योंकि उनके बीच में कोई गुरु नहीं, किंतु ह्रस्व अकार है।

इसी प्रकार तीन अथवा तीनसे अधिक अक्षरों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है, जैसे—'राष्ट्रे तवोष्ट्र्यः परितश्चरन्ति' यहाँ 'ष्ट्र'। इस तरह, अनुभव के अनुसार, ऐसे-ऐसे कर्णकटुता के अन्य भेद भी समझ लेने चाहिएँ।

---

* कवि अङ्ग देश के राजाओं का वर्णन करता है कि—जिनके पीछे सदा विजय फिरा करती है—जो अब तक कभी परास्त नहीं हुए, उन अंग देश के राजाओं का वह युद्ध-स्थल उन खेत के घोड़ों के नृत्यों से नाटकघरके आँगन सा प्रतीत होता है।

पूर्वपद के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य*होता है, और यदि बार-बार हो, तो बहुत ही अधिक। जैसे—

†हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते।
सेवितं सर्वसंपद्भिरपि तद्भवनं वनम्॥

यहाँ पूर्व-पद 'हरिणी' शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है। पर, यदि दीर्घ स्वर और उसके आगे का सयोग दोनो एक ही पद में हो तो वैसी अश्रव्यता नहीं होती, जैसे—'जाग्रता विचितः पन्थाः शात्रवाणा वृथोद्यम.' इत्यादि मे।

पर-सवर्ण‡के कारण जो सयोग होता है उसका दीर्घ के अनतर विद्यमान होना नाममात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योकि वह सर्वथा भिन्न-पद मे होता नही, और मधुर भी होता है, जैसे—'तान्तमालतरु-कान्तिलङ्घिनीम्...' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य मे। यहाँ 'तान्तमाल' और 'नाङ्किङ्करी' मे जो पर-सवर्ण किया गया है, वह पूर्व पद से भी संबध रखता है, इस कारण, इस सयोग को भिन्न-पद मे होनेवाला नहीं कहा जा सकता। पर जिन लोगो का यह मत है कि—"सयुक्त वर्णों में प्रत्येक की सयोग सज्ञा माननी चाहिए" उनके विचारानुसार भी "तान्तमाल" मे त और न दोनो सयोग सज्ञक हैं सही, पर तमाल का

---

* यह दोष हिंदी में नहीं होता, क्योकि वहाँ भिन्न-पद में संयोग होने पर पूर्व-पद के स्वर पर जोर देने की रीति ही नही है।

† जहाँ मृगनयनी गृहिणी दिखाई नही देती, वह घर सब संपत्तियों से युक्त होने पर भी वन है।

‡ यह सब शास्त्रार्थ भी केवल सस्कृतवालों के काम का है।

पहला वर्ण 'त' का सयोग भिन्न पद मे रहने पर भी 'ता' के दीर्घ आ से अव्यवहितपर नहीं है, क्योकि बीच मे परसवर्ण 'न' का व्यवधान है। अत. 'समुदाय की सयोग सज्ञा' माननेवालो के मत से सयोग भिन्न-पद-गत नहीं हुआ इससे, और प्रत्येक की सयोग सज्ञा माननेवालो के मत से सयोग होने पर भी वह बीच मे व्यवधान डालनेवाले परसवर्ण के आ जाने से, अश्रव्य नही हुआ।

इसी पद्य में 'नवाम्बुद' शब्द मे 'नव' और 'अम्बुद' शब्द के व के अ और अम्बुद के अ के स्थान मे जो आ दीर्घ हुआ है वह व्याकरण की परिभाषा के अनुसार एकादेश है, अतः वह दोनो पदो से पृथक् पृथक् सबध रख सकता है*। सो वह जब पूर्व पद का भाग गिना जाय तब 'म्बु' मे जो सयोग है वह यद्यपि भिन्न-पद-गत भी है और ऐसा दीर्घ से आगे भी कि जिसके बीच में कोई व्यवधान न हो तथापि यहॉ 'भिन्न-पद-गत' सयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ दोष नहीं। तात्पर्य यह है कि 'नव' और 'अम्बुद' पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि वे समास मे आ जाने के कारण 'नवाम्बुद' रूपी एक पद के अतर्गत हो गए हैं, अतः यहॉ अश्रव्यता नहीं रही।

पूर्वोक्त भिन्न-पद-गत सयोग यदि बार-बार आवे, तो अत्यत कर्ण-कटु हो जाता है, जैसे—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला' इसमे।

उपर्युक्त अश्रव्यताओ के कारण काव्य लॅगड़ा-लॅगड़ा कर चलता-सा प्रतीत होता है, उसकी सरस धारा में रुकावट आ जाती है, अतः इनका परिहार आवश्यक है।

†अब संधियों के नियमो की बात सुनिए। सधि का, अपने इच्छा-नुसार, एक बार भी न करना अश्रव्य होता है, जैसे—'रम्याणि इन्दु-

---

* देखो—'अन्तादिवच्च' सूत्र की कौमुदी।

† यह सब भी केवल संस्कृत काव्यों के लिये ही उपयोगी है।

मुखि ! ते किलकिञ्चितानि' यहाँ 'णि' और 'इ' में संधि न करना।

पर प्रगृह्य संज्ञा के कारण जो संधि नहीं की जाती वह बार-बार आवे तभी अश्रव्य होती है, केवल एक बार आने से नहीं, जैसे—'अहो अमी इन्दुमुखीविलासाः' यहाँ ओ + अ और ई + इ में। इसी तरह 'य' और 'व' के लोप के कारण जो संधि नहीं की जाती वह भी यदि बार-बार आवे तो खटकती है, जैसे—'अपर इषव एते कामिनीना इगन्ताः' यहाँ अ + इ और अ + ए में। पर यदि आप पूछ उठे कि तब आपने—

***भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवाऽवनीरमण !**
तारा इव तुरगा इव सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥

यह कविता कैसे कर डाली—यहाँ तो इनकी भरमार है, तो हम उत्तर देते हैं कि—(कृपया) यकार का लोप न करके पढिए, अर्थात् 'मन्त्रायिवा' 'तारायिव' 'तुरगायिव' यो पढिए।

इसी तरह 'रु' के 'उ', हल् पर रहते 'य्' के लोप, यण्, गुण, वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ और पूर्व-रूपादिको के समीप-समीप में अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता के कारण होते हैं।

ये उपर्युक्त सभी अश्रव्यो के भेद सभी काव्यो में वर्जनीय हैं, चाहे किसी रस का वर्णन हो इन अश्रव्यताओ का न आने देना ही उचित है।

---

* कवि कहता है—हे राजन्, आपके मंत्री, गारुड मंत्रों की तरह, 'भुजगाहित प्रकृति' हैं—अर्थात् जैसे गारुड मंत्र स्वभावत: सर्पों के विरुद्ध हैं, उसी प्रकार आपके मंत्री स्वभावतः गुडों के विरुद्ध हैं और तारो की तरह तथा घोड़ों की तरह, 'सुखलीन' (अच्छे आकाश में स्थित + अच्छी लगामवाले + आनन्दमग्न) हैं।

विशेष दोष

अब विशेषतया वर्जनीयो (अर्थात् जिन्हे किसी रस मे छोड़ना चाहिए और किसी रस मे लाना चाहिए) का वर्णन किया जाता है। उनमे से, जो दोष मधुर-रसो मे निषिद्ध हैं और जिनका अभी वर्णन किया जायगा, वे ओजस्वी रसो के अनुकूल होते हैं—वहाँ उनको अवश्य लाना चाहिए, और जो मधुर-रसो के अनुकूल वर्णन किए गए हैं, वे ओजस्वी रसो के प्रतिकूल होते हैं, अतः उनसे उन रसो को बचाना चाहिए। यह एक साधारण निर्णय है, इसे अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए।

मधुर रसो में निषिद्ध

अच्छा, तो अब मधुर रसो मे निषिद्धो को सुनिए। मधुर-रसो मे लबे समासो, जिनके आगे वर्गों के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अक्षरो के संयोग हो—ऐसे ह्रस्वो, विसर्गों, विसर्गों के आदेश सकारो, जिह्वा-मूलीयो, उपध्मानीयो, टवर्ग के अक्षरो और प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षरो, रेफ अथवा हकार द्वारा बने हुए सयोगो, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यजनो के उन्ही के साथ सयोगो—अर्थात् उनके द्वित्वो और वर्गों के प्रथम से चतुर्थ पर्यंत के वर्णों मे से किन्हीं दो सयोगो के समीप-समीप में बार-बार प्रयोगो को छोड़ना चाहिए, और जिनके स्थान एव प्रयत्न एक-से हों—ऐसे वर्गों के प्रथम से चतुर्थ तक के बने हुए संयोग और श-ष-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के बने हुए सयोग का एक बार भी प्रयोग न आने देना चाहिए। अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिए।

लंबा समास, जैसे—

*लोलालकावलिवलन्नयनारविन्द-
लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः ।
सायाह्नि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-
श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः ॥

यहाँ पूर्वार्ध में ।

जिनके आगे वर्गों के पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे वर्णों के सयोग हो—ऐसे ह्रस्वों की अधिकता, जैसे—

†हीरस्फुरद्रदनशुभ्रिमशोभि किञ्च
सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनस्याः।
वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं
दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥

इस पद्य मे 'भ्रि' आरम्भ मे अक्षर पर्यन्त जो रचना है वह श्रृंगार-रस के प्रतिकूल है, शेष सुंदर है। यद्यपि उत्तरार्ध मे, 'पुनरुक्त' शब्द में ककार और तकार का सयोग है, तथापि ऐसे सयोगों की प्रचुरता न होने के

---

* चचल अलकावलि और चलते हुए नेत्र-कमलों की लीला से जिसने सब मनुष्यों के नेत्रों को वशंवद कर लिया है—ऐसी, सायकाल के समय अपने प्रेमी के घर जाती हुई अगना की चाल किसका चित्त नहीं चुराती ?

† हीरों के समान चमकते हुए दाँतों की धवलता से शोभित और सघन अमृत से युक्त मृग-नयनी के मुख को बनाकर, विद्वानों में श्रेष्ठ विधाता, पुनरुक्त के समान (नीरस) चंद्र-बिंब को क्यों नहीं हटा देता है—अब भी इसे आकाश में क्यो टाँग रक्खा है !

कारण दोष नही गिना जा सकता। और यदि इसी पद्य के आदि मे 'दन्ताशुकान्तमरविन्दरमापहारि..' बना दिया जाय, तो सभी पद्य सुन्दर (निर्दोष) हो सकता है।

विसर्गों की प्रचुरता, जैसे—

*सानुरागाः सानुकम्पाश्चतुराश्शीलशीतलाः।
हरन्ति हृदयं हन्त कान्तायाः स्वान्तवृत्तयः॥

यहाँ दो शकारो के सयोग पर्यन्त पूर्वार्ध का भाग मधुरता के अनुकूल नहीं है।

जिह्वामूलीयो की प्रचुरता, जैसे—

†कलितकुलिशघाता ᳵ केऽपि खेलन्ति वाता ᳵ
कुशलमिह कथं वा जायतां जीविते मे।
अयमपि बत! गुञ्जन्नालि! माकन्दमौलौ
चुलुकयति मदीयां चेतनां चञ्चरीकः॥

यहाँ दूसरे जिह्वामूलीय पर्यंत का भाग मधुरता के अनुकूल नहीं है। पर यदि "कथय‡ कथमिवाशा जायता जीविते मे मलयभुजगवान्ता

---

* प्रियतमा की प्रेम और दया से युक्त, चतुर और शीतल चित्त-वृत्तिया, हाय! हृदय को हरण किए लेती हैं।

† विरहिणी कहती है कि—वज्र के से आघात करनेवाले न-जाने कौन से वायु खेल रहे हैं, फिर, भला! मेरे जीवन की कुशलता कैसे हो सकती है। और हे सखी! बडे खेद की बात तो यह है कि आम की चोटी पर गूँजता यह भौंरा भी मेरे जीवन को चुल्लू किए जा रहा है।

‡ कह, मेरे जीवन की आशा कैसे हो सकती है, जब कि मलयाचल के चदनों से लिपटे सर्पों के उगले हुए ये कालरूप वायु चल रहे हैं।

वान्ति वाताः कृतान्ताः" यों बना दिया जाय तो यह दोष नहीं रहता।

उपध्मानीयों की प्रचुरता, जैसे—

*अलका ̆ फणिशावतुल्यशीला
नयनान्ता ̆ परिपुङ्खितेषुलीलाः।
चपलोपमिता खलु स्वयं या वद
लोके सुखसाधनं कथं सा॥

यहाँ दोनो उपध्मानीय शान्त-रस के अनुकूल नहीं हैं।

टवर्ग और वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों की प्रचुरता, जैसे—

† वचने तव यत्र माधुरी सा हृदि
पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत्।
अधुना हरिणाक्षि! हा! कथं वा
कटुता तत्र कठोरताऽऽविरासीत्॥

यदि इसी का उत्तरार्ध "‡अधुना सखि तत्र हा! कथं वा गतिरन्यैव

---

* एक विरही कहता है—जिसके केश सर्प के बच्चों के समान स्वभाववाले हैं, जिसके नयनप्रांत पंख लगे बाणों की सी लीला करनेवाले हैं और जो स्वयं बिजली के समान है, आश्चर्य्य है कि, वह (स्त्री) संसार में सुख का साधन कैसे मानी जाती है!

† नायक कहता है कि—हे मृगनयनी! जिस तेरे वचन में वह अनुपम मधुरता थी और जिस कोमल हृदय में पूरी दया थी, हाय! आज उन्ही दोनों में कटुता और कठोरता कैसे उत्पन्न हो गई!

‡ हे सखि! अब उन्हीं दोनो में गुणों की गति दूसरी ही कैसे दिखाई देती है!

विलोक्यते गुणानाम्' यो बना दिया जाय तो माधुर्य के अनुकूल हो जायगा।

रेफों के द्वारा बने हुए संयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे—

*तुलामनालोक्य निजामखर्वं गौराङ्गि !
गर्वं न कदापि कुर्याः।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो
लताः कियत्यो गहनान्तरेषु ॥

पर, यदि '†तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' बना दिया जाय, तो ठीक हो जाय।

ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों का उन्हीं के साथ संयोग का बार बार प्रयोग, जैसे—

‡विगणय्य मे निकाय्यं तामनुयातोऽसि नैव तन्न्याय्यम्।

पर ल, म और न का जो अपने आपके साथ संयोग होता है, वह उतना कठोर नहीं होता, जैसे—

§इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते।
जलदालिमयं जगद्वितन्वन् कलितःक्वापि किमालि! नीलमेघः॥

---

* नायक कहता है—हे गौरांगि ! अपनी समानता न देखकर तुझे अधिक अभिमान न करना चाहिए। जंगलों में विविध फलों के भार से झुकी हुई कितनी लताएँ शोभित हो रही हैं।

† इस पृथिवीतल पर समानता न देखकर...... ।

‡ नायिका नायक से कहती है—मेरे घर का निरादर करके (तू) उस (सपत्नी) के पीछे लगा हुआ है, यह न्यायोचित नहीं है।

§ सखी संभोगचिह्निता गोपी से कह रही है—हे सखी ! तेरे मुख

वर्गों के प्रथम से लेकर चतुर्थ पर्यंत वर्णों मे से किन्हीं दो के सयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे—

* आ-सायं सलिलभरे सवितारमुपास्य सादरं तपसा।
अधुनाऽब्जेन मनाक्तव मानिनि ! तुलना मुखस्याऽऽप्ता ॥

यहाँ उत्तरार्ध सुंदर नहीं है। पर यदि † 'सरसिजकुलेन सप्रति भामिनि ! ते मुखतुलाऽधिगता' यो बना दिया जाय तो उत्तम हो जाय।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वर्णों मे से किन्हीं दो सवर्णों के संयोग का एक बार प्रयोग, जैसे—

‡ अयि ! मन्दस्मितमधुरं वदनं तन्वङ्गि ! यदि मनाक्कुरुषे।
अधुनैव कलय शमितं राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम् ॥

की यह शोभा उल्लासयुक्त हो रही है और तेरे दोनों नयन-कमल पूरे खिल रहे हैं, सो, कही, सब जगत् को मेघमालामय बनानेवाला नील-मेघ (भगवान् श्रीकृष्ण) मिल गया है क्या ?

* दूती अथवा सखी मानिनी नायिका से कहती है कि हे मानिनि ! साँझ तक गहरे जल में रह कर भगवान् सूर्य्य की उपासना करने के अनतर, अब—दूसरे दिन—कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र समानता प्राप्त की है।

† हे कोपकारिणि ! अब जाकर कमलों के समूह ने तेरे मुख की समानता प्राप्त की है।

‡ हे कृशागि ! यदि तू अपने मुख को, थोडा भी, मंदहास से मधुर कर ले, तो हर्ष है कि निशानाथ चद्र-देव का साम्राज्य शात हुआ ही समझ—फिर उसकी तिथि कोई न पूछेगा।

यदि आप शंका करें कि यहाँ जो 'मनाक्कुरुषे' मे दो ककारो का सयोग है, उसका तो व्यंजनो का जो अपने-आपके माथ सयोग निषिद्ध माना गया है उसी से निषेध हो जाता है, और क ख का सयोग हो तो वह महा-प्राणो के सयोग के निषेध गतार्थ हो जाता है। रहा तीसरा सयोग, सो वह हो ही नहीं सकता, अतः दो सवर्ण झयो (वर्गों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों) का निषेध जो आपने पृथक् लिखा है उसके लिये कोई अवकाश ही नही रहता, फिर उसके लिखने से क्या फल सिद्ध हुआ? इसका समाधान यह है कि दो सवर्ण झयो का संयोग यदि एक बार हो, तथापि दूषित होता है, सो यह उससे भिन्न है, अन्यथा 'मनाक्कुरुषे' यह निर्दोष हो जायगा, क्योकि यहाँ व्यजन का अपने आपके साथ सयोग तो है, पर बार-बार नही।

महाप्राणों के द्वारा बने हुए संयोग का प्रयोग, जैसे (पूर्वोक्त-श्लोक का पूर्वार्ध यो बना दीजिए)—

*** अयि मृगमदबिन्दुं चेद्भाले बाले! समातनुषे।**

और उत्तरार्ध तो वही है-ई—हैं।

इसी तरह, 'त्व' प्रत्यय, यङन्त, यङ्लुङन्त तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग, यद्यपि वैयाकरण लोगो को प्रिय लगते हैं, तथापि मधुर-रस में उनका प्रयोग नही करना चाहिए।

इसी प्रकार कवि को उचित है कि वह व्यग्यो के आस्वादन से पृथक्, विशेष प्रकार के जोड़-तोड़ की अपेक्षा रखनेवाले एव ऊपरी तौर से अधिक चमत्कारी अनुप्रासो के समूहो तथा यमकादिको का, यद्यपि वे बन सकते हो। तथापि बनाने का प्रयत्न न करे, क्योकि यदि वे अधिकता और प्रधानता से हुए तो उनका समावेश रस की चर्वणा में न हो

---

* हे बाले! यदि ललाट पर कस्तूरी की बिन्दी लगा लेगी, तो..।

सकेगा, और वे सहृदय पुरुष के हृदय को अपनी तरफ आवर्जित कर लेगे, इस कारण रस से विमुख कर देगे—अर्थात् सहृदय पुरुष उनके चमत्कार के चक्कर में पडकर रस के आस्वादन से वचित हो जायगा।

विशेषतः विप्रलभ-शृगार मे तो इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए, क्योकि वह रस सबसे अधिक मधुर होता है, और इसी कारण उसे शुद्ध मिश्री के बनाए हुए शरबत की उपमा दी जाती है; उसमें यदि बहुत थोडी-सी भी कोई वस्तु ऐसी हुई कि जो अपना अडंगा अलग जमाने लगे तो वह सहृदय पुरुषो के हृदय मे खटक जाती है, इस कारण ऐसी वस्तु का उसके साथ रहना सर्वथा अनुचित है। जैसा कहा भी गया है—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥

अर्थात् जिस ध्वनि-काव्य के आत्मा लोकोत्तरचमत्कारकारी शृगार-रस मे यमक-आदि की रचना करना, यदि कवि मे उनकी रचना करने की शक्ति हो—वे स्वभावत. आ जाते हो, तो भी कहना चाहिए कि उसकी असावधानता है—जो उसने उन्हें आ जाने दिया। और यदि विप्रलभ-शृगार के काव्य मे आ गए, तब तो विशेष-रूप से असावधानता समझी जायगी।

परतु जो अनुप्रासादिक क्लिष्ट तथा विस्तृत न होने के कारण पृथक् अनुसधान की आवश्यकता नहीं रखते, किंतु रसो के आस्वादन मे ही अत्यत सुखपूर्वक आस्वादन कर लिए जा सकते हैं, उन्हे छोड़ देना भी उचित नहीं। जैसे कि—

कस्तूरिकातिलकमालि! विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।

प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥

❀ ❀ ❀ ❀

करि कस्तूरी-तिलक सखी री ! साँझ-समै तू।
मद-मद मुसकात महल की छात रमै तू॥
तो यह निहच जानु कुमुद मुद महा लहैगे।
सुखमा सुखद समग्र दिशा मुख हुलसि गहैगे॥

सखी नायिका से कहती है—हे सखी ! तू साँझ के समय कस्तूरी का तिलक लगाकर, तत्काल, महल की छत का परिशीलन कर, जिससे कि कुमुद आनद की अत्यत अधिकता को प्राप्त हो जायँ—अर्थात् पूरी तरह खिल उठे और दिशाएँ अपने मुखो को पूर्णतया उल्लासयुक्त बना ले—उनके प्रारभिक भाग अच्छी तरह प्रकाशित हो जायँ। इत्यादि मे। (अथवा जैसे बिहारी के इस दोहे मे—

नभ लाली, चाली निशा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली ! अनत आए वनमाली न ॥)

इस तरह, प्रसग आ जाने के कारण, मधुर-रसो को अभिव्यक्त करनेवाली रचना के इन दोषो का थोड़ा सा निरूपण कर दिया गया है।

सग्रह

एभिर्विशेषविषयैः समान्यैरपि च दूषणै रहिता।
माधुर्य-भार-भङ्गुर-सुन्दर-पद-वर्ण-विन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुता।
तां विबुधा वैदर्भीं वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥

जो इन विशेष और साधारण—दोनो प्रकार के—दोषो से रहित हो, जिसके पदो और वर्णों की रचना माधुर्य-गुण के भार से फटी पडती हो, जिससे बनानेवाले कवि की व्युत्पत्ति प्रकाशित होती हो, जो प्रसाद-गुण से युक्त हो और पूर्ण परिपक्व—अर्थात् रस की धार बॉध देनेवाली हो उस रचना को विद्वान् लोग 'वैदर्भी वृत्ति' कहते हैं। इस रचना के कितने ही पद्य उदाहरणो मे आ ही चुके हैं, अथवा जैसे—

आयातैव निशा, निशापतिकरैः कीर्णं दिशामन्तरम्
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरुल्लासयन्ति श्रियम्।
वामे! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा!हा!! बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्ताम्यति ॥

❀ ❀ ❀ ❀

आ ही गई रजनी, रजनी-पति केरि मरीचि भरीं दिग अतर।
भौनन-भौनन भामिनियाँ बहु भूषन साजि लहैं छवि सुंदर ॥
रचहु मान भई न कमी अजहूं तुव, वाम ! गयो सब वासर।
बाल-मृनाल हु ते दुबरो तन ये रिस ते कुम्हिलात निरतर ॥

नायक नायिका से कहता है—प्रिये, अब रात आ ही गई है—आने मे थोड़ी भी देरी नहीं है, देख, निशानाथ—चद्रदेव—की किरणो से दिशाओ के मध्यभाग व्याप्त हो चुके हैं। जो स्त्रियॉ प्रणय-कोप से युक्त भी थीं वे भी अनेक आभूषण पहिन-पहिनकर भवनों में शोभा के डबर बॉध रही हैं। हे वामे ! हे संसार-भर से उलटे रास्ते पर चलनेवाली ! तू अब भी मान को किंचित् भी कम नहीं कर रही है। हाय ! हाय ! ! देख तो सही ! यह नए मृणाल से भी अत्यत दुर्बल तेरा शरीर रोष के मारे घबरा रहा है—जाने दे, यदि हमारे ऊपर दया नहीं करती तो मत कर, पर इस सुकुमार शरीर पर तो दया कर।

इस रीति (वैदर्भी) के निर्माण करते समय कवि को अत्यत सावधान रहना चाहिए, अन्यथा परिपाक का भग हो जायगा—रस जितना मधुर बनना चाहिए उतना न बन सकेगा। जैसा कि अमरुक कवि के पद्य मे हुआ है—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात-पुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी, प्रियेण हसता, बाला चिरं चुम्बिता॥

बालिका ने जब देखा कि अब निवास-गृह बिलकुल शून्य हो गया है—कहीं किसी की भनक भी नही सुनाई देती, तो शय्या से धीरे-धीरे कुछ उठी और झूठ-मूठ निद्रा लेते हुए पति के मुख को बहुत समय तक देखती रही। जब उसे विश्वास हो गया कि पति महाशय गहरी नींद में हैं तो उसने उसके मुख का अच्छी तरह चूमा, पर चूम चुकने के बाद जब उसने देखा कि पति के कपोलप्रदेश रोमाञ्चित हो उठे हैं, तो लज्जा के मारे मुँह नीचा हो गया—सामने न देख सकी। फिर क्या था! प्यारेजी की बैन पड़ी, उन्होने हॅस-हॅसकर बडी देर तक चूमा।

इस पद्य मे 'उत्थाय' और 'किंचिच्छनै.' इन दो स्थानो पर दो-दो सवर्ण झयो का सयोग है, और वह भी समीप-समीप मे, अत अत्यत अश्रव्य है। इसी तरह इसी स्थान पर झयो के द्वारा बने हुए सयोग जिनके आगे हैं उन ह्रस्वो का भी प्रयोग है। तथा 'शनैर्निद्रा' इस जगह और 'निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्' इस जगह रेफ के द्वारा बने हुए सयोग की, और झयो के द्वारा बने हुए सयोग जिनके आगे हैं उन ह्रस्वो की प्रचुरता है। एवम् 'विस्रब्धम्' इस जगह महाप्राणो के द्वारा बना

सयोग 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण झयो का अपने ही साथ सयोग और 'मुखी प्रियेण' इस जगह भिन्न-पदगामी दीर्घ के पहले सयोग है। इसी प्रकार 'क्त्वा' प्रत्यय का पॉच बार और 'लोकृ' धातु का दो बार प्रयोग भी कवि के पास रचना की सामग्री के दारिद्रय को प्रकाशित करता है। पर, जाने दीजिए, दूसरो के काव्यो पर विचार करने की हमे क्या आवश्यकता है।

अच्छा, तो इस तरह रसो का सक्षेप से निरूपण हो चुका।

भाव

भाव के लक्षण पर विचार

अब 'भाव ध्वनि' का निरूपण किया जाता है। यहॉ सबसे पहले यह विचार करना है कि 'भाव' कहते किनको हैं? उनका क्या लक्षण है? आप कहेगे कि—इसमे कौन कठिन बात है, सीधा तो है कि "विभावो और अनुभावो के अतिरिक्त जो रसो के व्यजक हो—जिनसे रस अभिव्यक्त हो उनका नाम 'भाव' है"।

पर यह ठीक नहीं, इस लक्षण की रसो के प्रतिपादन करनेवाले काव्य की पदावलि में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि अर्थ के द्वारा शब्द भी रसो को ध्वनित करते हैं। आप कह सकते हैं कि इसी लक्षण मे 'जो बिना किसी द्वार के रसो का व्यजक हो' इस तरह व्यजक का एक विशेषण और बढा देगे तो पदावलि में अतिव्याप्ति न होगी। पर यदि ऐसा किया जाय तो लक्षण में असभव दोष आ जायगा, अर्थात् यह भाव का लक्षण ही न होगा, क्योंकि भाव भी भावना—बार-बार अनुसधान—के द्वारा ही रस को ध्वनित करते हैं। दूसरे, भावना मे अतिव्याप्ति भी हो जायगी; क्योकि बिना किसी द्वार के रसो को वही ध्वनित करती है। और,

जिस तरह, लक्षण मे, 'विभावो और अनुभावों के अतिरिक्त' विशेषण दिया गया है, उसी तरह यदि 'शब्द के अतिरिक्त' यह व्यजक का विशेषण और रख दे, तो भी छुटकारा नही, क्योकि फिर भी भावना में तो अतिव्याप्ति रहे ही गी। एवम्, जो भाव प्रधानतया ध्वनित होता है, वह रसो का व्यजक नहीं होता, अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति भी होगी—अर्थात् उस भाव का यह लक्षण नही बन सकेगा।

आप कहेंगे कि जहाँ भाव की ध्वनि प्रधान होती है वहाँ भी अन्ततो गत्वा तो रस की अभिव्यक्ति होती ही है, अतः उसमे भी रस व्यजकता है ही, तो हम कहेगे कि फिर 'भाव ध्वनि' का लोप ही हो जायगा।

यदि फिर भी कहो कि—भाव के अधिक चमत्कारी होने के कारण उसे 'भावध्वनि' कहा जाता है, यद्यपि वहाँ भी, अन्ततो गत्वा, रस की अभिव्यक्ति होती है तथापि उसके चमत्कारी न होने के कारण उसे 'रस-ध्वनि' नहीं कहा जा सकता। सो यह भी नही कह सकते, क्योकि चमत्कार-रहित रस की अभिव्यक्ति मे कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-रहित होता ही नही। हम पहले ही कह चुके हैं कि—जिस प्रमाण से रस-पदार्थ का अनुभव होता है, उसी के द्वारा यह भी सिद्ध है कि 'रस आनन्द के अश से रहित होता ही नही'।

अब यदि आप कहे कि—रस की अपेक्षा भाव के गौण होने के कारण, अथवा विवाह मे दूलह बने हुए अमात्यादि के पीछे चलते हुए राजा की तरह (क्योंकि वहाँ राजा की अपेक्षा दूलह की प्रधानता रहती है) रस की अपेक्षा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्यको 'भाव-ध्वनि' कहा जा सकता है। तो हम 'प्रधानतया ध्वनित होनेवाले भाव' को भी अततो गत्वा रस का अभिव्यजक मान लेते हैं, पर, तथापि देश, काल, अवस्था और स्थिति-आदि अनेक पदार्थों से बने हुए पद्य के वाक्यार्थ में

अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योकि वह विभाव और अनुभाव से भिन्न भी है और रस का व्यजक भी है। सो यह लक्षण गड़बड़ ही है।

अब यदि आप यह लक्षण बनावे कि—'जो आस्वादन रस को अभिव्यक्त करता है उस आस्वादन मे आनेवाली (आस्वादविषय) चित्तवृत्ति का नाम भाव है और साथ में यह कहें कि—इस लक्षण की भावो के आस्वादन मे अतिव्याप्ति न होने के लिये 'आस्वादन मे आनेवाली' यह चित्तवृत्ति का विशेषण रक्खा गया है। सो भी ठीक नही, क्योकि—

कालागुरुद्रवं सा हालाहलवद्विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावलिं किलामनुते॥

❀ ❀ ❀ ❀

असित-अगर विष-सरिस वह समुझति मन में बाल।
नील-कमल-मालहिं मनो मानत व्याल कराल॥

एक सखी दूसरी सखी से एक वियोगिनी की कथा कह रही है कि—अगर को जहर के समान समझनेवाली वह बालिका नील-कमलो की माला को भी, मानो सर्पों की पंक्ति मानती है।

इस स्थान पर, सहृदय भावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान हो रहा है उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। वह ज्ञान विप्रलभ-शृंगार का अनुभाव है—उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः रस को ध्वनित करनेवाले आस्वादन में आनेवाला भी है, क्योकि जैसे भावो का आस्वादन किया जाता है वैसे ही अनुभावों का भी किया जाता है, और वह ज्ञान है अतः चित्तवृत्ति रूप भी है।

अब यदि यह कहो कि—भावो में जो भावत्व धर्म रहता है, वह अखण्ड-उपाधि है, अतः उसके लक्षण-वक्षण की कुछ आवश्यकता

नहीं, सो भी नही हो सकता, क्योकि 'भावत्व' को अखण्ड मानने में कोई प्रमाण* नही।

भाव का लक्षण

ये तो हुईं पूर्व-पक्ष की बाते, अब सिद्धान्त मे भाव किसे कहते हैं, सो सुनिए—

विभावादिको के द्वारा ध्वनित किए जानेवाले हर्ष-आदिको (जिनकी गणना आगे की जायगी) **मे से अन्यतम** (**कोई एक**) **को 'भाव' कहा जाता है।**

जैसा कि कहा भी है—"**व्यभिचार्यञ्जितो भावः**—अर्थात् ध्वनित होनेवाले व्यभिचारी भाव को 'भाव' कहा जाता है"।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ?

भावो के ध्वनित होने के विषय मे यह सिद्धात है कि—जो हर्षादिक सामाजिको—अर्थात् नाटकादि देखनेवालो और काव्य पढने सुननेवालो के अंदर (वासना रूप से) रहते हैं उन्ही की, स्थायी भावो की तरह, अभिव्यक्ति होती है।

पर कुछ विद्वानो का मत है कि—भाव भी रस की तरह ही अभिव्यक्त होते हैं।

अन्य विद्वान् यह भी कहते हैं कि उनकी अभिव्यक्ति, अन्य व्यंग्यो—अर्थात् वस्तु-अलकारादिको (जिनका वर्णन दूसरे आनन के प्रारभ में है) की तरह, होती है।

---

* नागेश का मत है कि—इस लक्षण में यदि 'अनुभाव के अतिरिक्त' इतना और निवेश कर दिया जाय तो यह लक्षण भी ठीक हो सकता है।

भावो के व्यजक कौन है ?

भावो के अभिव्यक्त करनेवाले केवल विभाव और अनुभाव ये दो ही हैं। एक व्यभिचारी भाव के ध्वनित करने मे दूसरे व्यभिचारी भाव को व्यजक मानना आवश्यक नही, क्योकि यदि ऐसा माने तो वही (व्यजक ही) प्रधान हो जायगा। कारण यह है कि जैसा यह व्यभिचारी भाव अभिव्यक्त होता है वैसा ही वह भी अभिव्यक्त होता है, फिर उसको भाव क्यो नही माना जाय। अतः भावो के दो ही व्यजक मानना उचित है।

पर वास्तव मे देखा जाय तो प्रकरणादि के अधीन होने के कारण यदि एक भाव प्रधान हो और उसको ध्वनित करनेवाली सामग्री के द्वारा, अन्य भाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनित ही न होना हो, इस कारण, यदि कोई अन्य भाव भी अभिव्यक्त हो जाय, और वह भाव प्रकरण-प्राप्त भाव की अपेक्षा हीन होने के कारण, यदि उसका अग बन जाय, तो भी कोई हानि नहीं। जैसे कि गर्व-आदि मे अमर्ष और अमर्ष-आदि मे गर्व।

आप कहेंगे कि यदि ऐसा हुआ, तो उस काव्य को 'भावध्वनि' नहीं कह सकते, किंतु वह 'गुणीभूत व्यग्य' हो जायगा, क्योकि उसमे एक भाव दूसरे भाव की अपेक्षा गौण हो गया है। सो नहीं हो सकता, क्योकि जो भाव पृथक् विभावो और अनुभावो से अभिव्यक्त हुआ हो, और जिसका अनुभाव-विभाव के रहने से अभिव्यक्त होना आवश्यक हो तो उसको गुणीभूतव्यग्य कहा जा सकता है, अन्यथा गर्वादिको की ध्वनि का लोप ही हो जायगा, क्योकि वे कभी अमर्षादि से रहित ध्वनित ही नहीं होते।

विभाव-शब्द से भी यहाँ व्यभिचारी-भाव का साधारण निमित्त कारण मात्र लिया जाता है, रस की तरह उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन होना अपेक्षित नही। पर, यदि कही ऐसे विभाव हो कि जो भाव के आलम्बन और उद्दीपन हो सके तो निषेध भी नहीं है।

भावों की गणना

हर्षादिक भाव ३४ हैं। उनमे से—हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शका, ग्लानि, दैन्य, चिता, मद, श्रम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद, मरण, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपस्मार, चपलता और प्रतिपक्षी के द्वारा किए गए तिरस्कार-आदि से उत्पन्न हुआ निर्वेद ये ३३ व्यभिचारी हैं और चौतीसवॉ है गुरु, देवता, राजा और पुत्र-आदि के विषय मे होनेवाला प्रेम।

वात्सल्य' रस नहीं है

पूर्वोक्त गणना से यह सिद्ध होता है कि—कुछ विद्वानो का जो यह कथन है कि 'पुत्रादिक जिस रति के आलबन होते हैं, वह 'वात्सल्य' नामक भी एक रस है' सो परास्त कर दिया गया, क्योकि भरत-मुनि के वचन के आगे उनकी उच्छृखलता—मनमानी—नहीं चल सकती। उसे भाव ही मानना उचित है।

१—हर्ष

उनमे से वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति आदि से जो एक प्रकार का सुख उत्पन्न होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं। यही कहा भी गया है—

देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादः, प्रियसङ्गमः।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरधनागमः॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥

देवता, पति, गुरु और स्वामी की प्रसन्नता, प्रिय-समागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और लोभनीय धन का लाभ तथा पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं, और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता, प्रिय वचन, रोमाच, अॉसू और प्रस्वेद आदि जिसके अनुभाव होते हैं, उसको 'हर्ष' कहते हैं। उदाहरण लीजिए—

अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥

× × × ×

अवधि-दिवस सझा-समै दिए दीठि गृह-द्वारि।
भई प्रिया विकसितमुखो आयो मोहिं निहारि ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—अवधि का दिन था, सॉझ का समय था, प्रिया ने अपनी ऑखे घर के द्वार पर लगा रखीं थी—वह टकटकी लगाकर दरवाजा देख रही थी; उसी समय उसने देखा कि मै आ गया हूॅ, फिर क्या था, उसका मुॅह खिल उठा।

यहॉ प्यारे का आगमन विभाव है और मुॅह का खिल उठना अनुभाव।

२—स्मृति

पदार्थों के देखने-सुनने आदि से जो हृदय पर संस्कार हो जाता है, उस संस्कार के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'स्मृति' कहते हैं। जैसे—

तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः।

अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त !
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥

× × × ×

वह मंजुल मृदु हँसन, साँस वे सुभग सुगंधित ।
वह कलंक ते विधुर मधुर आनन-दुति विकसित ॥
सझा-सरसिज-सरिस तासु लोचन अनियारे ।
अजौ करत उनमत्त अमित हिय हाय ! हमारे ॥

नायक अपने मित्र से कहता है—साँझ के समय के कमलो के समान अध-मुँदे नेत्रोवाली नायिका का वह सुदर मद हास, वे श्वास, वह कलकरहित और मधुर मुख की शोभा, हाय ! आज भी मेरे हृदय को उन्मत्त बना देते हैं ।

यहाँ एक प्रकार की चिंता विभाव है, भौहो का ऊँचा करना, शरीर का निश्चल होना—जो कि ऊपर से समझ लिए जा सकते हैं—अनुभाव हैं ।

यद्यपि यहाँ इस स्मृतिरूपी सचारी भाव, नायिकारूपी विभाव और 'हत' अथवा 'हाय' पद के द्वारा व्यग्य हृदय की विकलता रूपी अनुभाव—इन सब के सयोग से 'विप्रलभ रस' की अभिव्यक्ति होती है, इस कारण यहाँ 'रस-ध्वनि' कही जा सकती है, तथापि प्रथम स्मृति की ही स्फूर्त्ति होती है—सबसे पहले वही हृदय मे आती है और चमत्कारिणी भी है, इस कारण इसे 'स्मृति (भाव) ध्वनि' का उदाहरण माना गया है ।

एक शङ्का और उसका समाधान

(यहाँ एक शका होती है । नैयायिको की पदार्थ-विज्ञान-शैली के अनुसार 'तत् (वह)' पद के अर्थ के विषय में दो मत हैं । एक यह

कि—जिस पदार्थ का 'तत्' पद से वर्णन किया जाता है, उसका तत् पद के द्वारा, असाधारण रूप मे ही बोध होता है, पर उस दशा मे वह पदार्थ 'बुद्धिस्थ' विशेषण से विशिष्ट समझा जाता है। अर्थात् "तत् हसितम्" यहाँ 'तत्' पद का अर्थ है 'बुद्धिस्थ लोकोत्तर सौन्दर्य-युक्त'। यहाँ हसित का विशेषण (भेदक) 'लोकोत्तर सौन्दर्य' है और उसका उपलक्षण है 'बुद्धिस्थत्व'। ऐसे हसित को बोधन करने की 'तत्'-पद मे शक्ति है, अत. 'हसित' तत्पद का शक्य (अर्थ) है। विशेषण शक्यतावच्छेदक (किसी शक्य अर्थ मे वर्तमान शक्यता को इतर शक्यताओं से पृथक् करनेवाला धर्म) कहलाता है, अतएव हसित का विशेषण 'लोकोत्तर सौन्दर्य' शक्यतावच्छेदक हुआ। शक्यतावच्छेदक के बोधन करने की शक्ति भी पद मे मानी जाती है। तत्पद से भिन्न-भिन्न विशेषणो से विशिष्ट जगत् के समस्त पदार्थ समझे जाते हैं। उन समस्त विशेषणो को व्यवस्थित करने के लिये उनका कोई वास्तव धर्म न होते हुए भी उनमे 'बुद्धिस्थत्व' धर्म उपलक्षणरूप से एक माना जाता है। इसी की एकता से तत्पद मे समस्त पदार्थों के बोधन करने की एक शक्ति सिद्ध होती है और तत्पद नानार्थ नही माना जाता। यही 'बुद्धिस्थत्व' धर्म या 'बुद्धि' सकल शक्यतावच्छेदका का अनुगमक या व्यवस्थापक कहा जाता है। यह अनुगमक किसी पद का शक्य अर्थ नहीं माना जाता। यही इस मत का रहस्य है।

दूसरा मत यह है कि—'तत्' पद द्वारा उस पदार्थ का असाधारण रूप मे बोध नहीं होता, किंतु 'बुद्धिस्थपदार्थ' के रूप मे ही होता है।

अब सोचिए कि बुद्धि और ज्ञान दोनो एक ही पदार्थ के नाम हैं, और स्मृति भी एक प्रकार का ज्ञान ही है, अतः दोनो ही मतो मे 'तत्' शब्द से स्मृति का कुछ सबध अवश्य हो जाता है। इस कारण—अर्थात् यहाँ वाचक रूप मे 'तत्' शब्द का प्रयोग होने के कारण—यह

काव्य 'स्मृति-भाव' की ध्वनि न हो सकेगा, क्योंकि 'ध्वनि' कहलाने की योग्यता तभी हो सकती है, जब कि व्यग्य का वाच्य से कुछ सपर्क न हो। इसका समाधान यह है कि—) पहले मत के अनुसार 'तत्' पद का वाच्य 'असाधारण रूपवाला (खास) पदार्थ' ही है, बुद्धि तो शक्यता वच्छेदक का अनुगम करानेवाली है, अतः वाच्यता बुद्धि का स्पर्श नहीं कर सकती अर्थात् बुद्धि वाच्य (शक्य) नहीं हो सकती। दूसरे मत मे भी 'बुद्धिस्थ पदार्थ' तत्पद का वाच्य है, अत. बुद्धि अर्थात् साधारण ज्ञान के 'तत्' पद से प्रतिपादित हो जाने पर भी स्मृति के रूप मे तो उसका बोध व्यजना के द्वारा ही होता है। सो इस शका को अवकाश नहीं।

यद्यपि यहाँ स्मृति पूरे वाक्य से ध्वनित होती है, तथापि 'तत्' यह एक पद ही उसका स्वरूप खड़ा करता है, इस कारण यहाँ यह भाव पद के ही द्वारा ध्वनित होता है—यह समझना चाहिए। अतः यहाँ 'पदध्वनि' है। इससे लोगो का जो यह कथन है कि—'भाव यदि 'पद' के द्वारा अभिव्यक्त हो तो उनमें कुछ विचित्रता नहीं रहती' सो उड जाता है।

यहाँ ऑखो को जो 'साँझ के कमलो' की उपमा दी गई है, उससे यह ध्वनित होता है कि ऑखे आगे-से-आगे अधिक मिचती जा रही हैं, जिससे नायिका की आनद-मग्नता प्रकट होती है।

प्रत्युदाहरण

दरानमत्कन्धरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिःश्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः॥

× × × ×

कछु नत ग्रीवा, अधमिंचे नेही नैन, सु-अग।
अति साँसन ते शिथिल जहँ सो सुमिरौं तिय-सग॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मै, देरी तक, अगना के उस सग का स्मरण करता रहता हूँ, जिसमें गरदन कुछ झुकती रहती है, प्रेम-पूर्ण नेत्र-कमल कुछ कुछ मिंच जाते हैं और सब अग, अत्यत श्वास के कारण, आलस्ययुक्त हो जाते हैं।

यहाँ जो स्मृति है, वह 'भाव' नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह स्मृतिवाची शब्द ('स्मरामि' अथवा 'सुमिरौ') के द्वारा वर्णन की गई है, अतः व्यंग्य नही हो सकती। न 'स्मरणालकार' ही है, क्योंकि यह स्मरण किसी प्रकार की समानता के कारण उत्पन्न नही हुआ है। और, यह सिद्धात है कि—समानता के कारण जो स्मरण होता है, उसे 'स्मरणालकार' और स्मरण यदि व्यग्य हो तो 'स्मृति भाव' माना जाता है। सो यह मानना चाहिए कि इस पद्य मे केवल विभाव (नायिका) का ही वर्णन है, परतु चमत्कार-जनक होने के कारण उसका किसी तरह रस मे पर्यवसान हो जाता है।

३—व्रीडा (लज्जा)

स्त्रियो मे पुरुष के मुख देखने-आदि से और पुरुषो मे प्रतिज्ञा-भंग तथा पराजय आदि से उत्पन्न होनेवाली और विवर्णता तथा नीचा-मुख आदि अनुभावो को उत्पन्न करनेवाली जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है उसे 'व्रीडा' कहते हैं। जैसे—

कुच-कलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे
चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश॥

× × × ×

कुच-कलशन जुग बीच भयो जो मेरो नख-छत ।
पुलक-सहित तन, मद-मद तेहि रही विलोकत ॥
ताहि समय मुहि देखि गोख मे दीन्हे आनन ।
चकित, नमाइ सरीर, सदन महँ प्रविशी तत-छन॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—कलशो के समान दोनो कुचो के मध्य मे जो मेरे नख का क्षत हो गया था—नख उभड आया था—उसे वह (नायिका) पुलकितागी होकर धीरे-धीरे देख रही थी, पर, ज्योही उसने झरोखे मे मुख डाले हुए मुझे देखा त्योही चकित हो गई और शरीर बिलकुल सकुचित करके—सिमिटकर—तत्काल घर मे जा घुसी ।

यहाँ नायिका को प्रियतम का दिखाई देना और उसके कुचो के भीतर प्रियतम के नख-क्षत के देखने से उत्पन्न हुए हर्ष की सूचना देनेवाले रोमाच आदि का प्रियतम को दीख जाना विभाव है तथा 'तत्काल घर मे घुस जाना' अनुभाव है । अथवा जैसे—

निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने ।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव ॥

× × × ×

धरत मोहि, कूजत कपोत-ढिग, रोकि कपोतिहि ।
देखि, कछुक मुसक्याइ, मुखाम्बुज नाइ लियो तिहि ॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैने जाती हुई कबूतरी को, बलात् रोका और (कामातुरता के कारण) कूजते हुए कबूतर के सामने धर दिया, यह देखकर उस (नायिका) ने, मन्द हास से भीने, मुख-कमल को धीरे-धीरे नीचा कर लिया ।

पहले उदाहरण मे जैसे कुछ त्रास की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार यहाँ भी किञ्चिन्मात्र हर्ष अभिव्यक्त होता है, पर वह लज्जा के अनुकूल ही है—उससे उसकी पुष्टि ही होती है। 'प्यारे का कबूतर के आगे कबूतरी धरना' विभाव है और 'मुँह नीचा करना' अनुभाव।

४—मोह

भय-वियोग आदि से जो एक ऐसी चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है कि जिसके कारण वस्तु की यथार्थता को पहचानना असंभव हो जाता है—मनुष्य-आदि के सामने खड़े रहने पर भी वह अमुक है यह नही पहचाना जा सकता—उसका नाम 'मोह' है, जो कि अन्तःकरणशून्यता के नाम से पुकारी जानेवाली चिन्ता है। अर्थात् जिस चिन्ता मे कुछ नहीं सूझता उसे मोह कहा जाता है। अतएव नवीन विद्वानो का मत है कि यह भी चिन्ता ही है, केवल अवस्था का भेद है। अर्थात् चिन्ता ही जब इस दशा को पहुँच जाती है कि सूझना-साझना बन्द हो जाय, तो उसे मोह कहते हैं, इस कारण इसे चिन्ता से पृथक् नहीं गिनना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

विरहेण विकलहृदया विलपन्ती 'दयित दयिते'ति।
आगतमपि तं सविधे परिचयहीनेव वीक्षते बाला॥

× × × ×

बिरह-महानल विकल हिय पिय-पिय कहि बिललात।
निकटहु आए अपरिचित-लौ तेहिँ दयित दिखात॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—उस (नायिका) का हृदय विरह के मारे विकल हो गया है और 'प्यारे प्यारे' पुकारती हुई वह, पास में आए हुए भी प्रिय को, इस तरह देख रही है कि मानो उसे जानती ही न हो।

यहाँ 'पति का वियोग विभाव' है तथा 'इन्द्रियों की विकलता' और 'लज्जादिक का अभाव' अनुभाव हैं। अथवा जैसे—

शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले
कल्लोलिन्याः किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः।
नैवाऽऽकर्षत्यम्बु नैवाऽम्बुजालिं
कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः॥

× × × ×

किए सूँड कुंडल-सरिस ऊँघत तटिनी-तीर।
कामिनि बिन जड गज गहत ना नीरज ना नीर॥

एक दर्शक कहता है कि—हथिनी से वियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूँड को गोल किए हुए और आँखों को सिकोड़े हुए नदी के तट पर तो खड़ा है, पर न जल को खींचता है न कमलों की पंक्ति को।

५—धृति

जिस चित्तवृत्ति के कारण लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न होनेवाले उपद्रव शान्त हो जाते हैं, उसका नाम 'धृति' है। उदाहरण लीजिए—

सन्तापयामि हृदयं धावं धावं धरातले किमहम्।
अस्ति मम शिरसि सततं नन्दकुमारः प्रभुः परमः॥

× × × ×

धाइ-धाइ हौं धरनि-तल हिय तपात केहिं काज।
राजत मम सिर सरबदा प्रभुवर श्रीव्रजराज॥

एक भक्त कहता है कि—मै पृथिवीतल में दौड दौडकर क्यों अपने हृदय को सतप्त कर रहा हूँ। मेरे सिर पर परम प्रभु, सब स्वामियो के स्वामी, नन्दनन्दन सर्वदा विराजमान हैं—मुझे क्या चिन्ता है, वे अपने-आप सँभाल लेगे।

यहाँ 'विवेक' और 'शास्त्र-संपत्ति' आदि विभाव हैं और 'चपलता आदि की निवृत्ति' अनुभाव है।

यदि आप कहे कि यहाँ उत्तरार्ध से तो यही बात व्यक्त होती है कि 'मुझे चिन्ता नहीं है', फिर इस पद्य को धृति-भाव की ध्वनि कैसे बताते हो, तो इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त बात धृति-भाव के लिये उपयुक्त होकर ही अभिव्यक्त होती है—अर्थात् उससे धृति की प्रतीति मे सहायता मिलती है, अतः इसका अलग अडगा नहीं समझा जा सकता।

६—शङ्का

'मेरा क्या अनिष्ट होगा' यह जो एक प्रकार की चित्त-वृत्ति है उसका नाम 'शङ्का' है। उदाहरण लीजिए—

विधिवञ्चितया मया न यातम्,
सखि ! सङ्केतनिकेतनं प्रियस्य।
अधुना बत ! किं विधातुकामो
मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने॥

× × × ×

विधि-वञ्चित हौं ना गई सखि ! सकेत निकेत।
अब जानें मम मदन-नृप कहा करै इहि हेत॥

नायिका सखी से कहती है कि—हे सखी ! विधाता ने मुझे धोखा दिया और मै अपने प्यारे के सकेत-स्थान पर न जा सकी। अब भय

है कि, न जाने, महाराज कामदेव, मेरे विषय मे, क्या करना चाहते हैं।

यहाँ 'राजा (कामदेव) का अपराध विभाव' है और ऊपर से समझ लिए गए 'मुँह का फीका पडना' आदि अनुभाव हैं।

इसमे और चिन्ता मे यही भेद है कि यह भय आदि उत्पन्न करती है, अतः कंप-आदि का कारण है, परन्तु चिन्ता उन्हे उत्पन्न नही करती।

७—ग्लानि

मानसिक कष्ट और रोग आदि के कारण जो निर्बलता उत्पन्न हो जाती है उससे उत्पन्न होनेवाला एवं विवर्णता, अंगो की शिथिलता और नेत्रो के फिरने लगने आदि अनुभावो को उत्पन्न करनेवाला जो एक प्रकार का दुःख है उसे 'ग्लानि' कहते है।

जैसे—

शयिता शैवलशयने सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव॥

× × ×

कान्ति-शेष शशि-रेख सम सोई सेवल सेज।
मधुर चितौननि ही सविध थित पिय रही सहेज॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जिसमे केवल कान्ति ही बच रही हो ऐसी नवीन चन्द्र-कला के समान, सेवाल की सेज पर सोई हुई, वह सुन्दरी समीप मे आए हुए भी पति का केवल मधुर चितवनो से ही सत्कार कर रही है।

यहाँ 'प्रेमी का विरह' विभाव है और 'मधुर चितवनो से ही' यहाँ 'ही' के द्वारा समझाई हुई 'स्वागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और आलिंगन करने आदि की निवृत्ति' अनुभाव है। यहाँ श्रम-भाव की शंका करना उचित नही, क्योकि यहाँ किसी भी श्रमोत्पादक कारण का वर्णन नहीं है।

कुछ विद्वान् "रोगादि से उत्पन्न होनेवाले बल के नाश को ही 'ग्लानि'" कहते हैं। पर, उनके मत मे यह बात विचारने योग्य है कि—जितने भाव हैं, वे सब चित्त-वृत्तिरूप हैं, फिर उनमे नाश (अभाव) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा? अतः उनका यह कथन कुछ जॅचता नहीं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों के "**बलस्याऽपचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भवः**—अर्थात् मानसिक कष्ट और रोगो से उत्पन्न होनेवाले बल के अपचय का नाम 'ग्लानि' है" इस लक्षण मे 'अपचय' शब्द से नाश का ही बोध होता है, तथापि पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण, बल के नाश से उत्पन्न होनेवाले दुःख को ही 'बल का अपचय' इस शब्द से कहना अभीष्ट है, यह समझना चाहिए।

८—दैन्य

दुःख, दरिद्रता तथा अपराध आदि से उत्पन्न हुई और 'अपने-आप के विषय मे हीन-शब्द बोलने' आदि अनुभावो को उत्पन्न करनेवाली एक प्रकार की चित्तवृत्ति 'दैन्य' कहलाती है। उदाहरण लीजिए—

हतकेन मया वनान्तरे वनजाक्षी सहसा विवासिता।
अधुना मम कुत्र सा सती पतितस्येव परा सरस्वती॥

× × × ×

सहसा, मै हत, दीन्ह वन कमल-नयनि निकराय।
पतितहि श्रुति-सम वह सती मोहि कहाँ अब हाय!

मेरी बुद्धि मारी गई, मैंने कमल-नयनी (सीता) को जंगल में निकाल दिया। अब, वह पतिव्रता, पतित पुरुष को वेद-वाणी की तरह, मुझे कहाँ प्राप्त हो सकती है! यह सीता के परित्याग के अनंतर भगवान् रामचद्र का वचन है।

यहाँ 'सीता का परित्याग' अथवा 'परित्याग करने से उत्पन्न हुआ दुःख' विभाव है और 'पतित के समान बताना' रूपी जो अपने विषय में हीनता का भाषण है सो अनुभाव है। दैन्यभाव के विषय मे लिखा है कि—

चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद्दौर्गत्याच्च विभावतः।
अनुभावात्तु शिरसोऽप्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥
देहोपस्करणत्यागाद् दैन्यं भावं विभावयेत् ॥

अर्थात् चित्त की उत्सुकता, मन का ताप और दरिद्रता इन विभावो से और सिर हिलाना, शरीर का भारीपन और देह के सजाने का त्याग इन अनुभावों से 'दैन्य-भाव' को पहचान लेना चाहिए। और यह कि—

दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्।

अर्थात् दरिद्रता आदि के कारण जो ओजस्विता का अभाव हो जाता है, उसे 'दैन्य' कहते हैं। वह मलिनता-आदि को उत्पन्न करता है।

यहाँ 'मैने उसे निकाल दिया है, 'न कि विधाता ने'—इस बात की पुष्टि 'पतित की उपमा' से ही होती है, शूद्रादिक की उपमा से नहीं, क्योकि शूद्रादिक के लिये तो विधाता ने स्वभावतः ही श्रुति दुर्लभ कर दी है, उनको उसके पढने का अधिकार ही नही प्राप्त है। पर, ब्राह्मणादिक जो पतित हो जाते हैं, उनको स्वभावतः तो श्रुति सुलभ थी, किंतु उन्होने वैसा पाप करके, अपने-आप, श्रुति को दूर कर दिया है। इस कारण, अपनी (श्रीराम की) 'पतित से समानता' और श्री सीता की 'श्रुति से समानता', यह जो उपमालकार है, वह दैन्य-भाव को अलंकृत करता है। सो वह भी दैन्य-भाव का ही पोषक है।

यहाँ 'मैने' और 'उसे' इन दोनो पदो मे उपादानलक्षणा है, जिसके कारण 'मैने' का 'जिसे उसने अत्यन्त क्लेश मे भी न छोड़ा उस मैने' यह, और 'उसे' का 'वन-वास का सहचरी उसे' यह अर्थ ध्वनित होता है, जिससे अपनी कृतघ्नता और उसकी कृतज्ञता एवं अपनी निर्दयता और उसकी दयालुता आदि अनेक धर्म ध्वनित होते हैं, जिनसे दैन्य-भाव और भी पुष्ट हो जाता है। इसी तरह 'उसे' शब्द के द्वारा जो स्मृति की थोडी-सी प्रतीति होती है उससे भी 'दैन्य' भाव की पुष्टि होती है। अतः यहाँ दैन्य भाव ही प्रधान व्यग्य है, कृतघ्नता आदि व्यग्य गुणीभूत हैं। इसलिये यहाँ दैन्य-ध्वनि है।

९ — चिन्ता

वाछित वस्तु के प्राप्त न होने और अनिष्ट वस्तु के प्राप्त हो जाने से उत्पन्न होनेवाली और विवर्णता, भूमि का लिखना और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभावो को उत्पन्न करनेवाली एक प्रकार की चित्तवृत्ति का नाम 'चिन्ता' है। जैसा कि कहा है—

> विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वयभ्रंशनं तथा।
> इष्टार्थापहृतिः, शश्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ॥
> सन्तापः, स्मरणं चैव कार्श्यं देहानुपस्कृतिः।
> अधृतिश्चाऽनुभावाः स्युः सा चिन्ता परिकीर्त्तिता ॥
> वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्ये वोपजायते ॥

अर्थात् जिसमे दरिद्रता, ऐश्वर्य (राज्यादिक) से च्युत हो जाना, और वाछित वस्तु का अपहरण विभाव हो, और निरतर श्वास तथा उच्छ्वास, नीचा मुख, सताप, स्मरण, दुर्बलता, देह को न सजाना और और धैर्य का अभाव ये अनुभाव हो उसे 'चिन्ता' कहा जाता है।

इसके पहले अथवा पिछले क्षण मे वितर्क (जिसका लक्षण आगे आवेगा) उत्पन्न हुआ करता है। और यह कि—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः सन्तापादिकरी मता।

अर्थात् लाभदायी वस्तु के प्राप्त न होने से जो विचार होता है उसे 'चिन्ता' कहते हैं, और वह सन्ताप आदि को उत्पन्न करती है। उदाहरण लीजिए—

अधरद्युतिरस्तपल्लवा, मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी।
अकृतप्रतिमा तनुः कृता विधिना कस्य कृते मृगीदृशः॥

× × × ×

पल्लवजयिनी अधर-द्युति मुख - छवि ससि-सिरताज।
अनुपम तन मृगनयनि को किय विधना केहिँ काज॥

नायक मन मे कह रहा है कि—विधाता ने मृगनयनी के, यह पल्लवो की शोभा को पराजित करनेवाली अधरो की कान्ति, चन्द्रमा की छवि को उल्लघन करनेवाली मुख की शोभा तथा जिसके सदृश कोई नहीं उत्पन्न किया गया वह शरीर, किसके लिये बनाए हैं।

यहाँ 'नायिका का न प्राप्त होना' विभाव है और, ऊपर से समझ लिए गए, 'पश्चात्तापादिक' अनुभाव हैं।

यहाँ 'यह पद्य उत्सुकता की ध्वनि है' यह शङ्का नही करनी चाहिए, क्योकि (पद्य के) 'किसके लिये' इस कथन से किसी अनिश्चित व्यक्ति के विषय मे होनेवाली चिन्ता ही ध्वनित होती है, इस कारण, यद्यपि यहाँ उत्सुकता विद्यमान है, तथापि वह इस वाक्य के द्वारा प्रधानतया नहीं बोधित होती।

१०—मद

मद्य-आदि के उपयोग से उत्पन्न होनेवाली और शयन-रोदन-आदि अनुभावो को उत्पन्न करनेवाली उल्लास-नामक जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है, उसे 'मद' कहते है। जैसा कि कहा गया है—

संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः।

अर्थात् समोह और आनन्द के मिश्रण का नाम मद है और वह मद्य के उपयोग से उत्पन्न होता है।

मद के उत्पन्न होने पर उत्तम पुरुष सोता है, मध्यम पुरुष हँसता और गाता हे और नीच पुरुष रोता तथा गाली वगैरह देता है*।

यह मद तीन प्रकार का है—तरुण, मध्यम और अधम। उनमे से, जिसमे अक्षरो की अस्पष्टता, वाक्यो की असबद्धता और अत्यन्त मृदु तथा फिसलती हुई चाल का अभिनय किया जाता है, वह तरुण-मद कहलाता है। जिसमे हाथो के फटकारने, फिसल पड़ने और घूमने आदि

---

* यद्यपि यह कथन 'काव्य-प्रदीप' के—

उत्तमसत्त्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः।
परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः॥

अर्थात् मद के कारण उत्तम प्रकृति का पुरुष हँसता है, मध्यम प्रकृति का पुरुष गाता है और अधम प्रकृति का पुरुष गालियाँ देता है, सोता है और रोता है।—इस वचन से विरुद्ध है। तथापि अनुभव 'रसगगाधर-कार' के ही मत को पुष्ट करता है, क्योंकि नशे में हँसना उत्तम-पुरुष का काम नही। उसे यदि नशे का अधिक चक्कर हुआ तो वह सो जायगा इत्यादि सहृदयों के प्रत्यक्ष से सिद्ध है।—अनुवादक।

का अभिनय किया जाता है, वह मध्यम-मद होता है और जिसमे गति रुक जाने, स्मृति नष्ट हो जाने और हिचकी तथा वमन होने आदि का अभिनय किया जाता है, वह अधम मद होता है। उदाहरण लीजिए—

मधुरतरं स्मयमानः स्वस्मिन्नेवाऽलपन् शनैः किमपि।
कोकनदयंस्त्रिलोकीमालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबः॥

× × × ×

मधुर-मधुर कछु-कछु हँसत करत मनहि-मन बात।
निरालंब देखत अरुन-बरन जगत मद-मात॥

अत्यन्त मधुर रूप मे थोडा-थोड़ा हँसता हुआ और अपने-आप ही कुछ भी धीरे-धीरे बोलता हुआ एव त्रिलोकी को—ऑखो की ललाई के कारण—रक्त-कमल-सी बनाता हुआ मदमत्त मनुष्य देख रहा है, पर उसे पता नही कि वह क्या देखना चाहता है।

यहाँ मादक वस्तु का सेवन विभाव है और स्पष्ट बोलना-आदि अनुभाव हैं। इस पद्य मे जो मत्त पुरुष के स्वभाव का वर्णन किया गया है, वह उसके मद को ध्वनित करने के लिये किया गया है, इस कारण मद-भाव ही प्रधान है, 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार नही, किन्तु वह मद की ध्वनि को शोभित करनेवाला ही है।

(पर, यदि कहो कि 'क्षीब' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः उसमे विशेषण रूप से मद भी आ जाता है, और यह सिद्धात है कि 'जिसमे किसी प्रकार भी वाच्य-वृत्ति का स्पर्श न हो, वही व्यग्य चमत्कारी होता है' तो हम स्वीकार करते हैं, कि यहॉ 'स्वभावोक्ति' अलकार को ही प्रधान मानना उचित है, मद-भाव की ध्वनि को नहीं; अतः) दूसरा उदाहरण लीजिए—

मधुरसान्मधुरं हि तवाऽधरं तरुणि ! मद्वदने विनिवेशय ।
मम गृहाण करेण कराम्बुजं प-प-पतामि हहा ! भ-भ-भूतले ॥

× × × ×

मधुर मधु हु ते तुव अधर मो-मुख दै लउँ चूमि ।
मम कर-अम्बुज कर पकरु प-प-प-परयो भ-भ भूमि ॥

नायक नायिका से कहता है—हे तरुणि ! मधु के रस से भी मधुर अपने अधर को मेरे मुँह मे डाल दे और मेरे कर-कमल को अपने हाथ मे पकड़ ले, देख तो, ज-ज जमीन पर प-प पड़ा जा रहा हूँ ।

यहाँ भी वही (मादक वस्तु का सेवन ही) विभाव है और 'अधिक वर्ण बोलना' आदि अनुभाव हैं । पूर्वार्ध का ग्राम्य-वचन और उत्तरार्ध मे 'स्त्री के हाथ को कमल की उपमा देने के स्थान पर अपने हाथ को उसकी उपमा देना' भी 'मद-ध्वनि' का ही पोषण करते हैं ।

११—श्रम

अत्यंत शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होनेवाला एवं निःश्वास, अँगड़ाई तथा निद्रा आदि को उत्पन्न करनेवाला जो एक प्रकार का खेद होता है उसे 'श्रम' कहते हैं । जैसा कि कहा गया है—

अध्वव्यायामसेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।
गात्र-संवाहनैरास्य-सङ्कोचैरङ्ग-मोटनैः ॥
निःश्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ।

अर्थात् मार्ग मे चलना, व्यायाम करना और सेवा आदि विभावो से और शरीर दबवाना, मुँह सिकुड़ जाना, अँगड़ाइयाँ, निःश्वास, उवासियाँ और धीरे-धीरे पैर पछाड़ना—इन अनुभावो से श्रम समझा जाता है । अथवा यह कि—

श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः।

अर्थात् मार्ग में चलने-आदि से जो खेद होता है उसे 'श्रम' कहते हैं और वह निद्रा, निःश्वास आदि उत्पन्न करता है।

यह बल के विद्यमान होने पर भी उत्पन्न हो जाता है और शारीरिक कार्यों से ही होता है, किन्तु ग्लानि इस तरह नहीं होती, अतः ग्लानि का श्रम से भेद है। उदाहरण लीजिए—

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना।
चिराय चित्रे लिखितेवत न्वी न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमासीत्।

× × ×

हिय सोई, करि ग्रीव मम मुँह-समुहै, बल-छीन।
चित्र-लिखित-सी सुचिर लौं रच हु विचल सकी न॥

नायक अपने किसी मित्र के सामने विपरीत-सुरत के अनन्तर की स्थिति का वर्णन कर रहा है। वह कहता है कि—वह कृशाङ्गी अपनी गरदन के अगले हिस्से को मेरे मुँह के सामने करके मेरे हृदय पर सो रही और चित्र में लिखी हुई की तरह, बहुत देर तक, थोड़ी भी न हिल सकी।

यहाँ विपरीत-सुरतरूपी शारीरिक कार्य विभाव है और बिना हिले सोए रहना-आदि अनुभाव।

यहाँ यह शका न करनी चाहिए कि यह पद्य निद्रा-भाव को ध्वनित करके गतार्थ हो जाता है, क्योकि यदि निद्रा होती तो उसमें मनुष्य को ज्ञान नहीं रहता इस कारण चेष्टा का अभाव होता और 'थोडा भी न हिल सकी' इस कथन का कोई भी विशेष प्रयोजन नहीं रहता। दूसरे, 'शयाना' अथवा 'सोई' इस कथन से निद्रा वाच्य हो जाती है,

सो वह व्यग्य हो भी नहीं सकती। रहा श्रम, सो उसके लिये तो इनका (विभावादिकों का) अनुकूल होना उचित है।

१२—गर्व

रूप, धन और विद्या-आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से दूसरे की अवज्ञा करने को 'गर्व' कहते है। उदाहरण लीजिए—

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

× × ×

मेरमूल ते मलय-बलय-मय जलधि तीर तक।
जेते कविता-कर्म-निपुण ते कहैं छाँडि सक॥—
निकरत द्राक्षामध्यभाग जो चिकनी रस-झर।
तिनको अति-माधुर्य भाग्य में जिनके निरभर॥
तिन बानिन को सकल-जग-वंदित जो आचार्य-पद।
तेहि कहु मोते अन्य को धन्य भोगिहै लहि प्रमद॥

एक कविजी (पण्डितराज) कहते हैं कि—सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुए समुद्र के तट तक, जितने कविता करने में चतुर पुरुष हैं, वे साफ-साफ कहे कि—दाखो के अन्दर से निकलने-वाली चिकनी रसधारा की मधुरता का भाग्य जिन्हें प्राप्त है—अर्थात् जो उनके समान मधुर हैं उन वाणियो के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मेरे अतिरिक्त और कौन पुरुष धन्य है—यह सौभाग्य और किसे प्राप्त हो सकता है? उसका अधिकारी तो एक मै ही हूँ।

यहाँ अपनी कविताओ को अन्य कविताओ के समान न समझना—सबसे उत्कृष्ट समझना—विभाव है, और अन्य कवियो का तिरस्कार करने के अभिप्राय से इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है। इस (गर्व) को किसी अश मे असूया भी पुष्ट करती है।

'वीर-रस' की ध्वनि मे उत्साह प्रधान होता है और गर्व गुप्त रहता है, और इस ध्वनि मे गर्व प्रधान रहता है। यही उससे इसमे विशेषता है। जैसे—वीर-रस के प्रसग मे जो 'यदि वक्ति गिरा पतिः स्वयम्…', यह उदाहरण दिया गया है उसमे 'बृहस्पति और सरस्वती के साथ मै वाद करूँगा' इस कथन से जो उत्साह ध्वनित होता है उसको 'सब पण्डितो से मै अधिक हूँ' इस रूप मे ध्वनित होनेवाला गर्व पुष्ट करता है, न कि उपर्युक्त पद्य की तरह पृथिवी पर मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है' इस प्रकार स्पष्ट वर्णन किए हुए चिढा देनेवाले वचनरूपी अनुभाव से प्रधानतया प्रतीत होता है।

१३—निद्रा

श्रम-आदि के कारण जो चित्त का मुँद जाना है उसे 'निद्रा' कहते है। नेत्रो का मिंच जाना, अगो का निश्चेष्ट हो जाना-आदि इसके अनुभाव हैं। उदाहरण लीजिए—

सा मदागमनबृंहिततोषा जागरेण गमिताखिलदोषा।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न प्रातराननजसौरभलुब्धैः॥

× × × ×

मम आवन ते मुदित वह जागि गमाई रात।
मुख-सौरभ-लोभी मधुप बोधेहु जगी न प्रात॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरे आ जाने से उसकी प्रसन्नता मे बाढ आ गई और उसने सब रात जागरण करके बिताई।

प्रातःकाल के समय मुख की सुगन्ध के लोभी भौरो के जगाने पर भी वह न जग सकी।

यहाँ रात्रि मे जगने का श्रम विभाव है और भौरो के जगाने पर भी न जगना अनुभाव है।

१४—मति

शास्त्रादि के विचार से जो किसी बात का निर्णय कर लिया जाता है उसे 'मति' कहते है। इसमे निर्भय होकर उस काम को करना और सदेह नष्ट हो जाना-आदि अनुभाव होते हैं। उदाहरण लीजिए—

निखिलं जगदेव नश्वरं पुनरस्मिन्नितरां कलेवरम्।
अथ तस्य कृते कियानयं क्रियते हन्त! मया परिश्रमः॥

× × × ×

नासमान सब जगत ही तामें पुनि यह काय।
तेहिं हित कितनो करत मै यह महान श्रम हाय!

एक विरक्त पुरुष कहता है कि—(प्रथम तो) सब जगत् ही विनाशशील है—उसकी कोई वस्तु स्थिर नहीं। और, फिर जगत् मे भी यह शरीर सबसे अधिक विनाशशील है—इसका कुछ भी पता नही कि यह आज या कल भी रह सकेगा। मुझे खेद है कि मै उसके लिये यह कितना परिश्रम कर रहा हूँ।

यहाँ "शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम् (अर्थात् यह शरीर जल के बबूले के समान है)" इत्यादि शास्त्र की पर्यालोचना विभाव है, और 'हत'-पद से प्रतीत होनेवाली अपनी निंदा, राज-सेवा-आदि का त्याग और तृष्णा की शून्यता-आदि अनुभाव हैं। यहाँ झट से मति-भाव का

ही चमत्कार प्रतीत होता है, सो इस पद्य को 'ध्वनि' कहे जाने का कारण वही है, शान्त-रस नहीं, क्योंकि वह विलंब से प्रतीत होता है।

१५—व्याधि

रोग और वियोग आदि से उत्पन्न होनेवाला जो मन का ताप है, उसे 'व्याधि' कहते हैं। इसमे अगो की शिथिलता और श्वास-आदि अनुभाव होते हैं। जैसा कि लिखा है—

एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः।
वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः॥
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते।

अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषो के, एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के, प्रकोप से जो ज्वर-आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति का नाम, साहित्यशास्त्र मे, 'व्याधि' कहा जाता है। उदाहरण लीजिए—

हृदये कृतशैवलानुषङ्गा मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती।
तदुदन्तपरे मुखे सखीनामतिदीनामियमादधाति दृष्टिम्॥

× × × ×

हिय सेवालनि धारि, अँग इत-उत डारति, छीन।
पिय-बातनि रत सखिन मुख देत दीठि अति-दीन॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—सेवालो को हृदय से चिपटाए हुए, अगो को इधर-उधर पटकती हुई, यह (नायिका) उस (प्यारे) की बातो में तत्पर सखियो के मुख पर अपनी अत्यन्त कातर दृष्टि डाल रही है—उनकी तरफ बड़ी दीनता से देख रही है।

यहाँ 'विरह' विभाव है और 'अगो का पटकना-आदि' अनुभाव।

१६—त्रास

डरपोक मनुष्य के हृदय मे व्याघ्रादि भयंकर जन्तुओ के देखने और बिजली की कड़क सुनने-आदि से जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसे 'त्रास' कहते हैं। इसके अनुभाव रोमॉच, कॅपकपी, निश्चेष्टता और भ्रम-आदि हैं। जैसा कि कहा गया है—

औत्पातिकैर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारकः।

अर्थात् उत्पातकारी वस्तुओ से जो मन का विक्षेप होता है, उसे 'त्रास' कहते हैं और वह कम्प-आदि को उत्पन्न करता है। उदाहरण लीजिए—

आलीषु केलीरभसेन बाला मुहुर्ममालापमुपालपन्ती।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामनीयां सुषमामयासीत्॥

× × × ×

बाल बात मम सखिन बिच बार-बार बतरात।
दूरहि ते मम सबद सुनि लहि बिजुरी-दुति तात॥

नायक अपने मित्र से कहता है कि—बालिका क्रीड़ा के जोश मे आकर, सखियो मे, मेरी बात-चीत को दुहरा-दुहराकर कह रही थी, पर, दूर से, ज्योही मेरी आवाज सुनी, तत्काल बिजली का सा चमक्का कर गई—देखते-देखते ओझल हो गई।

यहाँ 'पति का अपनी बातें सुन लेना' विभाव है और 'भग जाना' अनुभाव।

'इस पद्य मे लज्जा व्यग्य है' यह शका न करनी चाहिए, क्योकि 'बाला' शब्द के प्रयोग से बालकपन के कारण लज्जा आपही निवृत्त हो

जाती है अर्थात् बाल्यावस्था मे लज्जा नहीं, किन्तु त्रास ही हुआ करता है।

पर, यदि कहो कि यहाँ बाला-पद से नायिका के शिशुत्व का बोध कराना अभीष्ट नहीं है, किन्तु उससे नायिका की विशेषता (अल्पवयस्कता) सूचित होती है, तो यह उदाहरण लीजिए—

मा कुरु कशां कराब्जे करुणावति ! कम्पते मम स्वान्तम् ।
खेलन्न जातु गोपैरम्ब ! विलम्बं करिष्यामि ॥

× × ×

करु न कोररा कर, कँपत हिय, करुनावति अम्ब !
गोपन सँग खेलत कबहुँ करिहौ अब न विलंब ॥

अरी दयावती ! तू अपने कर-कमल मे कोरड़ा न ले, मेरा हृदय धडक रहा है। मैया ! गुआलो के साथ खेलते हुए अब कभी विलब न करूँगा।

यह लीला से गोपकिशोर बने हुए भगवान् श्रीकृष्णचद्र की उक्ति है।

१७—सुप्त

निद्रारूपी विभाव से उत्पन्न हुए ज्ञान का नाम 'सुप्त' है, जिसे आप 'स्वप्न' कह सकते है। इसके अनुभाव हैं बडबड़ाना-आदि।

नेत्र मींचना-आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, इसके नहीं, क्योंकि वे स्वप्न के कारण नहीं होते और जो प्राचीन आचार्यों ने "अस्याऽनुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम् (अर्थात् इसके अनुभाव शरीर की निश्चेष्टता और नेत्र-मींचना हैं)" इत्यादि लिखा है, सो वे अनुभाव यद्यपि निद्रा के कारण अन्यथासिद्ध हैं अर्थात् वे केवल स्वप्न मे ही नहीं रहते, किंतु बिना स्वप्न के केवल निद्रा मे भी रहते हैं, तथापि इस भाव में भी वे व्यापकरूप से रहते हैं—यह भाव भी उनसे खाली नहीं

है, इस कारण लिख दिए गए हैं। सो यह आप भी सोच सकते हैं। उदाहरण लीजिए—

'अकरुण ! मृषाभाषासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चलम्,
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ् मये' त्यभिभाषिणीम् ॥
अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां,
क इह भवतीं भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत ॥

× × ×

'हे झूँठन सिरमौर ! निर्दयी ! तजु मम अचल,
तेरो जान्यो नेह भलै मैं' यों कहती कल ॥
अविरल आँसुन धार झरति कृशतन गतभूषन ।
प्यारिहिं तो बिन नींद ! करै को देवि ! निवेदन ॥

'हे दयाहीन ! हे मिथ्या-भाषणो के समुद्र ! मैने तुम्हारे प्रेम को अच्छी तरह पहचान लिया। तुम मेरा पल्ला छोड़ दो।' इस तरह कहती हुई और अविरल अश्रुधारा बहाती हुई भूषणरहित कृशागी को हे कल्याणकारिणी निद्रे ! तेरे बिना कौन मिला सकता है ! देवि ! इस तरह मिला देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है। यह स्वप्न में भी इस तरह कहती हुई प्रियतमा को देखनेवाले किसी विदेशगत नायक की उक्ति है।

यद्यपि यहाँ "हे निद्रे ! तैंने प्यारी की इस तरह की अवस्था का निवेदन करके मेरा महान् उपकार किया है" यह बात और विप्रलभ श्रृगार दोनो प्रतीति में आ जाते हैं, तथापि प्रथम स्वप्न की ही स्फूर्त्ति होती है, अतः इस पद्य मे स्वप्न के ध्वनित होने का उदाहरण दिया गया है, परतु यदि इसी पद्य से अत मे वे दोनो भी ध्वनित होते हैं तो स्वप्न की अभिव्यक्ति उन्हे रोक नही सकती ।

१८—विबोध

निद्रा के नष्ट होने के अनंतर जो बोध उत्पन्न होता है, उसे 'विबोध' कहते हैं।

निद्रा का नाश निद्रा के पूरे हो जाने, स्वप्न का अत हो जाने और बलवान् शब्द तथा स्पर्श से होता है, इस कारण वे ही इसके विभाव हैं और 'आँखे मलना', 'अँगड़ाई लेना' आदि अनुभाव हैं। सक्षेप से उदाहरण लीजिए—

नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे बत ! यामे चरमे निवेदितायाः।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत्प्रचुकोप वारिवाहः ॥

× × ×

पहर पाछले सुनयनिहि नीद मिलाई आज।
वचन-स्रवन पूरब कुपित भयो जलद बिन काज॥

नायक अपने मित्र से कहता है—आनद का विषय है कि मेरा हित चाहनेवाली निद्रा ने, पिछले पहर मे अर्थात् सबेरा होते होते, मुझसे मेरी प्रिया को मिलाया, पर ज्योही मै उसका वचन सुनता हूँ, त्योही मेरे ऊपर जलधर कुपित हो गया—उसने गरजकर सब मजा किरकिरा कर दिया।

यहाँ 'गर्जना सुनना' विभाव है और 'प्रिया के वचन सुनने के लिये जो उल्लास हुआ था उसका नाश अनुभाव है, पर उसे तर्कना द्वारा समझ लेना चाहिए, उसका यहाँ स्पष्ट शब्दो मे वर्णन नही है।

कुछ लोग 'विबोध' को अविद्या के नाश से उत्पन्न होनेवाला भी मानते हैं। उनके हिसाब से—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत !
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥"

अर्जुन कहता है कि—हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन बातो को मै भूल रहा था, वे मुझे फिर से उपस्थित हो गईं । अब मै सदेहरहित होकर स्थित हूँ, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ।

इस भगवद्गीता के पद्य का उदाहरण देना चाहिए ।

यहाँ "नितरा हितयाऽद्य निद्रया मे"...इस पद्य का वाक्यार्थ मेघ के विषय मे होनेवाली असूया है यह शका करना ठीक नहीं । क्योकि जब पहले विबोध का ज्ञान हो जायगा, तब विबोध की अनुचितता का—बेमौके होने का—पता लगेगा, और उसके अनतर होगी 'अनुचित विबोध के उत्पन्न करनेवाले मेघ मे असूया' । सो वह विबोध का मुँह देखनेवाली है अतएव विलब से प्रतीत होती है, इस कारण उसकी प्रधानता नही हो सकती । हाँ, उसकी प्रधानता हो सकती है, पर तब, जब कि मेघ के विषय मे निर्दयता आदि का बोध करानेवाला कुछ भी हो ।

इसी तरह यहाँ स्वप्न-भाव भी वाक्यार्थ नही हो सकता, क्योंकि मेघ की गर्जना से स्वप्न नाश का ही बोध होता है, स्वप्न का नही ।

पर, यदि कहो कि—यहाँ मूल पद्य मे मेघ के लिये 'वारिवाह' शब्द है, और वारिवाह शब्द का अर्थ पनभरा (जल भरनेवाला) भी होता है, सो इस तरह के निकृष्ट शब्द के प्रयोग से असूया ध्वनित हो सकती है और स्वप्नभाव की शान्ति की ध्वनि को तो आप भी स्वीकार कर चुके हैं । तो हम कहते हैं कि—लाओ, असूया और स्वप्नभाव की शाति के साथ इस भाव का सकर (मिश्रण) स्वीकार कर लेते हैं ।

किन्तु निम्नलिखित पद्य को इस भाव के उदाहरण में नहीं देना चाहिए—

गाढमालिङ्ग्य सकलां यामिनीं सह तस्थुषीम् ।
निद्रां विहाय स प्रातरालिलिङ्गाऽथ चेतनाम् ॥

× × × ×

करि आलिङ्गन सब रजनि रही नीद जो साथ ।
तेहि तजिकै अब वह परयो प्रात चेतना-हाथ ॥

एक दर्शक कहता है कि—जो नीद रातभर गहरा आलिगन करती रही—जिसने उसे पूर्णतया अपने वश मे कर रखा था, उसने, उसे छोड़कर, अब प्रातःकाल चेतना को आलिगन किया है ।

क्योकि यहाँ जो चेतना शब्द है उसका अर्थ विबोध है, अत वह वाच्य हो गया है। सो 'जिस तरह एक सत्यप्रतिज्ञ नायक, उपभोग के लिये, दो नायिकाओ को दो—पृथक् पृथक्—समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के अनतर, दूसरे समय पर उसे छोड़कर दूसरी नायिका को भोगता है, वैसे ही इसने भी रात्रि मे निद्रा को और प्रात.काल मे चेतना को आलिगन किया है' यह समासोक्ति (अलङ्कार) ही यहाँ प्रकाशित होती है।

१९—अमर्ष

दूसरे के किए अपमान आदि अनेक अपराधो से उत्पन्न होनेवाली और मौन तथा वचनो की कठोरता आदि को उत्पन्न करनेवाली जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति है उसे 'अमर्ष' कहते हैं। पहले ही की तरह यहाँ भी कारणो को विभाव और कार्यों को अनुभाव समझ लेना चाहिए। उदाहरण लीजिए—

वक्षोजाग्रं पाणिनाऽऽमृश्य दूरे
यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य ।

शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां
जोषं जोषं जोषमेवाऽन्ततस्थे ॥

× × × ×

पिय चूचुकनि दबाइ कर गयो दूर ततकाल ।
तेहि मुख जोइ-जोइ-जोइ रहि भामिनि करि चख लाल ॥

प्रियतम कुचों के अग्रभाग को हाथ से दबाकर तत्काल दूर चला गया और क्रोधयुक्त नायिका, जिनके अग्रभाग लाल हो रहे हैं ऐसे, नेत्रों से देखती-देखती चुप रह गई ।

यहाँ अकस्मात् स्तनों के अग्रभागों का स्पर्श करना विभाव है और नयनों की ललाई तथा टकटकी लगाकर देखना अनुभाव है ।

क्रोध और अमर्ष का भेद

यहाँ आप पूछ सकते हैं कि स्थायी-भाव क्रोध और सचारी-भाव अमर्ष मे क्या भेद है ? इसका उत्तर यह है कि—दोनो के विषय भिन्न भिन्न हैं—यही भेद है और विषयों के भिन्न होने का बोध उनके कार्यों की विलक्षणता से होता है। देखिए, क्रोध के कारण झट से प्रतिपक्षी के नाश आदि मे प्रवृत्ति होती है और अमर्ष के कारण केवल चुप रहना-आदि ही होते हैं। (तात्पर्य यह कि वही भाव जब कोमलावस्था मे रहता है तो अमर्ष कहलाता है और उत्कट अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो क्रोध ।)

२०—अवहित्थ

हर्ष आदि अनुभावों को लज्जा आदि के कारण छिपाने के लिये जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है उसे 'अवहित्थ' कहते हैं । जैसा कि लिखा है—

अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते।
तद्विभाव्यं भयव्रीडाधाष्ट्र्यकौटिल्यगौरवैः॥

अर्थात् अनुभावो को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है उसे 'अवहित्थ' कहते हैं। उसके विभाव भय, लज्जा, धृष्टता, कुटिलता और गौरव होते हैं। जैसे—

प्रसंगे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः
फणायां साश्चर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम्॥

× × × ×

गोपनि बातनि करी, गुरुन बिच, परम बडाई
जदुपति की, कुलनारि सुनी सो अति मन भाई॥
भए कपोलनि सेद-सलिल अरु पुलकनि पाँती।
होन लग्यो अति हरख प्रकट ताको इहिँ भाँती॥
सो विष-झारनि माल अति वमत कालि-फनिपति-फननि।
निरतन की कहिबे लगी बात सखिन अचरज-करनि॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—गोपो ने, प्रसंग आ जाने पर, गुरुजनो के बीच मे, भगवान् कृष्णचद्र की बड़ाई कर दी। पास में बैठी हुई एक कुलनारी ने भी यह प्रसग सुन लिया। फिर क्या था, प्रेम के कारण कपोलो पर पसीना और रोमाच उत्पन्न हो गए। कुलवधू ने देखा कि अब सब चौपट हुआ जाता है, अतः उसने विषज्वाला के समूह को सपाटे से उगलते हुए अहिराज कालिय के फणो पर (भगवान् कृष्ण के) नृत्य का आश्चर्य-सहित वर्णन करना प्रारंभ कर

दिया (जिससे लोग समझ ले कि यह स्वेद और रोमाच कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, किन्तु उनके पराक्रम-वर्णन के कारण हुआ है ।)

यहाँ लज्जा विभाव है और वैसे (भयकर) कालिय सर्प के फणों पर ताडव करने की कथा का प्रसग अनुभाव है । इसी तरह भयादिक के द्वारा उत्पन्न होनेवाले अवहित्थ-भाव का भी उदाहरण समझ लेना चाहिए ।

२१—उग्रता

तिरस्कार तथा अपमान आदि से उत्पन्न होनेवाली 'इसका क्या कर डालूँ' इस रूप मे जो चित्तवृत्ति होती है उसे 'उग्रता' कहते हैं । जैसा कि लिखा है—

नृपापराधोऽसद्दोषकीर्त्तनं चौरधारणम् ।
विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥
एते यत्राऽनुभावास्तदौग्र्यं निर्दयतात्मकम् ॥

अर्थात् राजा का अपराध, झूठे दोषो का वर्णन और अपने चोर को रख लेना ये जिसमे विभाव हो और बाँधना, मारना, पीटना और धमकाना ये अनुभाव हो, वह 'उग्रता' होती है, जो कि निर्दयतारूप है । जैसे—

अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम् ।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते ॥

× × ×

रन-आँगन लहि करन ते अशुभ पराजय आज ।
निदत मम गाडिव धनुष तुव हिय कंप न लाज ॥

रणागण मे अगराज कर्ण से अत्यत अमगल हार खाकर तू आज मेरे परम प्रभावशाली गाडीव धनुष की निदा कर रहा है ! तेरा हृदय कपित नही होता !! यह कर्ण से पराजित और गाडीव की निदा करते हुए युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की उक्ति है।

यहॉ युधिष्ठिर की की हुई गाडीव धनुष की निंदा विभाव है और मारने की इच्छा अनुभाव है।

यहॉ यह भी समझ लेना चाहिए कि—'अमर्ष और उग्रता मे कुछ भेद नहीं है' यह कह देना उचित नहीं, क्योकि पहले जो अमर्ष की ध्वनि का उदाहरण दिया गया है उसमे उग्रता नही है, सो आप दोनो उदाहरणो को मिलाकर स्पष्ट समझ सकते हैं। (तात्पर्य यह कि अमर्ष निर्दयतारूप नही और यह निर्दयतारूप है।) न इसे क्रोध ही कह सकते हैं, क्योकि वह स्थायी-भाव है और यह सचारी भाव। अर्थात् यही भाव जब स्थायीरूप से आवे तो क्रोध समझना चाहिए और सचारीरूप से आवे तो उग्रता। क्रोध और उग्रता मे यही भेद है।

२२—उन्माद

वियोग, परम आनंद और महा-आपत्ति से उत्पन्न होनेवाली जो किसी मनुष्य अथवा वस्तु मे किसी दूसरे मनुष्य अथवा वस्तु की प्रतीति होती है उसे 'उन्माद' कहते है।

यहॉ 'उत्पन्न होनेवाली' तक का जो कथन है, वह 'सीप मे चॉदी के भान आदि रूपी' भ्रम में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होने के लिये है (क्योंकि वहॉ नेत्रदोष और अन्धकार आदि कारण हैं, न कि वियोग आदि।) उदाहरण लीजिए—

"अकरुणहृदय प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परं नाऽहम्" ।
इत्यालपति कराम्बुजमादायाऽऽलीजनस्य विकला सा ॥

× × × ×

'अकरुन-हिय पिय ! तोहिं हौं ना छोरौं अब पाइ ।'
यों बोलत गहि कर-कमल आलिन ते अकुलाइ ॥

वह सखी के हाथ को पकडकर 'हे निर्दयहृदय प्रियतम ! मै (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुम्हें नहीं छोड़ती ।' इस तरह विकल होकर बाते करती रहती है ।

यह प्रवास मे गए हुए और अपनी प्रियतमा के समाचार पूछते हुए नायक के प्रति किसी सदेशवाहिनी—दूती—की उक्ति है ।

यहाँ प्यारे का विरह विभाव है और असबद्ध—बेमेल—बाते करना अनुभाव है । उन्माद का यद्यपि व्याधि-भाव मे अतर्भाव हो सकता है तथापि इसे जो पृथक् लिखा गया है, सो यह समझने के लिये कि इस व्याधि मे अन्य व्याधियो की अपेक्षा एक प्रकार की विचित्रता है—अर्थात् अन्य रोगो से इस रोग का ढग कुछ निराला है ।

२३—मरण

रोग-आदि से उत्पन्न होनेवाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है उसे 'मरण' कहते है ।

यहाँ 'प्राणों का छूट जाना' रूपी जो मुख्य मरण है उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योकि ये जितने भाव हैं वे सब चित्तवृत्तिरूप हैं, उनमें उस प्रकार के मरण का कोई प्रसग ही नहीं । दूसरे, शरीर-प्राण-सयोग हर्ष-आदि सभी व्यभिचारी भावो का हेतु है और वह ऐसा कारण नही कि केवल कार्य की उत्पत्ति के पूर्व ही वर्तमान रहे, किन्तु ऐसा हेतु है जो कार्य की उत्पत्ति के समय भी रहता है । (इस अवस्था मे मरणभाव मुख्य मरण (शरीर-प्राण-वियोग) रूप मे नहीं लिया जा सकता, क्योकि वह समय शरीर-प्राण-सयोग के सर्वथा विरुद्ध है । अतः मरण के पूर्वकाल की चित्तवृत्ति ही यहाँ मरणनामक व्यभि-

चारी भाव है, क्योकि उसकी उत्पत्ति के समय शरीर-प्राण-संयोग रहता है।) उदाहरण लीजिए—

दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती
शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽसीत् ।
अधुना खलु हन्त ! सा कृशाङ्गी
गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि ॥

× × × ×

जेहि पिय गुन सुमिरत अबहि सेज विलोकी हाय !
अब वह बोलति ना सुतनु थके बुलाय-बुलाय ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—जिसको, अभी, प्रियतम के गुणो का स्मरण करते हुए, शय्या पर, देखा था, हाय ! वह कृशागी इस समय, बुलाने पर भी नहीं बोलती—उसकी जबान बद हो गई है।

यहाँ 'प्यारे का विरह' विभाव है और 'जबान बद हो जाना' अनुभाव।

इस पद्य मे 'हत' अथवा 'हाय' पद अत्यंत उपकारक है, अतः यद्यपि यह भाव वाक्यभर का व्यग्य है, तथापि यहाँ पद का व्यग्य हो गया है। इससे 'भाव यदि पद से व्यग्य हो तो उसमे अधिक विचित्रता नही रहती' यह कथन परास्त हो जाता है। 'प्रियतम के गुणो का स्मरण करते हुए' इस कथन से यह बात सूचित होती है कि—'यहाँ ध्वनित होनेवाली जो अतिम अवस्था है उसमे भी उसे प्यारे के गुणो का विस्मरण नहीं हुआ था' और इस तरह वह अत मे अभिव्यक्त होनेवाले विप्रलभ-शृंगार को अथवा करुण-रस के स्थायी-भाव शोक को पुष्ट करती है।

यहाँ यह समझ लेने को है कि यह भाव, सदर्भ मे, इस वाक्य के अनतर आनेवाले दूसरे वाक्य से यदि नायिकादिक के पुनर्जीवन का वर्णन किया जाय, तब तो विप्रलभ को, अन्यथा करुण-रस को, पुष्ट करता है।

कवि लोग इस भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते, क्योंकि यह भाव प्रायः अमगल है।

२४—वितर्क

संदेह आदि के अनन्तर उत्पन्न होनेवाली तर्कना को 'वितर्क' कहते हैं। वह निश्चय के अनुकूल (निश्चय का उत्पादक) होता है। जैसे—

यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी नितरामेव न विद्यते भुवि।
अथ मे कथमस्ति जीवितं न विनाऽऽलम्बनमाश्रितस्थितिः

× × × ×

'जनक-सुता महि पर नही' यह बच जो आदेय।
तौ किमि मम थिति ! रहत ना बिन अधार आधेय॥

यदि जनकनदिनी पृथिवी पर सर्वथा है ही नही; तब फिर मेरा जीवन किस प्रकार विद्यमान है, क्योकि बिना आधार के आधेय (आधार में रहनेवाली वस्तु) की स्थिति नहीं रहती। (तात्पर्य यह कि जनकनदिनी ही इस जीवन का आधार है, उसके चले जाने पर यह रह ही कैसे सकता है !) यह भगवान् रामचद्र का अपने मन मे कथन है।

यहाँ 'सीता पृथिवी पर है अथवा नहीं' यह सदेह विभाव है और पद्य में वर्णित न होने पर भी आक्षिप्त 'भौह तथा अगुलियो का नचाना' अनुभाव है।

वितर्क और चिन्ता का भेद

'इस पद्य का व्यग्य चिता है' यह नही कहा जा सकता, क्योकि चिता किसी निश्चय को ही उत्पन्न करे, यह नियत नही है। दूसरे, इन दोनो भावो के विषय भी भिन्न-भिन्न मिलते हैं। चिता का आकार है 'क्या होगा' 'कैसा होगा' इत्यादि, और वितर्क का आकार है 'प्रायः इसका ऐसा होना उचित है' यह।

एव उक्त पद्य मे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के रूप मे "बिना आधार के..... " इत्यादि कथन भी वितर्क के ही अनुकूल है, चिता के नही।

२५—विषाद

वाञ्छित के सिद्ध न होने तथा राजा और गुरु आदि के अपराध आदि से उत्पन्न होनेवाले पश्चात्ताप का नाम 'विषाद' है।
उदाहरण लीजिए—

भास्करसूनावस्तं याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे।
दुर्योधनस्य जीवित! कथमिव नाऽद्यापि निर्यासि॥

× × × ×

अथए करन महारथी लही पाडवनि जीत।
कुरुपति के जीवन न तू अजहूं भयो व्यतीत॥

दुर्योधन अपने-आप कहते हैं कि—सूर्यसुत कर्ण के अस्त हो जाने और पाडवो का विजय हो जाने पर भी, हे (कर्ण के दर्शन पर्यंत ही जीनेवाले, अथवा ग्यारह अक्षौहिणियो के पतियो से प्रणाम किए जानेवाले, यद्वा प्रताप से पाडवो के तेज को न गिननेवाले, किवा पाडवो को वनवासादि दुःख देनेवाले) दुर्योधन के जीवन! तू आज भी किस तरह नहीं निकल रहा है? क्या अब भी और कोई दुःख देखना शेष रह गया है?

यहाँ अपने अपकर्ष और शत्रुओ के उत्कर्ष का देखना विभाव है और जीव के निकलने की चाहना और उसके द्वारा आक्षिप्त मुँह नीचा करना आदि अनुभाव हैं।

इसी विषाद की ध्वनि को, "दुर्योधन के" यह अर्थांतर-संक्रमित वाच्य-ध्वनि—जिससे अत्यत दुःखीपन आदि व्यक्त होता है—अनुगृहीत (परिपुष्ट) करती है।

'यह पद्य त्रास-भाव की ध्वनि है' यह शका करना उचित नहीं, क्योकि परमवीर दुर्योधन को त्रास का लेश भी स्पर्श नहीं कर सकता। न चिंता की ही ध्वनि कही जा सकती है, क्योकि उसका यह निश्चय है कि 'मै युद्ध करके मरूँगा'। दैन्य की ध्वनि माने सो भी नहीं, क्योकि सब सेना का क्षय होने पर भी उसने विपत्ति को गिना ही नहीं। वीर-रस की ध्वनि भी नही बन सकती, क्योकि वह अपने वचन मे मरण को अपना रक्षक कह रहा है, और 'उत्साह' का प्राण है दूसरे को नीचा दिखाना, सो वह यहाँ है नहीं (और बिना उसके 'वीर-रस' की बात उठाना हो अनभिज्ञता है।)

निम्नलिखित पद्य को विषादध्वनि का उदाहरण कहना उचित नही—

अयि ! पवनरयाणां निर्दयानां हयानां
श्लथय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे।
श्रुतिविवरमर्मो मे दारयन्ति प्रकुप्य-
द्भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः।

× × ×

करु हरुए रे ! नेक निर्दयी हय-गन की गति।
हौ ना चाहत समर देखिबो, कंपत मो मति॥

क्रुद्धसर्प-सम उग्र भुजनवारे क्षत्रिन के।
सुनि सुनि नाद विदीर्ण होत मम छिद्र श्रुतिन के॥

भीरु पुरुष (विराट-पुत्र उत्तर) अपने सारथि बृहन्नलावेषधारी अर्जुन से कह रहा है—ए भैया! तू इन निर्दयी घोड़ो की गति को मदी कर दे, मै युद्ध देखना नहीं चाहता। देख तो, क्रोधी सर्प के समान जिनकी भुजाएँ हैं ऐसे क्षत्रियो के नाद मेरे कानो के छिद्रो को विदीर्ण किए देते हैं—उन्हे सुन सुनकर मेरे कानो के परदे फटे जा रहे हैं।

यहाँ त्रास ही प्रतीत हो रहा है, इस कारण विषाद की प्रतीति नही हो सकती। पर यदि किसी अंश में प्रतीति मान भी ले, तथापि उसका भी त्रास मे ही अनुकूल होना उचित है, सो वह इस योग्य नहीं कि इस काव्य को विषाद की ध्वनि कहा जाय।

२६—औत्सुक्य

'यह वस्तु मुझे इसी समय प्राप्त हो जाय' इस इच्छा को 'औत्सुक्य' कहते हैं।

'वाछित का न प्राप्त होना इसका विभाव होता है और शीघ्रता, चिंता आदि अनुभाव होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

संजातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः॥

अर्थात् वाछित के विरह से उत्पन्न होनेवाला और प्रिय की स्मृति से उद्दीप्त किया जानेवाला तथा जिसके निद्रा, आलस्य, शरीर का भारीपन और चिंता अनुभाव हैं उस भाव को, भावो के समझनेवालो ने, 'औत्सुक्य' कहा है। उदाहरण लीजिए—

निपतद्बाष्पसंरोधमुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥

× × × ×

परत आँसुवन रोध हित भइ थिर तारा जासु ।
नैन नील-नीरज वहै कबैं निरखिहौं तासु ॥

नायक के जी मे आ रहा है कि—(जिस समय मै चलने लगा, उस समय, इस भय से कि कहीं अपशकुन न हो जाय) गिरते हुए आँसुओ के रोकने से जिसके तारा ने चचलता छोड़ दी थी—स्थिर हो रहा था ऐसी (क्योकि यदि वह थोड़ा भी हिलता तो सभव था कि आँसू गिर पड़ते) मृगनयनी के उस नयनरूपी नीलकमल को कब देखूँ ।

२७—आवेग

अनर्थ की अधिकता के कारण उत्पन्न होनेवाली चित्त की संभ्रम नामक वृत्ति को 'आवेग' कहते है । उदाहरण लीजिए—

लीलया विहितसिन्धुबन्धनः सोऽयमेति रघुवशनन्दनः ।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः कुत्र यामि निकटे कुलक्षयः ॥

× × × ×

लीला ते बाँध्यो जलधि सो यह रघुपति आत ।
दरपभरथो दसवदन, कहँ जाउँ, निकट कुलघात ॥

जिन्होने लीला से समुद्र का सेतु तैयार कर दिया, वे रघुवशनदन—रामचद्र—ये आ रहे हैं; और रावण है पूरा घमडी—वह कभी झुकनेवाला नहीं । अब, मै कहाँ जाऊँ, कुल का नाश बिलकुल नजदीक आ गया है—कोई बचाव की सूरत नहीं दिखाई देती । यह मदोदरी का मन-ही-मन कथन है ।

यहाँ 'रघुनदन का आना' विभाव है और 'कहाँ जाऊँ' इस कथन से अभिव्यक्त होनेवाला स्थिरता का अभाव अनुभाव है।

यहाँ यह नही कहा जा सकता कि इस पद्य में चिता प्रधानतया अभिव्यक्त होती है, क्योकि 'कहाँ जाऊँ' इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होनेवाले स्थिरता के अभाव से जिस तरह उद्वेग की प्रतीति होती है, उस तरह चिता की नही होती। परतु आवेग के आस्वादन मे उसके परिपोषक रूप से, गौणतया, चिंता भी अनुभाव मे आ जाती है।

२८—जडता

चिंता, उत्कंठा, भय, विरह और प्रिय के अनिष्ट के देखने सुनने आदि से उत्पन्न होनेवाली और अवश्य करने योग्य कार्यों के अनुसधान से रहित जो चित्तवृत्ति होती है उसे 'जडता' कहते हैं। यह मोह के पहले और पीछे उत्पन्न हुआ करती है। जैसा कि कहा गया है—

कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपिवा।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भावबिस्मरणादयः।
सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम्॥

अर्थात् देखते अथवा सुनते हुए भी कर्त्तव्य का विवेक न होने को जडता कहते हैं। उसके विभाव हैं 'प्यारे अथवा प्यारी के अनिष्ट का देखना-सुनना' तथा रोग, और चुप हो जाना, भूल जाना—आदि अनुभाव हैं। वह मोह के पहले अथवा पीछे उत्पन्न हुआ करती है। यह विद्वानों का मत है। उदाहरण—

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां
सहचरि! दैववशेन दूरतोऽभूत्।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयै-
रथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥

× × × ×

जब ते सखि! दयितहि दई कीन्ह लोचननि दूर।
तब ते मम इन्द्रिन क्रिया करी शिथिल भरपूर ॥

नायिका अपनी सखी से कहती है—हे सहेली! दैवाधीन होने के कारण जब से प्रियतम आँखो से दूर हुए हैं तब से मेरी इद्रियो ने अपने-अपने कामो से प्रेम शिथिल कर दिया है—अब वे काम करना चाहती ही नही।

यहाँ 'प्यारे का विरह' विभाव है और 'आँख-कान आदि इद्रियो का अपने-अपने ज्ञानो मे प्रेम शिथिल कर देना—अर्थात् आँख आदि से रूप आदि का जैसा चाहिए वैसा ज्ञान न होना अनुभाव है।

मोह और जडता का भेद

मोह मे नेत्रादिकों से देखना आदि कार्य होते ही नही, परन्तु इस भाव मे यह बात नहीं। इस भाव मे वस्तुओ के दर्शन-आदि तो होते हैं, पर, प्रायः, उनका विशेष रूप से परिचय नहीं होता—अर्थात् न जानना मोह का काम है और जैसा चाहिए वैसा न जानना जडता का। यही उससे इसमे विशेषता है।

इसी कारण उदाहरण-पद्य मे 'शिथिल कर दिया है' लिखा है, 'छोड़ दिया है' नहीं।

२९—आलस्य

अत्यन्त तृप्त हो जाने तथा गर्भ, रोग और परिश्रम आदि के कारण जो चित्त का कार्य से विमुख होना है उसे 'आलस्य' कहते हैं।

ग्लानि और जडता से आलस्य का भेद

इसमे न अशक्ति होती है और न कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक का अभाव, अतः कार्य न करने रूपी अनुभाव के समान होने पर भी ग्लानि और जडता से इसका भेद है। उदाहरण लीजिए—

निखिलां रजनीं प्रियेण दूरा-
दुपयातेन विबोधिता कथाभिः।
अधिकं न हि पारयामि वक्तुम्,
सखि! मा जल्प, तवाऽऽयसी रसज्ञा।

× × × ×

पिय आए अति दूर ते करी बात सब रात।
तुव रसना सखि! लोह की हौं ना बोलि सकात॥

पतिदेव दूर से आए थे, उन्होने सब रात भर अनेक कथाएँ समझाईं। सो हे सखी! मै अधिक नहीं बोल सकती, तू बात न कर, (मालूम होता है) तेरी जीभ तो लोह की है—तू क्या थकती थोडे ही है।

यह, पति के आने के दूसरे दिन, बार-बार रात का वृत्तात पूछती हुई सखी के प्रति रात मे जगने से आलस्ययुक्त किसी नायिका की उक्ति है।

यहाँ 'रात में जगना विभाव' है और 'अधिक बोलने का अभाव' अनुभाव। जड़ता का नियम है कि वह मोह से प्रथम अथवा पीछे

हुआ करती है, पर इसमे यह बात नहीं सो आलस्य मे यह एक और भी विशेषता है।

यहाँ एक बात और समझ लेने की है। वह यों है—यदि यह माना जाय कि यहाँ जो 'कथा' शब्द आया है, वह असली बात छिपाने के लिये लाया गया है, अतएव अविवक्षितवाच्य है। (अर्थात् 'कथा' शब्द का असली अर्थ है सुरत, और उससे नायिका का अत्यत श्रम व्यक्त होता है।) तो श्रमभाव भले ही आलस्य का परिपोषक रहे, क्योकि जो आलस्य श्रम से उत्पन्न हुआ है, उसमे श्रम का पोषक होना अनिवार्य है। पर, इसका अर्थ यह नहीं है कि जहाँ-जहाँ आलस्य होता है वहाँ उसका विभाव श्रम ही होता है। अतएव जहाँ अत्यत तृप्त होने आदि से आलस्य उत्पन्न होता है वहाँ आलस्य का विषय इससे भिन्न हैं।

३०—असूया

दूसरे का उत्कर्ष देखने आदि से उत्पन्न होनेवाली और दूसरे की निंदा आदि का कारण जो एक प्रकार की चित्तवृत्ति होती है उसे 'असूया' कहते हैं। इसी को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दो से भी व्यवहार किया जाता है। जैसे—

कुत्र शैवं धनुरिदं क्व चाऽयं प्राकृतः शिशुः।
भङ्गस्तु सर्वसंहर्त्रा कालेनैव विनिर्मितः॥

× × × ×

कहाँ सम्भु को धनुष यह कहँ यह प्राकृत बाल।
याको भजन तो कियो सरब-सँहारी काल॥

कहाँ यह शिव-धनुष और कहाँ यह साधारण बालक, इसका भग तो सब वस्तुओ के सहार करनेवाले काल ने ही कर दिया।

इसका भावार्थ यह है कि इस धनुष का, इतने समय तक पड़े रहने के कारण, अपने आप ही चूरा हो गया है, अन्यथा यह काम इस साधारण क्षत्रिय बालक—रामचद्र—के वश का नही है।

यह, शिव-धनुष को तोडनेवाले भगवान् रामचद्र के पराक्रम को न सहनेवाले, उस सभा मे बैठे हुए, राजाओ का कथन है।

यहाँ 'श्रीमान् दशरथनदन के बल का सबसे उत्कृष्ट दिखाई देना' विभाव है और 'साधारण बालक' इस पद से प्रतीत होनेवाली निदा अनुभाव है।

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे[1]
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले, कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना,
धातः! किंनु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥

× × × ×

चचल नैन चकोर तृषित ह्वै प्राचिहिं जोवत,
कुमुद हु छाँडत मौन रहे जे अब लौं सोवत।
धुनत धनुष मदनेश मान हू तजत मानिनिनि।
कहा उचित या समय विधे! विधु पै कादम्बिनि॥

कवि विधाता से कहता है*—चकोरो का समूह आशा से चचल

---

* यह पद्य किसी ऐसे अवसर पर लिखा गया प्रतीत होता है जब कि किसी राजकुमार की उपस्थिति की अत्यन्त आवश्यकता थी; परंतु वह किसी दैवी कारण से उपस्थित न हो सका। क्योंकि "प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तातस्य" इत्यादि आगे का ग्रंथ तभी सगत हो सकता है।

—अनुवादक

नेत्र किए हुए पूर्व दिशा को स्वीकार कर रहा है—टकटकी लगाकर उसी तरफ देख रहा है, कुमुदो के वृद भी मौन छोडकर चटक रहे हैं, कामदेव अपने धनुष को कपित करके टकार शब्द कर रहे हैं और मानिनियो का मान प्रस्थान करना चाहता है—कमर बॉधे खडा है, हे विधाता! ऐसे समय मे क्या आपको यह उचित है कि चद्रमा पर मेघाडबर करे राम! राम!! आपने बहुत बुरा किया।

यहॉ यद्यपि 'विधाता की उच्छृखलता-आदि के दिखाई देने से उत्पन्न होनेवाली और उसकी—अनुचितकारितारूपी—निदा के प्रकाशित होने से अनुभव मे आनेवाली, विधाता के विषय मे, कवि की असूया अभिव्यक्त होती है' यह कहा जा सकता है, तथापि यहॉ जो असूया के कार्य और कारण वर्णन किये गये हैं वे ही अमर्ष के कार्य और कारण हो सकते हैं, अतः कार्य-कारणो की समानता के कारण वह अमर्ष से मिश्रित ही प्रतीत होती है, उससे रहित नही।

यदि आप कहे कि इसी तरह आपके पूर्वोक्त उदाहरण (कुत्र शैवम्••••) मे भी अमर्ष और असूया का मिश्रण क्यो नहीं कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह है कि—जिस तरह दूसरे पद्य मे विधाता का अपराध स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने राजकुमार को ऐसे आवश्यक समय पर उपस्थित न रहने दिया, इस तरह भगवान् राम का कोई अपराध नहीं है, जिससे कि कवि की तरह वीरो का भी अमर्ष अभिव्यक्त हो। आप कहेंगे कि धनुष-भग करके राजाओ का मानमर्दन कर देना रामचद्र का भी तो अपराध है। सो यह कहना ठीक नही, क्योकि अत्यत उन्नत कार्य करना वीर-पुरुषो का स्वभाव है—वे उसे किसी का दिल दुखाने के लिये नही करते।

अब यदि आप कहें कि—यहॉ चद्रमा का वृत्तात तो प्रसगप्राप्त है नही, अतः यह मानना पडेगा कि उसके द्वारा प्रसगप्राप्त राजकुमार आदि

का वृत्तात ध्वनित होता है, सो इस पद्य को असूया-भाव की ध्वनि मानना ठीक नहीं। तो इसका उत्तर यह है कि—एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि से विरोध नही है—अर्थात् एक ही पद्य साथ-ही-साथ दो अर्थों की भी ध्वनि हो सकता है, क्योकि यदि ऐसा न मानो तो महावाक्य की ध्वनियो का अवातरवाक्यो की ध्वनियो के साथ होना और अवातरवाक्यो की ध्वनियो का पदो की ध्वनियो के साथ होना कहीं भी न बन सकेगा।

३१—अपस्मार

वियोग, शोक, भय और घृणा आदि की अधिकता तथा भूत-प्रेत के लग जाने आदि से जो एक प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है उसे 'अपस्मार' कहते है।

इसकी भी गणना यद्यपि 'व्याधिभाव' मे ही हो जाती है, तथापि इसे जो विशेष रूप से लिखा गया है सो इस बात को समझाने के लिये कि 'बीभत्स' और 'भयानक' रसो का यही व्याधि अग होती है, अन्य नहीं, परन्तु विप्रलभ-शृगार के अग तो अन्यान्य व्याधियॉ भी हो सकती हैं। उदाहरण लीजिए—

हरिमागतमाकर्ण्य मथुरामन्तकान्तकम्।
कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले॥

× × ×

अतक के अतक हरिहिं मथुरा आए जानि।
सॉस लेत अरु कँपत महि परथो कंस भय मानि॥

कवि कहता है—काल के भी कालरूप भगवान् श्रीकृष्णचंद्र को जब मथुरा में आए सुना तो कंस कपित हो गया, उसे सॉस चढने लगा और पृथिवी पर गिर पड़ा।

यहाँ भय विभाव है, और काँपना, अधिक साँस लेना तथा गिर पड़ना आदि अनुभाव हैं।

३२—चपलता

अमर्ष आदि से उत्पन्न होनेवाली और कठोर वचन आदि को उत्पन्न करनेवाली चित्तवृत्ति को 'चपलता' कहते हैं। जैसा कि कहा है—

अमर्षप्रातिकूल्येर्ष्यारागद्वेषाश्च मत्सरः ।
इति यत्र विभावाः स्युरनुभावास्तु भर्त्सनम् ॥
वाक्पारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधबन्धने ।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमिष्यते ॥ इति ॥

अर्थात् जिसमे अमर्ष, प्रतिकूलता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हो और धमकाना, वचन की कठोरता, चोट पहुँचाना, पीटना, मारना और कैद करना ये अनुभाव हो, उसे 'चपलता' कहते हैं, जिसे कि 'बिना सोचे-विचारे काम करना' समझिए। उदाहरण लीजिये—

अहितव्रत ! पापात्मन् ! मैवं मे दर्शयाऽऽननम् ।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि येन त्वमसि भावितः ॥

× × × ×

अहित-नियम-पर, पापमय, स्वहि मुख न यों दिखाय ।
हौं आपुहिं मारन चहत जेहि तोहिं दिय उपजाय ॥

हे अनिष्टकारी नियमो के पालन करनेवाले दुरात्मन्! तू इस तरह मुझे मुख मत दिखा। मैं अपने को मार देना चाहता हूँ, जिससे कि तू उत्पन्न किया गया है।

यह हिरण्यकशिपु का, प्रह्लाद के प्रति, उस समय का, कथन है, जब कि उसे उसकी भगवद्भक्ति के हटने का कोई उपाय न सूझ पड़ा।

यहाँ भगवान् के द्वेष के द्वारा उत्थापित पुत्र का द्वेष विभाव है और आत्महत्या की इच्छा अनुभाव।

अमर्ष और चपलता का भेद

यहाँ यह न कहना चाहिए कि—इस पद्य मे 'अमर्ष' ही व्यग्य है, क्योकि सदा से ही भगवान् से प्रेम करनेवाले प्रह्लाद के साथ हिरण्यकशिपु का जो अमर्ष था वह बहुत समय से सचित था, अतः यदि अमर्ष के कारण ही उसकी आत्महत्या की इच्छा हुई—यह माना जाय, तो इस इच्छा का इस समय ही पहले बार होना नहीं बन सकता, यदि यह इच्छा उसी कारण से हुई होती तो इतने वर्षों तक ही क्यो न हो गई होती। अब, जब कि वह इच्छा पहले-पहल उत्पन्न हुई है तो उसका कारण भी पहले पहल उत्पन्न हुआ है—यह मानना चाहिए। तब पुरानी चित्तवृत्ति जो अमर्ष है उससे भिन्न चपलता नामक चित्तवृत्ति ही उसका कारण सिद्ध होती है। पर, यदि कहो कि आत्महत्या आदि का कारण अमर्ष की अधिकता ही है, अतः यहाँ उसी की अभिव्यक्ति माननी चाहिए तो हम कहते हैं कि अधिकता भी वस्तु के स्वाभाविक रूप से तो विलक्षण होती है—अर्थात् स्वाभाविक रूप मे और अधिकता मे भेद होता है, यह तो अवश्य ही मानना पडेगा। बस, तो उसी पदार्थ का नाम चपलता है, अर्थात् प्रकृष्ट अमर्ष ही चपलता कहलाता है।

३५—निर्वेद

जो नीच पुरुषो मे गालियाँ मिलने, तिरस्कार होने, रोगी हो

जाने, पिट जाने, दरिद्र होने, वांछित के न मिलने और दूसरे की संपत्ति देखने आदि से और उत्तम पुरुषो मे अवज्ञा आदि से उत्पन्न होती है और जिसका नाम विषयो से द्वेष है, तथा जिसके कारण रोना, लंबे साँस और चेहरे पर दीनता आदि उत्पन्न हो जाते हैं उस चित्तवृत्ति का नाम 'निर्वेद' है। उदाहरण लीजिए—

यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा न मदीक्षासरणिं समेष्यति ।
अमुना जडजीवितेन मे जगता वा विफलेन किं फलम् ॥

× × ×

लछमन, जो वह मृगनयनि मो नैननि ना आय ।
या जड जीवन अरु विफल जग ते का फल हाय ॥

श्रीरामचंद्र सीता के वियोग मे लक्ष्मण से कह रहे हैं—हे लक्ष्मण ! यदि वह मृगनयनी मेरे नेत्रपथ मे न आवेगी—मुझे न दिखाई देगी, तो इस जड—अर्थात् निरीह—जीवन से अथवा निष्फल जगत् से क्या फल है ! मेरे लिये न यह जीवन काम का है, न जगत् ।

यहाँ यदि आप शका करें कि 'निर्वेद' शात-रस का स्थायी भाव है, सो इस पद्य को शात-रस की ही ध्वनि क्यो न मान लिया जाय, भाव की ध्वनि क्यो माना जाय, तो इसका समाधान यह है कि जो निर्वेद शात-रस का स्थायी भाव है, वह नित्य और अनित्य वस्तुओ के विवेक से उत्पन्न हुआ करता है, पर यह वैसा नहीं है, सो इस निर्वेद के कारण यह पद्य रस की ध्वनि नही कहा जा सकता ।

३४—देवता आदि के विषय में रति

जैसे—

भवद्द्वारि क्रुध्यज्जयविजयदण्डाहतिदल-
त्किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः।
वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया
वराकाः के तत्र क्षपितमुर! नाकाधिपतयः॥

× × ×

क्रोधयुक्त जय-विजय-दंड की गहरी चोटन।
दलित किरीट, सुकीट-सरिस, विधि औ बलसूदन॥
नैनपात की चाह रहें ठाढ़े तुव द्वारे।
कौन मुरारे! तहाँ नाकपति हैं बेचारे॥

भक्त की भगवान् के प्रति उक्ति है कि—हे मुरारे! आपके द्वार पर, क्रोधयुक्त जय-विजय नामक पार्षदो के डडो की चोटो से जिनके किरीट टूटे जा रहे हैं ऐसे ब्रह्मा और महेद्र आदिक देवता, आपके नेत्रपरिपात की—एक बार अच्छी तरह देख लेने की—उत्कठा से खडे रहते हैं, फिर बेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुबेर आदिक कौन चीज हैं—उन्हें तो गिनता ही कौन है।

यद्यपि आप कह सकते हैं कि यहॉ, 'अपमान सहन करके भी भगवान के द्वार की सेवा करने और उनके कटाक्षपात की इच्छा आदि' से भगवान् के विषय मे ब्रह्मादिको का प्रेम अभिव्यक्त नहीं होता, किंतु 'भगवान् का ऐश्वर्य वचन और मन के द्वारा अवर्णनीय तथा अज्ञेय है' यही अभिव्यक्त होता है, तथापि यहॉ कवि का भगवद्विषयक प्रेम अभिव्यक्त होता है और उसका अनुभाव है उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन—यह स्पष्ट है। सो इसे देवताविषयक रति की ध्वनि का उदाहरण मानने मे कोई बाधा नही।

(पर यदि आप कहे कि यहाँ प्रधानतया ऐश्वर्य का ही वर्णन है, कवि की रति तो गौण है तो छोडिए झगडा) यह उदाहरण लीजिए—

न धनं न च राज्यसम्पदं न हि विद्यामिदमेकमर्थये ।
मयि धेहि मनागपि प्रभो ! करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम् ॥

× × × ×

ना धन, ना नृप-सपदा, ना विद्या की चाह ।
यही चहौ मो पै करहु करुनाभरी निगाह ॥

भक्त भगवान् से कहता है—मै न धन चाहता हूँ, न राज्य की सपत्ति चाहता हूँ और न विद्या ही चाहता हूँ। मै तो एक यही चाहता हूँ कि हे प्रभो—हे मेरे स्वामिन्—तू मेरे ऊपर, दया की रचना से लहराती हुई दृष्टि को, यदि अधिक न हो सके तो थोडी-सी ही, डाल दे ।

यहाँ धनादिक की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के कटाक्षपात की अभिलाषा उनके विषय मे उसके प्रेम को अभिव्यक्त करती है ।

इस तरह सक्षेप से भावो का निरूपण कर दिया गया है ।

भाव ३४ ही क्यों हैं ?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भावो की सख्या का नियम कैसे हो सकता है, वे ३४ ही क्यो हैं ? क्योकि काव्यादिको मे अनेक स्थलो पर मात्सर्य, उद्वेग, दभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य (कायरपन), क्षमा, कौतूहल, उत्कंठा, विनय (नम्रता), सशय और धृष्टता आदि भाव भी दिखाई देते रहते हैं, सो यह सख्या ठीक नहीं । इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त भावो मे ही उनका भी समावेश हो

जाता है, अतः उन्हे पृथक् गिनने की कोई आवश्यकता नहीं। यद्यपि वास्तव मे असूया से मात्सर्य का, त्रास से उद्वेग का, अवहित्थ से दंभ का, अमर्ष से ईर्ष्या का, मति से विवेक और निर्णय का, दैन्य से क्लैव्य का, धृति से क्षमा का, औत्सुक्य से कौतूहल और उत्कंठा का, लज्जा से विनय का, तर्क से सशय का और चपलता से धृष्टता का सूक्ष्म भेद है, तथापि ये भाव एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते—अर्थात् जहाँ असूया होगी वहाँ मात्सर्य अवश्य ही होगा—इत्यादि; अतः इन्हे उनसे पृथक् नहीं माना गया, क्योंकि जहाँ तक मुनि (भरत) के वचन का पालन हो सके, उच्छृखलता करना अनुचित है।

इन सचारी भावो मे से कुछ भाव ऐसे भी हैं, जो दूसरे भावो के विभाव और अनुभाव हो जाते हैं, जैसे ईर्ष्या निर्वेद का विभाव है और असूया का अनुभाव, चिंता*निद्रा का विभाव है और औत्सुक्य का अनुभाव इत्यादि स्वय सोच लेना चाहिए।

रसाभास

लक्षण-विचार

अच्छा, अब रसाभास की बात सुनिए। उसके लक्षण के विषय में कुछ विद्वानो का मत है—"अनुचित विभाव को आलबन मानकर यदि रति आदि का अनुभव किया जाय तो 'रसाभास' हो जाता है। रहा यह कि किस विभाव को अनुचित मानना चाहिए और किसको उचित, सो यह लोकव्यवहार से समझ लेना चाहिए। अर्थात् जिसके विषय में लोगो की यह बुद्धि है कि 'यह अयोग्य है', वही अनुचित है।"

---

* चिता को निद्रा का विभाव बताना कहाँ तक ठीक है, इसे सहृदय पुरुष सोच देखे।

—अनुवादक

पर दूसरे विद्वान् इस लक्षण को सुनकर चुप नहीं रहना चाहते। वे कहते हैं—इस लक्षण के द्वारा यद्यपि मुनिपत्नी आदि के विषय में जो रति आदि होते हैं उनका संग्रह हो जाता है, क्योकि इतर मनुष्य मुनि-पत्नी आदि को अपना प्रेमपात्र माने यह अनुचित है; तथापि अनेक नायको के विषय में होनेवाली और प्रियतम-प्रियतमा दोनो मे से केवल एक ही मे होनेवाली रति का इसमे संग्रह नहीं होता; क्योकि वहाँ विभाव तो अनुचित है नहीं, किंतु प्रेम अनुचित रूप से प्रवृत्त हुआ है, अतः 'अनुचित' विशेषण रति आदि के साथ लगाना उचित है। अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिए कि **"जहाँ रति आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हो वहाँ रसाभास होता है"**। इस तरह, जिसमे अनुचित विभाव आलबन हो, जो अनेक नायको के विषय मे हो और जो प्रियतम-प्रियतमा दोनों मे न रहती हो—केवल एकमे रहती हो उस रति का भी सग्रह हो जाता है। अनुचितता का ज्ञान तो इस मत मे भी पूर्ववत् (लोक-व्यवहार से) ही कर लेना चाहिए।

रसाभास रस ही है अथवा उससे भिन्न ?

रसाभासो के विषय मे एक और विचार है। कुछ विद्वानो का कथन है—"जहाँ रसादि के आभास होते हैं, वहाँ रस-आदि नहीं होते और जहाँ रस-आदि होते हैं वहाँ रसाभास-आदि नहीं होते, उन दोनो का साथ-साथ रहना नियम-विरुद्ध है, क्योंकि जो निर्मल हो—जिसमे अनुचितता न हो—उसी का नाम रस है, जैसे कि जो हेत्वाभास होता है वह हेतु नहीं होता।" दूसरे विद्वानो का कथन है—"अनुचित होने के कारण स्वरूपनाश नहीं हो सकता अर्थात् वह रस ही है, किंतु दोषयुक्त होने से उन्हें आभास कहा जाता है, जैसे कोई अश्व (घोड़ा) दोषयुक्त हो तो लोग उसे अश्वाभास कहते हैं।"

उदाहरण लीजिए—

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने ।
विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां
सनिःश्वासं श्लिष्यत्यहह ! सुकृती राजरमणीम् ॥

× × × ×

करि सैकरनि उपाय शिखर पै पहुँच्यो महलनि ।
सोई अम्रितफेन-सुच्छ सेज्जा रचि कुसुमनि ॥
चकितनयनि स्मितमुखी विरह-कृशतनु नृप-रमनिहि ।
भेंटत, धन्य, जगाइ, उसासनयुत, श्रम-शमनिहिं ॥

कवि कहता है—सैकडो उपाय करके, किसी प्रकार, महलो की चोटी पर पहुँचा और अमृत के झागो के समान निर्मल पुष्पो की सेज पर सोई हुई कृशागी को जगाया । उसने जगते ही इसे चकित नेत्रो से देखा और उसका मुखकमल खिल उठा । अहह ! इस अवस्था में स्थित राजागना को पुण्यवान् पुरुष, सॉस भरे हुए आलिगन कर रहा है ।

यहॉ जिससे प्रेम करना अनुचित है वह राजागना आलबन है । एकात और रात्रि का समय आदि उद्दीपन हैं । साहस करके राजा के जनाने मे जाना, प्राणो की परवा न करना, सॉस भर जाना और आलिगन करना आदि अनुभाव हैं एव शका-आदि सचारी भाव हैं । यहॉ प्रेम का आलबन जो राजागना है, वह लोक तथा शास्त्र के द्वारा निषिद्ध है, इस कारण रस आभासरूप हो गया है ।

यदि आप कहें कि यहॉ राज-रमणी के निषिद्ध होने के कारण रस आभास नहीं हुआ है, किंतु राजरमणी का जो 'चकितनयना' विशेषण

है उससे यह अभिव्यक्त होता है कि उसे पर पुरुष के स्पर्श से त्रास उत्पन्न हो गया है, और तब यह सिद्ध हो जाता है कि नायिका को कामी से प्रेम नही है, सो प्रेम के अनुभयनिष्ठ—अर्थात् केवल नायक मे—होने के कारण रस आभास हो गया है तो यह ठीक नही, क्योकि, यद्यपि नायिका बहुत समय से इस पर आसक्त है तथापि अतःपुर में पर पुरुष का जाना सर्वथा असंभव है, अतः 'यह मुझे कौन जगा रहा है' इत्यादि समझकर उसे त्रास होना उचित ही है। परतु उसके अनतर जब उसे उसका परिचय हुआ तो उसने सोचा कि 'यह मेरा वह प्रियतम, मेरे लिये प्राणो को तिनका समझकर—उनकी कुछ परवा न करके, यहाँ आया है' तब उसे हर्ष उत्पन्न हुआ। इसी हर्ष को अभिव्यक्त करता हुआ राजरमणी का 'स्मेरवदना' विशेषण उसके प्रेम को भी अभिव्यक्त करता है। परतु इस पद्य मे है नायक के प्रेम की ही प्रधानता, क्योकि पूरे वाक्य का अर्थ वही है—यह पद्य उसी के वर्णन मे लिखा गया है।

अच्छा, अब अनेक नायको के विषय मे प्रेम का उदाहरण सुनिए—

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव॥

× × × ×

विशत भवन, देखे गवन-आयसु चहत, दयाल।
बाल, तरुन-गन पै करी, नैन-नीरजनि माल॥

कवि कहता है—बालिका जब अपने घर मे घुसने लगी तो उसने देखा कि मार्ग मे युवा पुरुषो की एक टोली की टोली बिदाई के लिये किंचिन्मात्र आज्ञा प्राप्त करना चाहती है। करुणावती बालिका से न

रहा गया—उसने सब युवाओं के ऊपर एक ही साथ नेत्र-कमलो की माला गिरा दी—सभी को प्रेमभरी दृष्टि से देख लिया।

यहॉ, कोई-एक नायिका कही से आ रही थी, रास्ते मे उसके रूप-यौवन ने कुछ युवको का चित्त चुरा लिया और वे लगे उसके पीछे-पीछे चलने। नायिका जब घर मे घुसने लगी, तो उसने देखा कि बेचारे युवक अपनी सेवा की सफलता समझने के लिये, बिदाई की आज्ञारूपी लाभ के लिये, ललचा रहे हैं, और उसे उनका परम परिश्रम स्मरण हो आया—उसे याद आया कि बेचारे कब से पीछे-पीछे डोल रहे हैं, सो दया आ गई, तब नायिका ने उन पर नयन-कमलो की माला डाल दी। यह नयन-कमलो की माला डालना रूपी जो अनुभाव है उसके वर्णन से नायिका के प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और 'तरुणेषु' इस बहुवचन के कारण 'वह अनेको के विषय मे है' यह सूचित होता है, सो यह भी रसाभास है।

अच्छा, अब अनुभयनिष्ठा रति का उदाहरण भी सुनिए—

भुजपञ्जरे गृहीता नवपरिणीता वरेण वधूः।
तत्काल-जालपतिता बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥

× × × ×

नव दुलहिन भुज-पींजरे पकरी वर, बेहाल।
कॉपत, ज्यो बालक मृगी परी जाल ततकाल॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—नई ब्याही हुई दुलहिन को वर ने, भुजा-रूपी पींजरे मे पकड़ ली, सो वह बेचारी तत्काल जाल में पड़ी हुई हरिण की बच्ची की तरह कॉप रही है।

यहॉ नववधू को प्रेम का थोड़ा भी स्पर्श नही है, सो रति अनुभय-निष्ठ होने के कारण आभासरूप हो गई। जैसा कि कहा गया है—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयायां रतौ तथाऽनुभयनिष्ठायाम् ॥इति॥

अर्थात् जहाँ उपनायक (जार), मुनि और गुरु की स्त्री के विषय मे तथा अनेक नायको के विषय मे प्रेम हो, एवं स्त्री-पुरुष दोनो मे से एक को प्रेम हो और एक को नही (वहाँ रसाभास हुआ करता है)। यहाँ मुनि और गुरु शब्द उपलक्षणरूप से आए हैं, अतः इन शब्दो से राजादिको का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए।

अच्छा, अब बताइए, निम्न-लिखित पद्य में क्या व्यग्य है ?

व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः ।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः ॥

× × ×

परत पाडवन पै प्रथम द्रुपद सुता के मजु ।
अतिनत, चचल, विकसित रु अति व्याकुल दृग-कजु ॥

कवि कहता है कि—पाडवो के ऊपर, द्रौपदी की सबसे पहली दृष्टियाँ अत्यत नम्र, चचल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिर रही हैं।

"यहाँ नम्रता से युधिष्ठिर के विषय मे, धर्मात्मा होने के कारण भक्तियुक्त होने को, चचलता से, भीमसेन के विषय में, भारी डील-डौल होने के कारण, त्रास-युक्त होने को, विकसितता से, अर्जुन के विषय मे, अलौकिक वीरता सुनने के कारण, हर्षयुक्त होने को तथा अत्यत व्याकुल होने से, नकुल और सहदेव के विषय मे, परम सुदर होने के कारण, उत्सुकता को अभिव्यक्त करती हुई दृष्टियो के द्वारा द्रौपदी का अनेक नायको के विषय में प्रेम अभिव्यक्त होता है, इस कारण यहाँ रसाभास

ही व्यग्य है।" यह है नवीन विद्वानो का मत। पर प्राचीनो* का तो मत है कि "अविवाहित अनेक नायको के विषय मे होने पर ही रति आभासरूप होती है, अन्यथा नही, अतः यहाँ विवाहित नायको के विषय मे प्रेम होने के कारण रस ही है"।

विप्रलंभाभास

व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते
सर्वस्मिन् विदधाति किञ्च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम्।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा! हन्त!! लङ्केश्वरः॥

× × × ×

अटपट बोलत बैन छनहि, छन मौन रहत है।
सबहि वस्तु पै देत दीठि, पे कछु न गहत है॥
लेत साँस अति दीह, तनिक हु न धीरज धारत।
हा! लकेशहि जनकसुता-सौदर्य सँहारत॥

श्रीमती जनकनदिनी के सौंदर्य से ग्रस्त किया हुआ लकेश्वर-रावण बड़ा बेहाल हो रहा है। वह थोड़ी देर अटसट बालता है तो थोड़ी देर चुप हो जाता है। सब चीजो को देखता है, पर उसकी आँखे

---

* इस मत में अरुचि है, और उसका कारण यह है कि—जिस तरह अविवाहित अनेक नायकों से प्रेम अनुचित होता है, उसी प्रकार विवाहितों से भी। सो यहाँ विवाहित-अविवाहित का पचडा लगाना ठीक नहीं, और न लक्षण में ही विवाहित-अविवाहित के लिये पृथक् व्यवस्था की गई है। यह है नागेश का अभिप्राय।

कहीं जम नहीं पाती। वह लबी सास लिया करता है और उसके अगो मे तनिक भी धीरज नहीं है—कभी हाथ पटकता है कभी पैर, उससे थोड़ा भी शात नहीं रहा जाता।

यहॉ सीता के विषय मे जो लकेश का विरहावस्था का प्रेम है, सो अनुभयनिष्ठ—केवल रावण मे—होने के कारण और जगद्गुरु भगवान् रामचद्र की पत्नी के विषय में होने के कारण 'आभास' रूप है। उसे (प्रेम को) अटपट बोलने के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला उन्माद, चुप होने के द्वारा व्यक्त होनेवाला श्रम, आलबनरहित देखने से अभिव्यक्त होनेवाला मोह, लबे सॉसो के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली चिंता और अगो की अधीरता के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली व्याधि, ये सचारी भाव भी जगद्गुरु की पत्नी के विषय मे होने के कारण आभासरूप होकर, पुष्ट करते हैं, और उनके द्वारा पुष्ट की हुई आभास-रूप रति इस पद्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहे जाने का कारण है।

इसी तरह कलहशील कुपूत आदि के विषय में वर्णन किया जाने-वाला और वीतराग—अर्थात् ससार से प्रेम छोड़ देनेवाले—पुरुषो में वर्णन किया जानेवाला शोक, ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चडालादिको मे वर्णन किया जानेवाला निर्वेद, निंदनीय और कायर पुरुषो में तथा पिता प्रभृति के विषय में वर्णन किए जानेवाले क्रोध और उत्साह, बाजीगर आदि के विषय में वर्णन किया जानेवाले विस्मय, गुरुजन आदि के विषय मे वर्णन किया जानेवाला हास; महावीर में वर्णन किया जानेवाला भय और यज्ञ के पशु के चरबी, रुधिर और मास आदि के विषय मे वर्णन की जानेवाली जुगुप्सा 'रसाभास' होते हैं। विस्तार हो जाने के भय से हमने यहॉ इनके उदाहरण नही लिखे हैं, सुबुद्धि पुरुषों को चाहिए कि वे सोच निकाले।

भावाभास

इसी तरह जिनका विषय अनुचित होता है वे भाव 'भावाभास' कहलाते हैं। जैसे—

सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता
विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
नैवाऽपयाति हृदयादधिदेवतेव॥

× × ×

सबै विषय बिसरे, गई विद्या हू बिललात।
हिय ते वह अधिदेवि-सम हरिननैनि ना जात॥

सभी विषय विस्मरण के मार्ग मे पहुँच गए और विद्या भी खिन्न होकर विमुख हो गई, पर केवल वह हरिण के बच्चे के से नेत्रवाली, अधिदेवता के समान, मेरे हृदय से नही हट रही है—आज भी ज्यो की त्यो हृदय मे बसी है।

यह गुरुकुल मे विद्याभ्यास करते समय, गुरुजी की पुत्री के लावण्य से मोहित हुए पुरुष की अथवा जिसका गमन अत्यत निषिद्ध है उस स्त्री को स्मरण करते हुए अन्य किसी की—जब वह विदेश मे रहता था तब की—उक्ति है।

यहाँ माला, चदन आदि इद्रियो के भोग्य पदार्थों मे और बहुत समय तक सेवन की हुई विद्या मे—अपने को छोड़ देने के कारण—कृतघ्नता, और हरिणनयनी ने नहीं छोडा इस कारण उसकी अलौकिकता, व्यतिरेक (एक अलकार) रूप से अभिव्यक्त होती है। पर वे दोनो स्मृति को ही पुष्ट करती हैं, सो 'स्मृति-भाव' ही प्रधान है। इसी प्रकार

न छोडने मे भी जो सार्वदिकता (सब समय रहना) है, उसे अभि-व्यक्त करनेवाली अधिदेवता* की उपमा भी उसी को पुष्ट करती है।

यह स्मृति अनुचित (गुरुकन्या अथवा वैसी ही अन्य) के विषय मे होने के कारण और अनुभयनिष्ठ होने—अर्थात् केवल नायक से सबध रखने—के कारण 'भावाभास' है। पर, यदि यह माना जाय कि यह उस (हरिणनयनी) के वर की ही उक्ति है तो यह पद्य 'भावध्वनि' ही है, यह समझना चाहिए।

भावशांति

जिनके स्वरूप पहले वर्णन किए जा चुके है, उन भावो में से किसी भी भाव के नाश को 'भावशांति' कहते हैं। पर, वह नाश उत्पत्ति के समय का ही होना चाहिए—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिए, उसके काम कर चुकने के बाद का नहीं, क्योकि सहृदय पुरुषो को ऐसी ही भावशान्ति चमत्कृत करती है। उदाहरण लीजिए—

मुञ्चसि नाद्यापि रुषं भामिनि! मुदिरालिरुदियाय।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः॥

× × × ×

"भामिनि! अजहु न तजसि तू रिस उनई घन-पाँति।"
गयो सुतनु-दृग-कोन-रँग सुनि पिय-बच इहि भाँति॥

'हे कोपने! तू अब भी रोष नहीं छोड़ती, देख तो, मेघो की माला उदय हो आई है' इस तरह पति के वचनो ने, कृशागी के नेत्र-

* शास्त्रीय सिद्धांत है कि प्रत्येक वस्तु में एक अधिदेवता रहता है, और वह उसे कभी नही छोडता।

कमल के कोने मे जो अरुणकाति थी, उसे पी डाला—वह उत्पन्न होते-होते ही उड गई।

यहाँ प्यारे के पूर्वोक्त वचन का सुनना विभाव है, नेत्र के कोने में उत्पन्न हुई ललाई का नाश, अथवा उसके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली प्रसन्नता, अनुभाव है और इनके द्वारा उत्पत्ति के समय मे ही रोष का नष्ट हो जाना व्यग्य है।

भावोदय

इसी तरह भाव की उत्पत्ति को भावोदय कहते है। उदाहरण लीजिए—

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनीहारलक्ष्म दयितस्य भामिनो।
अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम्॥

× × ×

देखि भामिनी दयित उर हारचिन्ह दुख-मूरि।
गल लिपटी निज-भुजलता कीन्हो छिन में दूरि॥

क्रोधिनी नायिका ने, प्यारे की छाती पर, सौत के हार का चिह्न देखते ही, जो बाहु-लता कधे के चारो ओर लिपट रही थी, उसे तत्काल खीच लिया।

यहाँ भी 'प्यारे के वक्षःस्थल पर सौत के हार का चिह्न दीखना' विभाव है और 'उसके कधे पर से लिपटी हुई भुजलता का खीच लेना' अनुभाव है। इनसे रोषभाव का उदय व्यग्य है।

यद्यपि भावशाति मे किसी दूसरे भाव का उदय और भावोदय में किसी पूर्व भाव की शाति आवश्यक है, तात्पर्य यह कि भावशाति और भावोदय एक दूसरे के साथ नियत रूप से रहते हैं, अतः इन दोनो

के व्यवहार का विषय पृथक्-पृथक् नहीं हो सकता। तथापि एक ही स्थल पर दोनो तो चमत्कारी हो नहीं सकते, और व्यवहार है चमत्कार के अधीन---अर्थात् जो चमत्कारी होगा उसी की ध्वनि वहाँ कही जायगी, अतः दोनो के विषय का विभाग हो जाता है—चमत्कार के अनुसार उनको पृथक्-पृथक् समझा जा सकता है।

भावसंधि

इसी तरह, एक दूसरे से दबे हुए न हो, पर एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हो, ऐसे दो भावो के एक स्थान पर रहने का 'भाव-सधि' कहते है। उदाहरण लीजिए—

यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे जानकीनयननीरजश्रियः॥

× × ×

जोबन - उदगम ते सु अहैं जे अतिसै शकित।
शील, शौर्य, बल, काति देखि पुनि जे हैं लोभित॥
ते मिथिलाधिपसुता - नयनकमलनि की शोभा।
सँकुचत विकसत निरखि रामतन लहि-लहि छोभा॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है—यौवन के उत्पन्न हो जाने के कारण अत्यत शकायुक्त और सच्चरित्रता, शूरवीरता, बल और काति के कारण लोभयुक्त श्रीजनकनदिनी के नेत्र कमलो की शोभाएँ, श्री रघुवर के विषय मे, सकुचित और विकसित हो रही हैं।

यहाँ भगवान् रामचद्र के अदर ससार भर से श्रेष्ठ यौवन की उत्पत्ति का एव वैसी ही सच्चरित्रता, शूरवीरता आदि का देखना विभाव है, तथा नेत्रो के सकोच और विकास अनुभाव हैं, और, इनके द्वारा लज्जा और औत्सुक्य नामक भावो की सधि व्यग्य है।

भावशबलता

एक-दूसरे के साथ बाध्य-बाधकता का संबंध रखनेवाले अथवा उदासीन रहनेवाले भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं। मिश्रण शब्द का अर्थ यह है कि अपने अपने वाक्य मे पृथक्-पृथक् रहने पर भी, महावाक्य का जो चमत्कारोत्पादक एक बोध होता है, उसमे सबका अनुभूत हो जाना। उदाहरण लीजिए—

पापं हन्त ! मया हतेन विहितं सीताऽपि यद्यापिता
सा मामिन्दुमुखी विना बत ! वने किं जीवितं धास्यति।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां कि ते वदिष्यन्ति माम्,
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदम्, न प्राणितं कामये॥

× × × ×

जो सीतहिं मै मृतक तजी हा ! कियो पाप यह।
मो विन वन में कहा जिएगी विधुवदनी वह॥
किमि सज्जन-मुख नैन यहै मम देखि सकेंगे।
अँगुरिन मोहिं दिखाय हाय ! वे कहा कहेंगे॥
जाय राज्य पाताल यह मोहिं न याकी चाह है।
प्रान हु करैं पयान मुहि इनकी ना परवाह है॥

सीता को वनवास देने के अनतर भगवान् राय कहते हैं—अरे! मुझ मृतक ने सीता को भी (जो पतिव्रताओं में प्रधान है) निकाल दिया—यह पाप किया है, हाय! क्या वह चद्रवदनी मेरे बिना जगल में जी सकती है! मै भले मानुसो का मुँह कैसे देखूँ! वे मुझे क्या कहेंगे! यह राज्य रसातल मे जाय, मै जीना नहीं चाहता!

यहाँ 'अरे! मुझ मृतक ने' इस 'वाक्य खड' से असूया, 'सीता को भी निकाल दिया' इससे विषाद, 'यह पाप किया है' इससे मति, 'वह

चद्रवदनी' इससे **स्मृति**, 'क्या मेरे बिना जी सकती है !' इससे **वितर्क**, 'मै भले मानुसो का मुँह कैसे देखूँ !' इससे **लज्जा**, 'वे मुझे क्या कहेंगे' इससे **शंका**, और 'यह राज्य रसातल मे जाय, मैं जीना नहीं चाहता !' इससे **निर्वेद**, ये भाव पूर्वोक्त विभावो के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं और उनकी यहाँ शबलता हो गई है।

शबलता के विषय में विचार

काव्यप्रकाश की टीका लिखनेवालो ने जो यह लिखा है कि "उत्तरोत्तर भाव से पूर्व-पूर्व भाव के उपमर्द (दबा दिए जाने) का नाम शबलता है", सो ठीक नही, क्योकि

"पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी,
हस्तालब वितर हहहा ! व्युत्क्रमः कासि यासि।"

इस पद्य मे शका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औत्सुक्य भाव, यद्यपि एक दूसरे का लेशमात्र भी उपमर्द नहीं करते—परस्पर किंचिन्मात्र भी नहीं दबते-दबाते—तथापि स्वय काव्यप्रकाशकार ने ही, पाँचवे उल्लास मे, इन सबकी शबलता को राजा की स्तुति मे गुणीभूत बतलाया है। यदि आप कहे कि—"अनतरभावी विशेषगुण से पूर्वभावी विशेष-गुण का नाश हो जाया करता है" यह नियम है, (और चित्तवृत्तिरूप भावो का, नैयायिको के सिद्धातानुसार इच्छा आदि विशेष गुण मे समावेश होता है) अत. बिना पूर्वभाव का नाश हुए उत्तर भाव उत्पन्न ही नही हो सकता, सो आपका कहना ठीक नहीं। तो हम कहेंगे कि—आप जिसकी बात कर रहे हैं, वह नाश न तो व्य य होता है, न उसका नाम उपमर्द है, न चमत्कारी ही है कि उसे व्यग्यो के भेदो मे पृथक् गिना जाय। इस कारण यो मानना चाहिए कि—

नारिकेलजलक्षीरसिताकदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो भावानां संहतौ तथा॥

अर्थात् जिस तरह नारियल के जल, दूध, मिश्री और केलो के मिश्रण मे विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार भावो के मिश्रण मे भी होता है। तात्पर्य यह कि—जैसे पूर्वोक्त नरियल के जल आदि पदार्थ, मिलने पर, एक दूसरे का स्वाद नष्ट नही करते, किंतु सब मिलकर, अपना-अपना स्वाद देते हुए भी, एक नया स्वाद उत्पन्न कर देते हैं, उसी तरह भाव भी अपना अपना आस्वादन करवाते हुए भी एक नया आस्वादन उत्पन्न कर देते हैं। अतः 'पूर्व-पूर्व भाव के नाश' का यहा प्रश्न ही नही उठता।

भावशांति आदि की ध्वनियों में भाव प्रधान होते हैं, अथवा शांति-आदि ?

यहॉ यह समझ लेने का है कि जो ये जो भावशाति, भावोदय, भावसधि और भावशबलता की ध्वनियॉ उदाहरणो मे दी गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियॉ ही हैं। जिस तरह विद्यमानता की अवस्था मे भावो का आस्वादन किया जाने पर अवस्था का प्राधान्य नही, किंतु भावो का प्राधान्य माना जाता है, इसी प्रकार उत्पन्न होते हुए, विनाश होते हुए, एक दूसरे से सटते हुए और एक साथ रहते हुए आस्वादन किए जाने पर भी भावा की ही प्रधानता उचित है, क्योकि चमत्कार का विश्राम वही (भाव-की चर्वणा में ही) जाकर होता है, केवल अवस्थामात्र मे नहीं। यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, सधि और शबलता का तथा उनसे संबध रखने-वाले भावो का—दोनो का—आस्वादन समानरूप मे होता है, अतः कौन प्रधान है और कौन अप्रधान यह नही समझा जा सकता, तथापि जब स्थिति की अवस्था मे भावो की प्रधानता मानी जा चुकी है, तब भावशाति-आदि में भी जिनके शाति-आदि हैं उन अभिव्यक्त होनेवाले भावों में ही प्रधानता की कल्पना करना उचित है। और यदि यह

स्वीकार करोगे कि भावशांति-आदि मे भाव प्रधान नहीं हैं, किंतु गौण हैं और शाति आदि प्रधान हैं तो जिन काव्यो मे भाव व्यग्य होते हैं और शाति-आदि वाच्य होते हैं उनको आप भावशाति-आदि की ध्वनियॉ नही कह सकते। जैसे कि--

उषसि प्रतिपक्षनायिकासदनादन्तिकमश्चति प्रिये ।
सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः ।।

× × × ×

सौति-सदन ते निजनिकट पिय आए लखि प्रात ।
सुतनु-नयन कोननि उदे भई तुरत दुति रात ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—विरोधिनी नायिका (सौत) के घर से, सबेरे के समय, जब प्रियतम अपने घर आए, तो सुनयनी नायिका के नयनकमलो के कोनो मे झट अरुण काति उदय हो आई। यहॉ मूल मे 'उदियाय' शब्द के द्वारा भाव के उदय की प्रतीति वाच्यरूप से ही कराई जा रही है।

पर यदि आप कहे कि उदय के वाच्य होने पर भी भाव के वाच्य न होने के कारण इस काव्य को ध्वनि मानने मे कोई बाधा नहीं तो हम कह सकते हैं कि आपके हिसाब से जो प्रधान है उदय, वह जब काव्य को ध्वनि कहलवाने की योग्यता नहीं रखता, तब अप्रधान (भाव) के कारण काव्य को ध्वनि कहना कैसे बन सकता है? पर हमारे मत मे तो उत्पत्ति के वाच्य होने पर भी जो उत्पत्ति से व्याप्त अमर्ष-भाव प्रधान है, उसके वाच्य न होने के कारण, इस पद्य को 'भावोदयध्वनि' कहना उचित ही है।

इसी तरह आपके मत मे भाव ध्वनित होता हो और शाति वाच्य हो तो वहॉ भी भावशाति की ध्वनि न होगी। जैसे—

क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति प्रिये ।
शेमुः सरोजनयनानयनारुणकान्तयः ॥

× × × ×

छमा-करावन-मुख्य-थल चरन परे जब कांत ।
कमलनयनि के नयन की अरुन कांति भइ शांत ॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—क्षमा करवाने के सर्व प्रधान स्थान चरणो पर पति के गिरते ही कमलनयनी के नेत्रो की अरुण कांतियाँ शात हो गईं ।

यदि आप कहे कि—इन पद्यो मे, शब्दो के द्वारा वाच्य जो शांति आदि हैं, उनका अन्वय अरुणकांति के साथ ही है, अमर्ष-आदि भावो के साथ तो है नही, अतः यहाँ अरुणकांति के शांति-आदि ही वाच्य हुए, न कि उनसे अभिव्यक्त होनेवाले रोषशांति आदि । कारण, व्यंग्य और व्यंजक दोनो पृथक्-पृथक् होते हैं—यह तो अवश्य मानना पडेगा, सो यहाँ अरुणकांति की शांति के वाच्य होने पर भी रोष की शांति व्यंग्य ही रही, क्योकि अरुणकांति की शांति व्यंजक है और रोष की शांति व्यंग्य । यदि हम कहे कि—अरुणता के द्वारा व्यंग्य जो रोष है उसी का वाच्य शांति आदि के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यंग्य का ही वाच्य के साथ अन्वय मान लेते हैं । तो आप कहेंगे यह उचित नहीं, क्योकि यह सिद्ध है कि पहले वाच्य की प्रतीति होती है, फिर व्यंग्य की, तब यह मानना पडेगा कि—जिस समय वाच्यो का अन्वय होगा उस समय व्यंग्य उपस्थित ही नही हो सकता, फिर बताइए वाच्यो के साथ व्यंग्यो का अन्वय कैसा ? दूसरे, यदि ऐसा ही मानो तो प्रथम-पद्य (उषसि .) मे 'सुनयनी के नयन-कमलो में' इस वाक्यखंड का अन्वय नही हो सकता, क्योकि अमर्ष तो

चित्तवृत्तिरूप है, वह ऑखो मे आवेगा कहॉ से ? अतः उन वाच्य शाति आदि का अरुणकाति आदि के साथ ही अन्वय मानना ठीक है, सो इन पद्यो मे भावशाति-आदि वाच्य नही हो सकती। पर ऐसा न कहिए। क्योकि ऐसा मानने पर भी—

निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः।
चिरापराधस्मृतिमांसलोपि रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव॥

× × ×

स्मृति ते अतिबल भई सुचिर अपराधनि गन की।
कीन्ही जाने परम विवशता निज तन-मन की॥
सो रिस मिस-सो कीन्ह भई पाहुनि इक छन की।
जुवतिन धीरज-हरनि निरखि शोभा हरि-तन की॥

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—स्त्रियो के धैर्य को बलात् निकाल फेकती हुई भगवान् कृष्णचद्र की शोभा मृगनयनी ने ज्योंहीं पान की, त्योंही बहुत समय के अपराधों के स्मरण के कारण अत्यंत प्रबल हुआ भी रोष एक क्षण भर का पाहुना हो गया—उसका थोड़ा भी साहस न हुआ कि कुछ तो ठहरे।

इत्यादिक पद्य भी भावशाति की ध्वनियॉ होने लगेंगे, क्योंकि यहॉ यद्यपि रोष भाव वाच्य है, तथापि आपके हिसाब से जो प्रधान है, वह शाति "क्षण भर का पाहुना हुआ" इस अर्थ से व्यग्य है।

अब यदि आप कहे कि भाव और शाति दोनों का व्यग्य होना अपेक्षित है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त दोनो पद्यो में शाति रूप से शाति (फिर वह रोष की हो चाहे अरुण काति की) और इसी तरह उदय रूप से उदय (फिर वह अमर्ष का हो चाहे अरुण काति का) वाच्य हो गए हैं, अतः वे पद्य उन दोनो ध्वनियो के उदा-

हरण न हो सकेगे। और इस बात को स्वीकार कर लेना—कह देना कि हम तो इन्हे भावशाति और भावोदय की ध्वनियाँ मानते ही नहीं, सहृदयो के लिये अनुचित है। अतः यह सिद्ध होता है कि भावशाति आदि मे भी प्रधानतया भाव ही चमत्कारी होते हैं, शाति आदि तो गौण होते हैं, सो उनका वाच्य होना दोष नही।

हॉ, भावो की ध्वनियो से भावशाति आदि की ध्वनियो के चमत्कार की विलक्षणता मे मुख्य कारण यह है कि भाव-ध्वनियो मे भावो का स्थिति के साथ अमर्ष आदि के रूप मे अथवा केवल अमर्ष आदि के रूप मे ही आस्वादन होता है, पर भावशाति आदि की ध्वनियो मे भावो के साथ शाति-आदि की अवस्थावाले होने का भी आस्वादन होता है।

रसों की शांति आदि की ध्वनियाँ क्यों नहीं होतीं!

रसो मे तो शाति आदि होते ही नही, क्योकि उनका मूल है स्थायी भाव, और यदि उसकी भी उत्पत्ति और शाति होने लगे तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो जाय, उसमे और साधारण भावो मे भेद ही क्या रहे? पर यदि कहो कि स्थायी भाव की भी अभिव्यक्ति के तो नाश आदि होते हैं, बस, उनको ही उसके शाति आदि मान लेगे, सो उसमे कुछ चमत्कार नही, क्योंकि अभिव्यक्ति के नाश के उपरात रहेगा ही क्या! इस कारण उसका यहॉ विचार नही किया जा रहा है।

रस-भाव-आदि अलक्ष्यक्रम ही हैं अथवा लक्ष्यक्रम भी?

यह जो पूर्वोक्त रति-आदि व्यंग्यो का प्रपच है, वह जहॉ प्रकरण स्पष्ट हो वहॉ, जो पुरुष अत्यत सहृदय है उसे तत्काल विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो का ज्ञान हो जाता है, और उसके होते ही

बहुत ही थोडे समय मे प्रतीत हो जाता है, अतः अनुभवकर्त्ता को कारण और कार्य की पूर्वापरता का क्रम नही दिखाई पड़ता, सो इसे 'अलक्ष्य-क्रम' कहा जाता है।

पर, जहाँ प्रकरण विचार करने के अनंतर ज्ञात होता हो और जहाँ प्रकरण के स्पष्ट होने पर भी विभावादिको की तर्कना करनी पड़े, वहाँ सामग्री के विलब के अधीन होने के कारण चमत्कार मे कुछ मदापन आ जाता है, वह धीरे धीरे प्रतीत होता है, सो वहाँ यह रति-आदि व्यग्य-समूह सलक्ष्यक्रम भी होता है। जैसे—"तल्पगताऽपि च सुतनुः · ··" इस पद्य मे, जो कि पहले उदाहरण मे आ चुका है, 'संप्रति' इसके अर्थ का ज्ञान विलब से होता है। सो उन्हे संलक्ष्यक्रम व्यग्य भी मानने में कोई बाधा नहीं। और यह भी नहीं है कि रति आदि को ध्वनियाँ जिस प्रमाण से ग्रहण की जाती हैं, उस प्रमाण से उनकी असलक्ष्यक्रमव्यग्यता सिद्ध होती हो, जिससे कि हमे उन्हे असलक्ष्यक्रम व्यग्य मानने के लिये बाध्य होना पडे। तात्पर्य यह कि वे सलक्ष्यक्रम व्यग्य होते ही न हो, सा बात नही है। अतएव लक्ष्य-क्रमो के प्रसग मे आनन्दवर्धनाचार्य (ध्वन्यालोककार) का यह कथन है कि—

"एववादिनि* देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

---

* यह पद्य 'कुमारसभव' का है। इसका पूर्व प्रसग और अर्थ यो है। पार्वती देवी की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने उन्हे वरण करने के लिये वरदान दिया और उसका परिपालन करने के लिये उन्होंने महर्षि नारद को पार्वती के पिता पर्वतराज हिमालय के पास भेजा। जब वे उससे विवाह-प्रसग की बात कर रहे थे, उस समय की कवि की उक्ति है कि—नारदजी ने पिताजी के पास इस तरह

इस पद्य मे बालिकाओ के स्वभाव के अनुसार भी मुख की नम्रता सहित खेलने के कमलो के पत्रो का गिनना सिद्ध हो सकता है, अतः, थोडे विलंब से, जब नारदजी के किए हुए विवाह के प्रसग का ज्ञान होता है, तब, पीछे से, लज्जा का चमत्कार होता है, सो यह (लज्जा-की) ध्वनि (अभिव्यक्ति) लक्ष्यक्रम है।" और अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्यालोक की टीका लोचन के कर्ता) का भी यह कथन है कि "रस भाव आदि पदार्थ ध्वनित ही होते हैं, कभी वाच्य नहीं होते, तथापि सभी अलक्ष्यक्रम का विषय नहीं हैं—अर्थात् वे सलक्ष्यक्रम भी हैं।"

पर, यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि ये रसादिक सलक्ष्यक्रम भी हों तो अनुरणनात्मक ध्वनियो के भेदो के प्रसग मे "अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं"। यह अभिनवगुप्त की उक्ति और "सो यह बारह प्रकार का है" यह मम्मट भट्ट की उक्ति असगत हो जायगी। क्योकि व्यजक अर्थ दो प्रकार का होता है—एक वस्तुरूप, दूसरा अलकाररूप। और उनमे से प्रत्येक स्वतःसभवी (अर्थात् ससार में उपलब्ध हो सकनेवाला), कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविकल्पित कथन मात्र से सिद्ध) और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कवि ने जिसका अपने ग्रंथ में वर्णन किया है उस वक्ता की प्रौढोक्ति मात्र से सिद्ध) इन तीन-तीन उपाधियो से युक्त होते हैं, अतः जिस तरह व्यग्य वस्तु और अलकार ६-६ रूपो मे अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार रसादिक भी ६ रूपो में अभिव्यक्त होगे, और इस तरह पूर्वोक्त भेद, बारह की जगह अठारह होने चाहिएँ।

बात की, तो पार्वती नीचा मुँह करके खेलने के कमल के पत्रों को गिनने लगीं।

इसका प्रत्युत्तर यह है कि अभिनवगुप्तादिकों के अभिप्राय का इस तरह वर्णन कर दो कि स्पष्ट प्रतीत होनेवाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के परिज्ञान होने के अनंतर, क्रम का ज्ञान न होकर, जिस रति-आदि स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है, वही रस-रूप बनता है, क्रम के लक्षित होने पर नहीं, क्योंकि रसरूप होने का अर्थ ही यह है कि स्थायी भाव का झट से उत्पन्न होनेवाले अलौकिक चमत्कार का विषय बन जाना, यह नहीं कि धीरे धीरे समझने के बाद उसमें अलौकिक चमत्कार का उत्पन्न हो जाना। अतः जिस रति-आदि की प्रतीति का क्रम लक्षित हो जाता है, उसे वस्तु-मात्र—अर्थात् केवल रति आदि ही—कहना चाहिए, रसादिक नहीं। सो उनकी उक्तियों का विरोध नहीं रहता। (तात्पर्य यह कि इस तरह रस-आदि के छः भेद भी वस्तु के ही अंतर्गत हो जाते हैं, सो अठारह भेद लिखने की आवश्यकता नही रहती।)

पर, इस बात को सिद्ध करने के लिये कि 'अलक्ष्यक्रम होने पर ही रस मानना चाहिए और लक्ष्यक्रम होने पर नहीं': युक्ति विचारने की आवश्यकता है। अर्थात् इस कथन में कोई युक्ति नहीं है, अतः संलक्ष्यक्रम होने पर भी रस मानने में कोई बाधा नहीं*।

---

* यहाँ भी नागेश भट्ट की टिप्पणी है, और मार्मिक है। वे कहते हैं कि विभाव आदि की प्रतीति और रस की प्रतीति में जो सूक्ष्मकाल का अंतर होता है, जिसे कि क्रम कहा जाता है, उसकी यदि सहृदय पुरुष को प्रतीति हो जावे, तो विभावादिकों के और रस के पृथक्-पृथक् प्रतीत होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय भी विभावादिकों की प्रतीति पृथक् रहेगी, और इस तरह विगलितवेद्यान्तरता—अर्थात् रस के ज्ञान के समय दूसरे ज्ञातव्य पदार्थों का न रहना—नही बन सकती। और जब तक वह न बने, तब तक उसे रस कहा ही नही जा सकता।

रहा पूर्वोक्त अभिनवगुप्त का वाक्य, सो उसमे जो 'रस, भाव आदि' अर्थ लिखा है, वहाँ 'रस आदि' शब्द का अर्थ 'रति आदि' समझना चाहिए, वास्तविक रस नही।

रही, रस की विगलितवेद्यांतरता, सो वह तो सभी सहृदयो को समत है, अत आप (पडितराज) को भी है ही। सो इस बात में साधकयुक्ति है, फिर इसे युक्तिरहित कहना ठीक नही। यह तो है प्राचीन विद्वानों की रीति से समाधान।

अब नवीन विद्वानो का समाधान सुनिए। वे कहते है कि—कोई पद अथवा पदार्थ वक्ता आदि की विशेषता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही व्यंजक हो सकता है, अत· यह सिद्ध होता है कि उनके सहित ही विभावादिको का ज्ञान होने के अनतर रस की प्रतीति होती है, और विभाव-आदि के ज्ञान तथा रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम रहता है, उसके न दिखाई देने के कारण अलक्ष्यक्रम कहा जाता है। अब सोचिए कि यदि प्रकरण आदि के ज्ञान का विलब होने से विभाव-आदि के ज्ञान में विलब हो भी जाय, तथापि, पूर्वोक्त उदाहरण में, अलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नही होती, क्योकि विभावादिको के ज्ञान और उसके उत्पन्न करनेवाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर अलक्ष्यक्रमता नही मानी जाती, किंतु विभावादिकों के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले रस-आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी जाती है। इसी अभिप्राय के अनुसार "अर्थशक्तिमूलक के १२ भेद होते हैं" इस अभिनवगुप्त की उक्ति को और विभावादिकों के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की अपेक्षा से क्रम भी ग्रहण किया जा सकता है, सो लक्ष्यक्रम होने को उक्ति को—दोनो को—किसी तरह ठीक कर लेना चाहिए। सहृदयों का अनुभव इस बात की साक्षी नही देता कि विभावादि की प्रतीति के अतिरिक्त अन्य किसी वाच्यार्थ की प्रतीति होने पर भी विग-

ध्वनियों के व्यंजक

सो इस तरह यह जो रस-आदि ध्वनियो का प्रपञ्च निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदो, वर्णों, रचनाओ, वाक्यो; प्रबधो (ग्रथो) और पद के अशो एव जो अक्षररूप नहीं हैं उन रागादिको के द्वारा भी निरूपण की जाती है। उनमे से प्रत्येक का विवरण सुनिए--

पदध्वनि

यद्यपि वाक्य के अतर्गत जितने पद होते हैं वे सभी अपने-अपने अर्थ को उपस्थित करके, समान रूप से ही, वाक्यार्थ के ज्ञान का साधन होते हैं, तथापि उनमे से कोई एक ही पद काम कर जानेवाला अतएव चमत्कारी होता है कि जिसके कारण वाक्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहा जा सके। जैसे—"मन्दमाक्षिपति" अथवा "हरुए रही उठाय" इसमे "मदम्" अथवा "हरुए" शब्द।

वर्णध्वनि तथा रचनाध्वनि

रचना और अक्षर, यद्यपि पदो और वाक्यो के अतर्गत होकर ही व्यजक होते हैं, क्योकि रचना और अक्षरमात्र पृथक् तो व्यजक पाए नही जाते, अतः यह कहा जा सकता है कि वैसी रचना और वर्ण से युक्त पद और वाक्य व्यजक होते हैं सो उनकी व्यजकता में जो पदार्थ विशेष रूप से रहनेवाले हैं, उन्ही मे इनका भी प्रवेश हो जाता है, अतः

लितवेद्यातरता हो जाय, कि जिससे वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम का ज्ञान होने पर भी रसत्व नष्ट हो जाय। तात्पर्य यह कि विगलित-वेद्यातरता विभावादि की प्रतीति और रस की प्रतीति का क्रम न जानने पर हो जाती है, वाच्यार्थ और विभावादि के क्रम से उससे कुछ संबन्ध नही।

इन्हें स्वतंत्ररूप से व्यजक मानने की आवश्यकता नहीं रहती, तथापि पदो और वाक्यो से युक्त रचना और वर्ण व्यजक है अथवा रचना और वर्णसे युक्त पद और वाक्य, इन दोनो मे से एक बात को प्रमाणित करने के लिये कोई साधन नहीं है, इस कारण प्रत्येक की व्यजकता सिद्ध हो जाती है। जैसे कि घडे का कारण चाकसहित डडा माना जाय अथवा डडासहित चाक, इतमे से जब एक बात को सिद्ध करनेके लिये कोई प्रमाण नही है, तब—चाक और उसे फिराने का डडा—दोनो पृथक् पृथक् कारण मान लिए जाते हैं। सो वर्ण और रचना को भी पृथक् व्यजक मानना अनुचित नही। यह तो है प्राचीन विद्वानो का मत।

परतु नवीन विद्वानो का उनसे मतभेद है। वे कहते हैं कि—वर्ण और उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की वैदर्भी-आदि रचनाएँ माधुर्य-आदि गुणो को ही अभिव्यक्त करती हैं, रसो को नहीं, क्योकि ऐसा मानने मे एक तो व्यर्थ ही रसादिको के व्यजकों की सख्या बढती है, दूसरे, इसमे कोई प्रमाण भी नही। पर, यदि आप कहो कि माधुर्य आदि गुण रसो मे रहते हैं, अतः उन्हें अभिव्यक्त किए बिना केवल गुणो की अभिव्यक्ति कैसे की जा सकती है? सो ठीक नही, क्योकि बिना गुणी की अभिव्यक्ति के गुणो की अभिव्यक्ति न होती हो—यह कोई नियम नही है। देखिए, इस नियम का नासिका-आदि तीन इद्रियो में भग हो गया है। वे गध-आदि गुणो को अभिव्यक्त करती हैं, पर उन गुणो से युक्त पृथिवी-आदि पदार्थों को नही। अर्थात् नाक से पृथिवी का अनुभव नहीं होता, केवल गध का ही होता है इत्यादि। इस तरह यह सिद्ध होता है कि गुणी, गुण और इनके अतिरिक्त अन्य तटस्थ पदार्थों को अपने-अपने अभिव्यजक उपस्थित करते हैं, फिर वे कभी परस्पर समिलित रूप से और कभी उदासीन रूप से उन-उन ज्ञानो (दर्शन-

श्रवणादिको) के विषय हो जाते हैं, वैसे ही रस और उनके गुण भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं—अर्थात् वे पृथक्-पृथक् व्यंजको से उपस्थित किए जाते हैं, और फिर कभी सम्मिलित रूप से तथा कभी उदासीन रूप से ग्रहण किए जाते हैं। साराश यह कि नवीनो के मतानुसार वर्णों और रचनाओ को रसो का व्यजक मानना ठीक नहीं, उन्हे केवल गुणो का व्यजक मानना चाहिए।

वर्णो और रचनाओ की व्यजकता का उदाहरण "तां तमालतरुकान्तिलङ्घिनीम्···" इत्यादि पहले बता ही चुके हैं।

वाक्यध्वनि

वाक्यो की व्यजकता का उदाहरण भी "आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी......" इत्यादि दिखाया जा चुका है।

प्रबधध्वनि

अब प्रबंधो—अर्थात् ग्रथो—की व्यजकता के विषय मे सुनिए। शातरस का उदाहरण है 'योगवासिष्ठ' एव करुण-रस का उदाहरण है 'रामायण' और 'रत्नावली' आदि तो शृगार के व्यजक होने के कारण प्रसिद्ध ही हैं। रहे भाव के उदाहरण, सो उनमे मेरी (पडितराज की) बनाई हुई 'गगा-लहरी' आदि पॉच लहरियॉ हैं।

पदैकदेशध्वनि

पदो के अशो की व्यजकता का उदाहरण, जैसे पूर्वोक्त 'निखिलमिद जगदण्डक वहामि" इस पद्याश मे अल्पार्थक 'क' रूपी तद्धित-प्रत्यय वीर-रस का अभिव्यञ्जक है। अर्थात् उस प्रत्यय से वाक्य का यह तात्पर्य हो गया कि यह छोटा सा जगत् का गोला क्या चीज है, जिससे वक्ता का उत्साह जो वीररस का स्थायी भाव है, प्रतीत होता है। इसी तरह रागादिको की भी व्यंजकता मे सहृदयो

का हृदय ही प्रमाण है। अर्थात् यदि सहृदयो का अनुभव है तो उसे भी स्वीकार करना चाहिए।

इस तरह इन रसादिको के प्रधान होने पर उदाहरण निरूपण कर दिए गए हैं। जब ये गौण हो जाते हैं, तब उनके उदाहरण और नाम (रसवान् आदि) वर्णन किए जायँगे।*

एक विचार

इस विषय में भी विद्वानो का मतभेद है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि—"जब ये रसादिक प्रधान होते हैं, तभी इनको रसादिक कहना चाहिए, अन्यथा रति आदि ही कहना चाहिए। सो गौणता की अवस्था मे, 'रसवान्' नाम मे जो रस शब्द है, उसका अर्थ रति आदि ही है, 'शृगार' आदि नही।"

दूसरे विद्वानो का कथन है कि "रसादिक तो वे भी हैं, पर उनके कारण उन काव्यो को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) नही कहा जा सकता।"

---

* खेद है कि पडितराज अपनी इस प्रतिज्ञा को पूर्ण न कर सके। उनका ग्रंथ अपूर्ण ही प्राप्त होता है और उसमें यह प्रकरण नहीं आ सका।

—अनुवादक

द्वितीय आनन

संलक्ष्य-क्रम ध्वनि*

[प्रथम आनन मे यह बात लिखी जा चुकी है कि—व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं, (१) 'सलक्ष्य-क्रम' और (२) 'असलक्ष्यक्रम'। उनमे से अब तक असंलक्ष्य-क्रम व्यग्य (रस आदि) का वर्णन किया गया है।] अब संलक्ष्यक्रम व्यग्य का निरूपण किया जाता है—

संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के भेद

सलक्ष्य-क्रम व्यंग्य प्रथमतः दो प्रकार के होते हैं—एक शब्दशक्ति-मूलक और दूसरा अर्थशक्ति-मूलक। उनमे से शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य दो प्रकार के होते हैं, क्योकि सभी व्यग्य, वस्तु और अलंकार के भेद से, दो प्रकार के हैं। अर्थात् संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य के प्रथम भेद के दो भेद हैं—(१) 'वस्तुरूप शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य' और (२) 'अलंकाररूप शब्दशक्ति-मूलक व्यग्य'।

अर्थशक्ति-मूलक व्यग्य का व्यजक अर्थ भी, प्रथमतः, दो प्रकार का होता है—वस्तुरूप और अलकाररूप। पर काव्यो मे वस्तु और अलकाररूपी अर्थ दो तरह के पाए जाते हैं, एक वे जो ससार मे देखे

---

* इस प्रकरण में 'ध्वनि' शब्द व्यग्य का समानार्थक है, अतः बोध-सौकर्य के लिये हमने प्राय 'व्यग्य' शब्द का प्रयोग किया है, पर किया जा सकता है 'व्यंग्य' अथवा 'ध्वनि' दोनों शब्दों का प्रयोग। इतना याद रखिए।

जाते हैं (जिन्हे काव्यज्ञ लोग 'स्वतःसभवी' कहते हैं) और दूसरे वे जो केवल प्रतिभा से बनाए हुए—अर्थात् कवि के कल्पित—होते हैं (जिन्हे काव्यज्ञ लोग 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' कहते हैं)। ये चारो प्रकार के अर्थ व्यजक होते हैं और इनमे से प्रत्येक के द्वारा वस्तुरूप और अलकाररूप दो तरह के व्यग्य अभिव्यक्त होते हैं। इस तरह अर्थशक्ति-मूलक व्यग्य आठ प्रकार के होते हैं। आठो भेदो के नाम यो हैं—१—स्वत.सभवि-वस्तु-मूलक वस्तु ध्वनि, २—स्वतः सभविवस्तु मूलक अलकारध्वनि, ३—*स्वतःसभवि-अलकारमूलक वस्तुध्वनि, ४—स्वतः-सभवि-अलकार-मूलक अलकारध्वनि, ५—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक वस्तुध्वनि, ६—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक अलकारध्वनि, ७—कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-अलकार-मूलक वस्तुध्वनि और ८—कवि प्रौढोक्ति-सिद्ध-अलकार-मूलक अलक.रध्वनि।

काव्य-प्रकाशादि के मत पर विचार

'काव्य-प्रकाश'-कार आदि ने अर्थशक्ति-मूलक व्यग्य के चार भेद और माने हैं। उनका कहना है कि जिस तरह कवि की प्रौढोक्ति (चमत्कार के अनुकूल कथन) से सिद्ध अर्थ माने जाते हैं, उसी तरह कवि ने काव्य मे जिन वक्ताओं का वर्णन किया है, उनकी प्रौढोक्ति से सिद्ध अर्थ भी माने जाने चाहिएँ। वे अर्थ भी वस्तुरूप तथा अल-काररूप दो तरह के हो सकते हैं एव उनमे से प्रत्येक के द्वारा वस्तुरूप और अलंकाररूप व्यग्य अभिव्यक्त होगे, अत. 'कवि-निबद्ध-वक्तृ प्रौढोक्ति-सिद्ध' अर्थ को मूल मानकर चार भेद और माने जाने चाहिएँ।

---

* यद्यपि समासे सहिताया नित्यत्वम्, तथापि कर्णकटुत्वनिवृत्तये बोधसौकर्याय च 'हिन्दी'-नियमेनाऽसहितमेवात्र प्रयुक्तम्।

पर पडितराज का कथन है कि कवि की प्रौढोक्ति से सिद्ध और उसके वर्णन किए हुए वक्ता की प्रौढोक्ति से सिद्ध—दोनो ही प्रकार के—अर्थ केवल प्रतिभा द्वारा बनाए हुए हैं। वे कवि के हो तो क्या और उसके वर्णन किए वक्ता के हो तो क्या ? उन दोनो मे एक दूसरे की अपेक्षा कोई विशेषता नही, अतः इन चार भेदो को पृथक् गिनना उचित नहीं। यदि आप ऐसा करेंगे तो कवि ने जिनका वर्णन किया है उन वक्ताओ के वर्णन किए हुए—आदि के कल्पित अर्थों से भी व्यंग्यो के अन्यान्य भेद बनाए जा सकेंगे। यदि आप कहें कि कवि के वर्णन किए हुए वक्ताओ के वर्णन किए वक्ता भी कवि के वर्णित ही हुए, अतः उनके वणित अर्थ भी 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' अर्थों से पृथक् नही गिने जा सकते, तो हम कहते हैं कि प्रथम वर्णित वक्ता भी कवि ही हुआ, क्योकि जो अलौकिक वर्णन मे चतुर हो उसे कवि कहा जाता है, सो बात उस वक्ता मे भी विद्यमान ही है—यदि वह कोई चमत्कारी बात कहेगा तो उसे भी कवि माना जा सकता है (और वस्तुतः तो उसके द्वारा भी कवि ही कह रहा है), अतः उसके वर्णित अर्थ भी 'कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध' ही हुए, अतिरिक्त नही। अतः कवि के प्रथम वर्णित वक्ता को अतिरिक्त भेदो का प्रयोजक मानना उचित नही।

यो (दो शब्दशक्ति-मूलक व्यग्य के और आठ अर्थशक्ति-मूलक व्यग्य के इस तरह) 'सलक्ष्य-क्रम ध्वनि' के कुल दस भेद हुए।

शब्दशक्ति-मूलक व्यंग्य के विषय में विचार

(आगे का प्रकरण समझने के लिये ध्यान मे रखिए कि—पूर्वोक्त संलक्ष्य-क्रम व्यग्य के प्राथमिक दो भेदो मे से प्रथम भेद 'शब्दशक्ति-मूलक व्यग्य' उस जगह हुआ करता है, जहाँ अनेकार्थ शब्दो से कोई अप्राकरणिक—जिसका प्रकरण से सबध न हो वह—अर्थ व्यजना-वृत्ति से निकलता है, अतएव उसे व्यग्य कहा जाता है। यह

प्राचीनो का सिद्धात है। यह सिद्धात क्यो माना जाता है और इस पर कैसी - कैसी आलोचनाएँ हुई हैं—इस बात को, मतभेदों और उनकी आलोचना सहित, नीचे समझाया गया है।)

क्या अनेकार्थक शब्दो का अप्रमाणिक अर्थ व्यजना द्वारा ज्ञात होता ह ?

(१)

कुछ लोगो का कथन है कि—अनेकार्थ शब्दो के सब अर्थों मे सकेत-ज्ञान समान रहता है—अर्थात् लोग अनेकार्थ शब्दो के सभी अर्थों को समान रूप से समझते हैं, उनमे से किसी को आवश्यक और किसी को अनावश्यक रूप मे नहीं स्मरण करते। (इस कारण, जब वे अनेकाथक शब्द को सुनते हैं तो सुनते ही) उन्हे वे सब अर्थ स्मरण हो आते हैं। तब यह सदेह होता है कि यहाँ वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ मे है—उसने यहाँ इस शब्द का किस अर्थ मे प्रयोग किया है ? इस सदेह का निर्णय प्रकरण आदि से होता है, अतः श्रोता पुरुष प्रकरणादि की पर्यालोचना करके वक्ता के तात्पर्य का निर्णय कर लेता है।

(उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि—किसी मनुष्य ने किसी हिंदू-राजा के विषय मे 'सुरभिमास भक्षयति' वाक्य का प्रयोग किया। यहाँ 'सुरभि' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—'सुगधित' और 'गाय'। ऐसी दशा में हिंदू - राजा का प्रकरण होने से श्रोता यह निर्णय कर लेता है कि यह शब्द यहाँ 'सुगधित' अर्थमे प्रयुक्त हुआ है, 'गाय' के अर्थ में नहीं, क्योकि हिंदू राजा गाय का मास नहीं खा सकता।)

अतः यह मानना पड़ता है कि अनेकार्थ शब्द का प्रथमतः तात्पर्य ज्ञान होता है और फिर तात्पर्य-ज्ञानरूपी पदज्ञान से उस पद का अर्थ केवल एक अर्थ के विषय में होता है, और तब जाकर हमें

अन्वय-ज्ञान होता है। (अर्थात् प्रथमतः पद-ज्ञान के समय हमे अनेकार्थ शब्द के सब अर्थ उपस्थित रहते हैं, पर प्रकरणादि द्वारा तात्पर्य-ज्ञान हो जाने के अनन्तर केवल एक अर्थ का स्मरण रह जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि—हमे अनेकार्थक पदो के अर्थों की उपस्थिति दो बार होती है—प्रथमत. अनेक अर्थवाली और फिर एक अर्थवाली।)

अब यह सोचिए कि जिस तरह पहली उपस्थिति अनेक अर्थों के विषय मे होती है, उसी तरह दूसरी भी अनेक अर्थों के विषय मे क्यो नही होती ? अतः दूसरी उपस्थिति मे प्रकरणादि के ज्ञान अथवा उसके वशवर्ती तात्पर्य-निर्णय को प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) मानना पडेगा, अन्यथा शाब्दबोध भी अनेक अर्थों के विषय मे होने लगेगा, जो कि होता नही। अतएव (इस सिद्धात के माननेवालो से भी) प्राचीनो ने यह लिखा है कि "...अनवच्छेदे **विशेषस्मृतिहेतवः**—अर्थात् तात्पर्य-ज्ञान का सदेह होने पर संयोग, विप्रयोग आदि (जिनका वर्णन आगे किया जायगा) केवल एक अर्थ के विषय मे स्मरण के हेतु हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि 'सयोगादि' के कारण अनेक अर्थों मे से केवल एक अर्थ की ही स्मृति शेष रह जाती है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—"सुरभिमास भक्षयति" इत्यादि वाक्य से केवल प्राकरणिक अर्थ 'सुगधित' आदि की ही प्रतीति होनी चाहिए। पर, फिर भी जो दूसरी (अर्थात् 'गाय का मास खाता है' यह) प्रतीति हो जाया करती है, वह (उस पद के अन्य अर्थ) 'गाय आदि' की उपस्थिति न होने पर कैसे हो सकेगी ? अतः ऐसे स्थलो मे उस (द्वितीय) उपस्थिति के लिये व्यञ्जना-वृत्ति माननी चाहिए। (अर्थात् यह मानना चाहिए कि अनेकार्थक स्थलो मे प्राकरणिक अर्थ का अभिधावृत्ति द्वारा बोध होता है और अप्राकरणिक का व्यञ्जनावृत्ति द्वारा)।

पर, यदि आप कहें कि अनेकार्थ शब्द की अपने सभी अर्थों में पृथक्-पृथक् शक्ति (अभिधा) रहती है, अत· एक शक्ति-द्वारा प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति हो जाने के अनतर दूसरी शक्ति से फिर भी दूसरे अर्थ की उपस्थिति हो सकेगी। तो ऐसा हो ही नही सकता। कारण, जिस प्रकरणादिज्ञान को आपने दूसरे अर्थों के ज्ञान का प्रतिबधक माना है, वह उस समय भी तो रहेगा ही—वह उस समय कही चला थोडे ही जायगा! और यदि प्रकरणादिज्ञान को प्रतिबधक न मानो तो प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति मे ही अप्राकरणिक अर्थ भी होने लगेगा—यही सूझे और वह न सूझे इसमे आप क्या प्रमाण रखते हैं? अतः प्रकरणादि-ज्ञान को द्वितीय अर्थ की उपस्थिति मे प्रतिबधक मानना ही पडेगा।

यदि आप यह शका करे कि प्रकरणादि का ज्ञान वैसे पद से होनेवाले अर्थो की यावन्मात्र उपस्थितियो का प्रतिबधक होता है—वह तो कभी प्राकरणिक से भिन्न अन्य अर्थ होने देगा ही नहीं, अतः व्यजना द्वारा भी अन्य अथ की उपस्थिति कैसे हो सकती है? तो इसका समाधान यह है कि उस तरह की (अप्राकरणिक अर्थ को समझानेवाली व्यजना का आविर्भाव ही अप्राकरणिक अर्थ के उपस्थित करवाने के लिये माना जाता है—अन्यथा उसका मानना ही व्यर्थ हो जाय, अतः उस व्यजना से उत्पन्न न होनेवाली उपस्थिति के प्रति ही प्रकरणादि के ज्ञान का प्रतिबधक होना माना जाता है—वैसी व्यजना से उत्पन्न उपस्थिति के प्रति नही। अथवा यह मानना चाहिए कि व्यजना का ज्ञान प्रतिबधक के रहते भी दूसरे अर्थ की उपस्थिति को उत्तेजित कर देता है। यही सब सोच-समझकर कहा गया है कि—

"अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥"

(काव्यप्रकाश उ० २, का० १९)

जब सयोगादि द्वारा अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियन्त्रण हो जाता है अर्थात् उस शब्द के अन्य अर्थ की उपस्थिति रुक जाती है और वह शब्द उस एक अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ को नही कह सकता, तब जो उस वाच्य (प्रकरणादि-प्राप्त) अर्थ से भिन्न अर्थ का ज्ञान होता है (जैसे 'सुरभिमास भक्षयति' शब्द में 'सुरभि' शब्द से 'गाय' का), उसको उत्पन्न करनेवाली क्रिया व्यंजना है।"

(२)

पर दूसरे लोग इन बातो को ज्यो का त्या नही मानना चाहते। उनका कहना है कि अनेकार्थ शब्द से जो शाब्दबोध होता है उसमें तात्पर्य-निर्णय को अवश्यमेव कारण मानना पडता है, बिना उसके किसी प्रकार काम नही चल सकता। अत. अनेकार्थ शब्दसे प्रथमतः अनेक अर्थों की उपस्थिति होने पर भी, तात्पर्य-निर्णय के कारणरूप प्रकरणादि से जब तात्पर्य-निर्णय हो जायगा, तब जिस अर्थ के विषय मे तात्पर्य-निर्णय हुआ है उसी अर्थ के अन्वय का बोध होगा, दूसरे अर्थ का नही—अर्थात् प्रथमतः अनेक अर्थों के उपस्थित होने पर भी अन्वय उसी अर्थ का होता है जिसके विषय मे तात्पर्य-निर्णय हो। इस मार्ग का आश्रय लेने से न तो यही मानने की अपेक्षा रहती है कि हमे अनेकार्थ शब्द के केवल एक ही अर्थ का स्मरण रहता है और न यही कल्पना करनो पड़ती है कि दूसरे अर्थ की उपस्थिति रुक जाती है और ऐसी दशा मे पूर्वोक्त ("सुरभिमास भक्षयति" आदि) अनेकार्थक स्थलो में प्रकरणादिज्ञान के वशीभूत तात्पर्य-निर्णय द्वारा प्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध हो जाने पर भी, बाद मे उसी शब्द से, जो तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ ('गाय' आदि) का शाब्दबोध उत्पन्न होता है, वह बिना व्यजना के किस क्रिया से सिद्ध हो सकेगा, अतः वहाँ व्यंजना माननी चाहिए।

यदि आप कहे कि दूसरा शाब्दबोध भी शक्ति (अभिधा) से ही सिद्ध हो जायगा, तो यह बन नही सकता, क्योकि शक्ति द्वारा जो बोध होता है, उसमे तात्पर्य-निर्णय को कारण माना गया है और व्यजना से उत्पन्न बोध में तो तात्पर्यज्ञान की अपेक्षा होती नही, क्योकि इसी लिये वह मानी ही जाती है—यदि व्यजना मे भी तात्पर्य-ज्ञान को कारण माना जाय तो व्यजना का मानना ही व्यर्थ हो जाय। यह है उनका मत।

पर इस मत मे यदि कोई प्राचीनो के ग्रन्थ से विरोध की शका करे—कहे कि इस तरह अनेकार्थ शब्दके शाब्दबोध मे 'केवल एक अर्थ के स्मरण' की अपेक्षा न रहने पर प्राचीन विद्वानो ने जो ('सयोगादि' के विषय मे) "विशेषस्मृतिहेतव·" लिखा है, जिसे पहले मत मे उद्धृत किया गया है, उस ग्रन्थ की कैसे सगति होगी ? और यदि प्रकरणादि-ज्ञान को अन्य अर्थ की उपस्थिति का रोकनेवाला न माना जाय तो 'सयोगादिको' के कारण जो अनेकार्थ शब्द की वाचकता का नियत्रण (अन्य अर्थों का रोक देना) कहा गया है, वह भी किस तरह बन सकता है ?

इसका समाधान यह है कि "विशेषस्मृतिहेतवः" इस जगह स्मृति शब्द का अर्थ 'याद आना' नही है, किंतु 'निश्चय हो जाना' है। अतः 'विशेषस्मृति' शब्द से यहाँ, किसी विशेष (खास) अर्थ के विषय मे जो तात्पर्य-निर्णय होता है उसका ग्रहण किया गया है। अर्थात् 'अनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' का पूर्वोक्त अर्थ नही, किंतु यह अर्थ है कि जहाँ तात्पर्य का सदेह हो वहाँ 'सयोगादिक तात्पर्य का निर्णय कर देनेवाले हैं' और 'सयोगादिको के कारण वाचकता के नियत्रण' का भी अर्थ 'केवल एक अर्थ के विषय मे तात्पर्य-निर्णय उत्पन्न करके उसे शाब्दबोध के अनुकूल बना देना है। इसी तरह 'अवाच्यार्थ' शब्द का अर्थ भी 'तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ' है।

(अर्थात् पूर्वोक्त "अनेकार्थस्य शब्दस्य · ··" इत्यादि काव्यप्रकाश के श्लोक का अर्थ यह है कि जब सयोगादिक, अनेकार्थ शब्द को केवल एक अर्थ के विषय मे तात्पर्य-निर्णय उत्पन्न करके शाब्दबोध के अनुकूल बना देते हैं तब जो तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति होती है उसे उत्पन्न करनेवाली क्रिया व्यजना है।) इस तरह प्राचीनो के ग्रथ मे भी किसी प्रकार की असगति नहीं रहती। वे लोग यह भी कहते हैं।

अब केवल एक शका और रह जाती है। वह यह कि प्राकरणिक अर्थ का बोध हो जाने के अनतर, तात्पर्यज्ञान के रूप मे जो पद का ज्ञान होता है, उसकी तो निवृत्ति हो जायगी। अब तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के ज्ञान को, व्यजना द्वारा उत्पन्न माननेवाले भी, सिद्ध किस तरह कर सकेंगे, क्योकि जब पद का ज्ञान ही नही रहा तो अर्थज्ञान होगा कहॉ से ? वह तो पद-ज्ञान के अधीन न है ? पर यह शका उचित नही, क्योकि इसका समाधान तीन तरह से हो सकता है—

१—कुछ लोगो का कहना है कि पहले अर्थ का ज्ञान ही दूसरे अर्थ के ज्ञान में क्रिया का काम देता है—उस पद से दूसरे अर्थ के ज्ञान को उद्‌बुद्ध करने मे पहले अर्थ का ज्ञान साधनरूप हो जाता है, इस कारण कुछ दोष नहीं।

२—दूसरे विद्वानो का कथन है कि जब किसी भी शब्द के अर्थ का ज्ञान होता है तब जिस तरह उस अर्थ के शक्यतावच्छेदक (जैसे मुख के साथ मुखत्व) की प्रतीति होती है, उसी तरह विशेषणरूप से पद की भी प्रतीति होती है, अतएव महावैयाकरण भर्तृहरि लिखते हैं कि—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

अर्थात् ससार मे ऐसी कोई प्रतीति नहीं है कि जिसका शब्द अनुगामी न हो। ससार भर का सब ज्ञान शब्द से अनुविद्ध-सा प्रतीत होता है—प्रत्येक ज्ञान के साथ उसका प्रतिपादक शब्द गौणरूप से सटा ही रहता है।

अत. प्रथमतः अभिधा द्वारा जो ज्ञान होता है वही पद-ज्ञान भी हुआ, क्योकि पद-ज्ञान से रहित तो कोई अर्थ-ज्ञान होता नही। इस कारण आपकी शका निर्मूल है।

३—किसी का यह भी मत है कि एक बार यदि पद-ज्ञान निवृत्त हो गया तो हो जाने दो, फिर से बोलो और फिर पद-ज्ञान हो जायगा, वह कौन दुर्लभ वस्तु है।

इस तरह अनेकार्थक स्थल मे जो* अनुरणनीय अभिव्यक्ति होती है, वह शब्दशक्ति (अभिधा) के कारण होती है, अतः उसे 'शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि' कहा जाता है। कारण, ऐसी अभिव्यक्ति मे शब्द नही बदले जा सकते। यह है 'ध्वनि-कार' के अनुयायियो का कथन।

(३)

पर अन्य विद्वान् इनके विरुद्ध खडे होते हैं। वे कहते हैं—ये दोनो ही मत ठीक नही। पहले प्रथम मत को लीजिए। उसमे कहा

---

* 'सलक्ष्यक्रम व्यग्यो' को 'अनुरणनीय व्यग्य' भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि जिस तरह घटे पर चोट लगाने से पहले एक बड़ा शब्द होता है, पर उसके बाद बिना किसी दूसरी चोट के भी बहुत देर तक धीरे-धीरे शब्द होते रहते हैं, जिन्हे 'अनुरणन' कहते हैं, उस तरह शब्द के मुख्य अर्थ के समाप्त हो जाने पर भी ये व्यग्य प्रतीत होते रहते हैं।

गया है कि "अनेकार्थ शब्द के अन्वय-ज्ञान में केवल एक अर्थ की उपस्थिति अपेक्षित है, अन्वय के समय उस शब्द के अन्य अर्थ उपस्थित नही रहने चाहिएँ"। इसमें कुछ सार नहीं।

कारण यह है कि अनेकार्थ शब्द से दो अर्थों के उपस्थित होने पर भी जिस अर्थ को वक्ता कहना चाहता है उसका शाब्दबोध, प्रकरणादि-ज्ञान के वशवर्ती तात्पर्य-ज्ञान के प्रभाव से ही, बन जाता है। अतः केवल एक अर्थ की उपस्थिति के अपेक्षित होने मे कोई प्रमाण नहीं। और जब कि अन्य अर्थ को उपस्थित करनेवाली सामग्री (पद-ज्ञान) विद्यमान है तो अन्य अर्थ का उपस्थित होना उचित भी है, सामग्री के विद्यमान रहते उपस्थिति क्यो नही होगी? यदि आप यह कहना चाहे कि प्रकरणादि का ज्ञान अथवा उसका वशवर्ती तात्पर्य ज्ञान अन्य अर्थ की उपस्थिति को रोक देते हैं, तो यह भी नही कह सकते, कारण, सस्कार और उसके उद्बोधक—दोनों—के विद्यमान रहते स्मृति का रुक जाना कही नही देखा जाता—यह बात अनुभव-विरुद्ध है।

यदि आप कहे कि यह रुकने-रुकाने की कल्पना केवल इसी (अनेकार्थ शब्द के अप्राकरणिक अर्थ की) स्मृति मे की जाती है, अन्य स्मृतियो में नही, अतः अन्यत्र वैसा होने पर भी यहाँ ऐसा मानने मे कोई बाधा नहीं। तो यह बात भी समझ मे नहीं आती। क्योकि एक तो आपकी यह कल्पना व्यर्थ है (जिसका कारण ऊपर लिखा जा चुका है कि अन्य अर्थ की स्मृति के रहते भी तात्पर्यज्ञान के कारण अभीष्ट अर्थ का शाब्दबोध हो सकता है) और दूसरे अनुभव से विरुद्ध भी है। देखिए, (ऐरे-गैरे की बात तो हम करते नहीं,) पर जिन लोगो को अनेक अर्थों की शक्ति का दृढ सस्कार है अर्थात् जिनके हृदय मे अनेकार्थ शब्द के सभी अर्थ अच्छी तरह जम रहे हैं, उन्हे प्रकरण का ज्ञान रहते भी "पयो

रमणीयम् (दूध सुदर है + जल सुन्दर है)" इत्यादि वाक्योसे प्रथमत. दोनो अर्थों की उपस्थिति अनुभव-सिद्ध है। अतएव प्रकरणादि जाननेवाले लोग "पयो रमणीयम्" इत्यादि वाक्य को एकदम सुनने पर भी प्रकरणादि के न जाननेवाले मूर्खों को समझा देते हैं कि 'भाई साहब, यहाँ 'पय' शब्द का तात्पर्य दूध मे है, जल मे नहीं।' यदि (आपके हिसाब से) प्रकरणादि का ज्ञान अनेकार्थ शब्द से उत्पन्न होनेवाली अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति को रोक दिया करे, तो उस समय प्रकरणादि जाननेवालो को, 'पय' शब्द का अर्थ 'जल' याद नहीं आवेगा, क्योंकि वह अप्राकरणिक है, और उसके बिना याद आए ये लोग कैसे जल के तात्पर्य का निषेध कर सकेंगे ? इस कारण, आप जो यह प्रकरणादिके ज्ञान द्वारा अप्राकरणिक अर्थ की रुकावट मानते हैं, वह समझसे बाहर की ही बात है।

यह तो हुई प्रथम मत की बात। अब दूसरे मत को लीजिये। इस मतवालो का कहना है कि "प्रकरणादि के ज्ञान से जब यह निर्णीत हो जाता है कि प्राकरणिक अर्थ ही वक्ता के तात्पर्य का विषय है—वक्ता ने उस शब्द का प्रयोग उसी अर्थ के तात्पर्य से किया है, तब उस अभिप्रेत अर्थ के शाब्दबोध के अनन्तर जो तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अर्थ का बोध उत्पन्न होता है, वह व्यजना द्वारा होता है, क्योंकि यहाँ शक्ति (अभिधा) काम नही दे सकती।"

उनसे हम यह पूछना चाहते हैं कि आपने जो यह व्यजना का आविर्भाव माना है वह अनेकार्थवाले स्थलो मे सर्वत्र होता है अथवा कहीं-कहीं ? आपका इस विषय मे क्या मतव्य है ?

यदि आप पहला पक्ष मानते हैं कि अनेकार्थवाले स्थलो मे सर्वत्र व्यजना का प्राकट्य होता है, तो ऐसा नही हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से आपको सब जगह प्रकरणिक और अप्राकरणिक—दोनो—

अर्थों का शाब्दबोध स्वीकार करना पडेगा, और तब आपकी यह कल्पना कि अनेकार्थवाले शब्दो के शाब्दबोध का कारण तात्पर्य-ज्ञान है, निरर्थक हो जायगी ।

यदि आप कहे कि अभिधा द्वारा जो शाब्दबोध होता है उसमे तात्पर्य-ज्ञान को कारण माना जाता है, व्यजना द्वारा होनेवाला बोध तो तात्पर्य-ज्ञान के बिना भी हो सकता है । अतः जहाँ व्यजना द्वारा बोध होता है वहाँ कोई अभिधा द्वारा बोध न समझने लगे, इसलिये अभिधा से होनेवाले बोध मे तात्पर्यज्ञान को कारण मानने की कल्पना की गई है। यह भी ठीक नहीं । कारण, जब आप तात्पर्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ को भी सार्वत्रिक मान रहे हैं, तब उसे शक्ति (अभिधा) द्वारा उत्पन्न मानने मे कोई बाधा नहीं—जब वह बोध सर्वत्र होता ही है तब फिर उसे अभिधा से उत्पन्न क्यो न माना जाय ?

यदि आप कहे कि 'प्रथमतः अनेकार्थक शब्द से दोनो अर्थों की उपस्थिति होती है। फिर प्रकरणादि के कारण एक अर्थ मे तात्पर्य का निर्णय होता है और तब जिस अर्थ मे तात्पर्य निर्णय हो चुका है उसी अर्थ का शाब्दबोध पहले होता है, अप्राकरणिक का नहीं । अर्थात् तात्पर्य-ज्ञानवाले अर्थ का शाब्दबोध पहले होता है और अन्य का बाद मे ।' इस नियम की रक्षा के लिये हम अभिधा द्वारा होनेवाले प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध मे उस अर्थ के तात्पर्य-ज्ञान को हेतु मानना चाहते हैं, अन्यथा जिस अर्थ के विषय मे वक्ता का तात्पर्य निर्णीत हो चुका है उसकी तरह, जिस अर्थ के विषय मे तात्पर्य का निर्णय नहीं हो पाया है उस—अन्य—अर्थ का भी शाब्दबोध पहले होने लगेगा (साराश यह कि हमे तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ का भी शाब्दबोध अभीष्ट है, पर तात्पर्यार्थ के बोध के अनतर, इस

कारण हम तात्पर्यार्थ के बोध को अभिधा से उत्पन्न मानते हैं—जिससे कि उसकी प्राथमिक उपस्थिति हो सके।)

पर ऐसा न कहिए। कारण, जिस तरह* "सोऽव्यादिष्ट भुजङ्गहार-वलयस्त्वा सर्वदोमाधवः' इत्यादिक श्लेषकाव्यो मे (शिव और विष्णु दोनो के विषय मे) जो दो अर्थ होते हैं, उनका बोध एकसाथ माना जाता है—उनमे से किस अर्थ को पहले और किसको पीछे करना चाहिये यह झगडा नही करना पडता, उसी तरह यहॉ भी प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनो अर्थों का बोध एकसाथ स्वीकार कर लेने मे कोई बाधा नहीं।

आप कहेगे—दृष्टान्त ('सोव्यादिष्ट······'आदि) में जो दो अर्थ (शिव और विष्णु के पक्ष मे) किए गए हैं, उन दोनो मे प्रकरण की समानता है, वे दोनो प्राकरणिक अर्थ हैं—उनमे से एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक नही। अतः दोनो अर्थों मे तात्पर्य-ज्ञान होने के कारण दोनो का बोध एकसाथ हो सकता है। पर दार्ष्टान्तिक ("सुरभिमास भक्षयति" आदि) मे तो प्रकरणादि के ज्ञान से एक ही अर्थ में तात्पर्य-ज्ञान होता है, अतः वहॉ एकसाथ दोनो अर्थों का बोध नही बन सकता। पर आप यह कह नही सकते, क्योकि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण है—यही सिद्ध नहीं है, अतः एक साथ दोनो अर्थो का बोध न होने की युक्ति सतोषकारक नहीं। यदि

---

*इसके दो अर्थ यों हैं—जिन्हे साँपो के हार और कंकण पसद हैं वे शिव सर्वदा तुम्हारी रक्षा करे', और 'जिसके बल को भुजगों का हरण (सहार) पसद है उस (गरुड) द्वारा चलनेवाले और सब कुछ देनेवाले लक्ष्मीपति तुम्हारी रक्षा करे'।

आप तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण सिद्ध कर दे तो ऐसा कहा भी जा सकता है—पर व्यर्थ बात करना निस्सार है।

आप पूछेगे—फिर तात्पर्यज्ञान का किस जगह उपयोग होगा—यदि उसका शाब्दबोध मे उपयोग नहीं होता तो आपके हिसाब से वह किस मर्ज की दवा है ? इसका उत्तर यह है कि तात्पर्यज्ञान का उपयोग 'यह शब्द इस अर्थ मे प्रमाण है (अन्य अर्थ मे नहीं)' और 'इस शब्द से यह अर्थ ज्ञात होता है (अन्य अर्थ नहीं)' इत्यादि के निर्णय मे होता है, जो कि प्रवृत्ति-आदि मे उपयोगी है।

(इसका अभिप्राय यह है कि तात्पर्यज्ञान अनेकार्थ शब्द से होनेवाले प्राकरणिक अर्थ के शाब्दबोध के पहले-पीछे होने मे उपयोगी नहीं है—उसका शाब्दबोध पहले हो अथवा पीछे, तात्पर्यज्ञान के साथ इसका कुछ सबध नही। किंतु तात्पर्यज्ञान इस बात का निर्णय कर देता है कि अमुक शब्द से तुम्हे यहाँ (अनेक अर्थों मे से) अमुक अर्थ लेना चाहिए। और इसका उपयोग होता है उस अर्थ के अनुसार प्रवृत्त होने मे। अर्थात् पहले-पीछे, किसी भी तरह, श्रोताको उस वाक्य के सब अर्थ समझ पड़ने पर भी, वक्ता का तात्पर्य समझ लेने से, कार्यकर्ता प्रवृत्त उसी काम मे होगा, जो वक्ता को अभीष्ट है। जैसे "सुरभिमास भक्षयति" के दोनो अर्थ समझने पर भी तात्पर्य जाननेवाला श्रोता न राजा के लिए गाय का मास ला सकता है न उसे उसका खानेवाला कह सकता है। यदि वह दोनो अर्थ समझता, पर उसे तात्पर्य का ज्ञान न होता तो प्रवृत्ति के समय वह अवश्य चक्कर मे पड़ जाता। यह है तात्पर्यज्ञान का उपयोग।)

इस प्रणाली से अनेकार्थक स्थल मे भी तात्पर्यज्ञान को शाब्दबोध का कारण मानना शिथिल हो जाता है, फिर एकार्थक स्थल की तो बात ही क्या है ? ऐसी दशा मे तात्पर्यार्थ से भिन्न अर्थ का शाब्दबोध

सिद्ध करने के लिये व्यजना का स्वीकार करना अनुचित ही है, क्योकि शक्ति (अभिधा) से ही दोनो बोध हो सकते हैं।

अच्छा, अब आप यदि दूसरा पक्ष माने—अर्थात् यह कहें कि यह व्यजना का आविर्भाव अनेकार्थ स्थलों मे सर्वत्र नहीं होता, किंतु किसी-किसी स्थल पर होता है—तो यह भी ठीक नही, क्योकि ऐसा होने मे कोई कारण नहीं। आप कहेगे—है क्यो नहीं, व्यग्य अर्थ के विषय मे कवि (वक्ता) के तात्पर्य का ज्ञान उसका कारण है तो सही—अर्थात् जहाँ-जहाँ हमे कवि का व्यग्य अर्थ के विषय मे तात्पर्य जान पडता है—हम समझते हैं कि यहाँ कवि कुछ दूसरा अर्थ भी कहना चाहता है, वहाँ व्यजना का आविर्भाव होता है, अन्यत्र अनेकार्थक शब्द रहते भी वह नही होता। अतः सिद्ध है कि अनेकार्थक स्थलो मे कहीं व्यजना का आविर्भाव होता है, कही नहीं।

पर यह भी नही बन सकता। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि व्यजना द्वारा होनेवाले बोध मे तात्पर्यज्ञान का कारण होना आप स्वीकार नहीं करते, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। दूसरे, जहाँ अश्लील दोष होता है वहाँ भी अप्राकरणिक अर्थ सब मनुष्यो के अनुभव से सिद्ध है। पर ऐसी जगह कवि का तात्पर्य उस अर्थ मे हो नही सकता—कवि अपनी कविता मे वैसा दोष क्यो लाने लगा! ऐसे स्थलो मे कवि के तात्पर्य का ज्ञान उस तरह के (अर्थात् अप्राकरणिक अश्लील अर्थ के) बोध का कारण हो नहीं सकता, अतः कवि के तात्पर्य-ज्ञान को व्यजना के आविर्भाव का कारण मानना व्यभिचार से दूषित भी है—अर्थात् यह भी देखा जाता है कि बिना कवि के तात्पर्य के भी व्यजना का आविर्भाव होता है।

यदि आप कहें कि व्यजना के आविर्भाव का कारण कवि के तात्पर्य का ज्ञान नही, किंतु एक प्रकार का श्रोता की बुद्धि का सामर्थ्य है।

और वह, प्रयोजनवशात्, जो चमत्कारी अर्थ होता है उसी मे व्यंजना का आविर्भाव करता है, अन्यत्र नहीं। अतः व्यजना के आविर्भाव का कहीं-कहीं होना सिद्ध हो जाता है। पर यह भी उचित नहीं। कारण यदि ऐसा ही है तो उस श्रोता की बुद्धि के सामर्थ्य को प्रकरणादि द्वारा नियंत्रित शक्ति का ही उल्लासक क्यो नही मान लिया जाता—अर्थात् यो ही मान लीजिए कि प्रकरणादि (द्वितीय) अभिधा का नियंत्रण करते हैं और श्रोता की बुद्धि का सामर्थ्य उसे फिर से उद्बुद्ध कर देता है—वह व्यजना को ही उल्लसित करे इसमे क्या प्रमाण है? अतः अनेकार्थ स्थलो मे अप्राकरणिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये व्यजना की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं।

यह तो हुई एक बात। अब दूसरी सुनिए। वह यह है कि "उल्लास्य* कालकरवालमहाम्बुवाहम्... ..." इत्यादि अनेक

---

* यह श्लोक यो है—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाह देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन।
निर्वापित. सकल एव रणे रिपूणा धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रताप ।

इसका वाच्य अर्थ यह है कि कठोर और बलवान् सिहनादवाले जिस राजा ने (वैरियों के) काल-रूप खड्ग के महान् धारा जल के प्रसार को, पैनी करने द्वारा और भी बढ़ाकर, संग्राम में धार के पानी द्वारा, शत्रुओं का त्रिलोकी में अत्यत प्रसिद्ध, सब का सब प्रभाव शान्त कर दिया। और व्यग्य अर्थ यह है कि—जिस देव (इन्द्र) ने कठोर और बलवती गर्जना से युक्त और काली किरणोवाले नवीन महामेघ को प्रकट करके, धाराओ के रूप में बरसते हुए जलों से, 'सूँ सूँ' शब्द होते हुए (जल के) शत्रुओ (अग्नियों) का त्रिलोकी में प्रदीप्त महान् ताप, सब का सब शान्त कर दिया।

अर्थों के व्यञ्जक स्थल मे, जिस मनुष्य को दूसरे अर्थ की शक्ति का ज्ञान नहीं है—अर्थात् जिसे उन शब्दो के एक ही अर्थ का ज्ञान है उसे, अथवा प्रथमतः ज्ञात होने पर भी जो मनुष्य दूसरे अर्थों की शक्ति भूल गया है—एक ही अर्थ उसे याद रह गया है—उसे व्यजना द्वारा द्वितीय अर्थ के बोध का सर्वथा उदय नही होता—यह देखा जाता है, पर आपके विचार से तो ऐसी जगह भी व्यजना द्वारा उस अर्थ का बोध अनिवार्य हो जायगा। कारण आप वहॉ शक्ति की तो कुछ आवश्यकता मानते नहीं—यदि मानते ही तो व्यजना मानने की आवश्यकता ही क्या थी; उसी से काम चल जाता।

अब यदि आप कहें कि जिस शब्द से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है उस शब्द की उस अर्थ मे शक्ति का ज्ञान ही उस (अन्य) अर्थ की व्यजना के आविर्भाव का कारण है—अर्थात् शक्तिज्ञान होने पर ही व्यजना का उल्लास होता है, अन्यथा नहीं। तो यह भी नहीं बन सकता। कारण, "'निश्शेषच्युतचदनम्' (पहले भाग के पृष्ठ ३२) इत्यादिक मे 'रमण' अर्थ की अभिव्यक्ति न हो सकेगी, क्योकि 'अधम' पद की 'रमण' अर्थ मे शक्ति का ज्ञान किसी को भी नहीं है—दुनिया मे कोई भी ऐसा न निकलेगा जो 'अधम' पद का 'रमण' अर्थ करे। इतने पर भी यदि आप कहे कि और चाहे कोई समझे या न समझे, पर नायक अवश्य 'अधम' पद का वैसा अर्थ समझता है—उससे अधम कहते ही वह समझ जायगा कि इसका सकेत 'रमण' की तरफ है, तो फिर भी शक्ति से ही काम चल जाने पर आपकी व्यजना की कल्पना व्यर्थ हो जायगी।

अब कहा जायगा कि—शक्तिज्ञान को व्यजना के आविर्भाव का कारण वहीं माना जाता है, जहॉ अनेकार्थक शब्द व्यजक होते हैं, अन्यत्र नही। कारण, ऐसी जगह शक्ति के नियन्त्रित हो जाने से उसके ज्ञान से कुछ काम नहीं चल सकता, अतः व्यजना की कल्पना उचित है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, इस तरह के नवीन कार्य-कारण-भाव की कल्पना मे

गौरव-दोष होगा—एक व्यर्थ का नियम बढ जायगा। आप कहेंगे—ऐसा किए बिना काम नहीं चल सकता। सो तो है नहीं। कारण, जिसके लिए आप इस नवीन कार्य-कारण-भाव की कल्पना कर रहे हैं उस शक्ति के नियन्त्रण को हम पहले ही दूषित कर आए हैं, अत. "तद्धेतोरेव तदस्तु किं तत्कल्पनया—अर्थात् जब कारण के कारण से ही काम चल जाय तो उसी को कारण मान लिया जाना चाहिए, बीच मे एक और कारण की कल्पना क्यो की जाय ?" यह न्याय उतर पडेगा—कहेगा कि जब (इस नवीन) व्यजना के कारण-रूप शक्ति के ज्ञान से ही अन्य अर्थ प्रतीत हो सकता है तो फिर इस व्यञ्जना की कल्पना किस मर्ज की दवा है ? अत. ऐसी जगह व्यजना की कल्पना निरर्थक है।

अब यदि आप कहे कि—भवतु, शक्ति द्वारा ज्ञात ही अप्राकरणिक अर्थ अन्वयज्ञान में आता है—अर्थात् अप्राकरणिक अर्थ का शाब्दबोध भी शक्ति से ही होता है, आपकी इस बात को हम मान लेते हैं, पर ऐसी जगह जहाँ अन्य अर्थ के माननेमे किसी प्रकार की बाधा न हो। किंतु जहाँ बाधा होगी, जैसे—

"जैमिनीयमलं* धत्ते रसनायामयं द्विजः।"

इत्यादिक मे तो जो घृणित (दूसरा) अर्थ है वह, 'आग से सींचता है' इस वाक्य मे के 'सीचने' की तरह (क्योंकि 'सींचना' तरल चीजो से होता है आग आदि से नही) समझ मे नही आ सकेगा—क्या

---

* इसका एक अर्थ तो यह होता है कि 'यह ब्राह्मण मीमासाशास्त्र को यथेष्टरीत्या जीभ पर धारण करता है—इसे मीमांसा-शास्त्र कठस्थ है' और दूसरा अर्थ यह होता है—'यह ब्राह्मण जीभ पर जैमिनि की अथवा जैमिनियों की विष्ठा धारण करता है'।

कोई ऐसा भी मूर्ख होगा जो ब्राह्मण की जीभ पर विष्ठा धरने को कहे, और यह बात सभी की मानी हुई है कि बाध का निश्चय तद्वत्ता ज्ञान (जिस रूप मे समझे हुए हैं उस रूप मे समझने) का रोकनेवाला होता है। पर देखते यह हैं कि इस तरह का घृणित अर्थ भी लोगो की समझ मे आता है अवश्य, अत ऐसे स्थलो पर अवश्यमेव व्यजना माननी पडेगी। कहा जायगा कि व्यजना भी बाधित अर्थ का बोध कैसे करवा सकेगी? सो है नहीं। कारण, बाधित अथ का भी व्यजना से बोध हो सकता है। इसी लिये तो वह मानी जाती है, अन्यथा उसका मानना ही व्यर्थ हो जाय। सो ऐसे स्थलो मे, अप्राकरणिक अर्थ का शक्ति द्वारा ज्ञान माननेवालो का काम नही चल सकता और व्यजनावादियो को कुछ दोष नही, अत॰ व्यजना मानना आवश्यक है।

यह भी नहीं है। कारण,

"गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्।

अर्थात् यह, पतजलि के मिष से, सचमुच सरस्वती पृथ्वी पर उत्तर आई है।" और

"सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः।

अर्थात् इस नगर के महलो की चोटियाँ सूरज से जा मिलती हैं।"

इत्यादिक स्थलो मे 'सरस्वती का पृथ्वी पर उतर आना' और 'महलो की चोटियो का सूरज से जा मिलना' बाधित हैं, क्योकि ऐसा हो नहीं सकता। अतः ऐसे स्थलो मे वाच्य अर्थो का बोध सिद्ध करने के लिये जिस* यत्न का अनुसरण करना पड़ता है, उसी

---

* यह यत्न आगे लक्षणा के प्रसग में रूपक पर विचार करते हुए मूल में ही लिख दिया जायगा। जिसका साराश यह है कि— 'बाधा का ज्ञान और अयोग्यता का निश्चय शाब्दबोध में रुकावट

से अनेकार्थक स्थलो मे भी बाधित अर्थ का बोध सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा--अर्थात् उस यत्न के न मानने पर--प्रायः सभी अलकारो मे वाच्य अर्थों का ज्ञान सिद्ध करने के लिये व्यंजना स्वीकार करनी पडेगी।

अतः अनेकार्थक स्थलो मे होनेवाले अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान व्यजना द्वारा होता है—यह प्राचीनो का सिद्धात शिथिल ही है। हॉ, प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की उपमा का ज्ञान तो कदाचित् व्यजना द्वारा हो भी सकता है—अर्थात् यदि आप उपमा के व्यग्य होने की बात कहते तो कदाचित् आपत्ति न भी होती।

('कदाचित्' इसलिए लिखा गया है कि द्वितीय अर्थ असबद्ध न हो जाय, अत. उपमा का बोध अर्थापत्ति द्वारा भी सभव है।)

व्यंजना मानने की आवश्यकता

इस तरह यह सब बात बिगडी जाती है। ऐसी दशा में हमे (पडितराज को) यह सूझ पडता है कि ऐसा होने पर—अर्थात् अनेकार्थ शब्द के अप्राकरणिक अथ की प्रतीति मे व्यजना का प्रयोजन न रहने पर—भी, यह बात सब सिद्धातो की मानी हुई है कि 'योगरूढि'* के स्थल मे 'रूढि' के ज्ञान से योग का अपहरण हो जाता है—अर्थात् योगरूढ शब्दो मे यौगिक अर्थ की प्रतीति नही होती, किंतु रूढ अर्थ की ही होती है। पर, ऐसी दशा मे भी 'योगरूढि' के स्थलो मे जिसमें रूढि नहीं रहती ऐसे और अवयवशक्ति से सबद्ध (अर्थात् केवल

नही डालता'। इसी तरह 'योग्यता का ज्ञान भी शाब्दबोध का कारण नही है' यह मानना चाहिए, अथवा "ऐसी जगह 'आहार्य' (बाधित समझते हुए भी कल्पित) बोध" माना जाना चाहिए।

* योग, रूढि, योगरूढि और यौगिकरूढि ये चार अभिधा के भेद हैं। आगे अभिधा के प्रकरण में देखिए।

यौगिक) अन्य अर्थ की जो प्रतीति हो जाया करती है, वह बिना व्यजना के उपपन्न नहीं हो सकती है—उसके लिये तो आपको व्यजना अवश्य ही माननी पडेगी। जैसे—

अबलानां श्रियं हृत्वा वारिवाहैः सहानिशम्।
तिष्ठन्ति चपला यत्र स कालः समुपस्थितः॥

इस पद्य का प्राकरणिक अर्थ, जो 'योगरूढि' द्वारा होता है, यह है—जिस समय बिजलियाँ कामिनियों की काति का हरण करके, रात-दिन, मेघो के साथ रहा करती हैं, वह समय (वर्षा-ऋतु) उपस्थित हो गया।

पर यहाँ एक दूसरा अर्थ और प्रतीत हो जाता है। वह यह है कि—जिस समय कुलटाएँ निर्बल पुरुषो का द्रव्य हरण करके जल ढोनेवाले पुरुषों के साथ रहती हैं वह समय आ गया है।

यह द्वितीय अर्थ 'अबला', 'वारिवाह' और 'चपला' शब्दो से योग-रूढि शक्ति द्वारा नहीं बन सकता, क्योकि यह 'कामिनी', 'मेघ', 'बिजली' आदि (योगरूढिवाले) अर्थों की प्रतीति नहीं होती। यदि दूसरे अर्थ में भी 'मेघ', 'बिजली' आदि अर्थों की प्रतीति मान ले तो कुछ चमत्कार नहीं रहेगा—बात ही बिगड़ जायगी। यदि कहो कि केवल 'योग'-शक्ति से उस अर्थ का बोध मान लेंगे तो यह हो नहीं सकता। कारण, योग-शक्ति रूढि-शक्ति के साथ रहने पर रूढि के अर्थ से अमिश्रित (केवल यौगिक) अर्थ का बोध करवावे यह असगत है—ऐसा किसी का सिद्धात नहीं। और 'चपला' का पुश्चली आदि अर्थ केवल योग शक्ति से सिद्ध भी नहीं हो सकता।

इसी तरह 'यौगिकरूढि' के स्थल में भी समझिए—वहाँ भी बिना व्यजना के, अन्य अर्थ कभी न हो सकेगा।

ऐसा ही एक उदाहरण और लीजिए, जैसे—

चांचल्ययोगि नयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽतिचञ्चलानामपि च मृगाणांकथं हरति ॥

योगरूढि-शक्ति द्वारा इस पद्य का अर्थ यह है—कमलो मे चचलता-रूपी गुण नही है, अतः जिसमे उनकी अपेक्षा चचलता गुण अधिक है वह तेरा नेत्र यदि उनकी शोभा का तिरस्कार कर दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर आश्चर्य तो इस बात का है कि तेरा नेत्र अत्यत चचल (अर्थात् उस गुण से युक्त) हरिणो की शोभा का भी तिरस्कार कर देता है।

इस वाच्यार्थ के समाप्त हो जाने पर भी रूढि-रहित केवल योग-शक्ति की मर्यादा से 'जलज', 'नयन' और 'मृग' शब्दो द्वारा जो यह अर्थ प्रतीत होता है कि—मूर्खो के पुत्रो और अतएव प्रमादियो के धन का हरण, हरनेवालो अर्थात् चौर आदि द्वारा हो सकता है, पर जो गवेषणा करनेवाले—अर्थात् जहाँ जाय वहाँ से खोज निकालने-वाले—हैं और अतएव सावधान कहे जा सकते हैं, उनके धन का हरण कैसे हो सकता है? यह द्वितीय अर्थ बिना व्यजना वृत्ति के कैसे सिद्ध किया जा सकता है?

ऐसे अर्थ अभिधा वृत्ति द्वारा नही समझाए जा सकते, अतएव तो नैयायिक लोग यह मानते हैं कि—'पकज' आदि योगरूढ पदो से (यौगिक अर्थ) 'कीचड़ से जन्म लेनेवाले होने' के कारण 'कुमुद' आदि अर्थों की उपस्थिति लक्षणा द्वारा ही होती है।

अतएव उत्तर - मीमासा(ब्रह्मसूत्र)कार भगवान् वेदव्यास ने "ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः" इस उपनिषद् के वाक्य में यह सदेह होने पर कि—इस जगह सर्व-सामर्थ्य से युक्त जीव का वर्णन

है अथवा ईश्वर का ?", और यह पूर्वपक्ष होने पर कि 'यहाँ जीव का वर्णन है', "शब्दादेव प्रमितः (१।३।२४)" यह सूत्र बनाया है। जिससे यह सिद्ध किया गया है कि—'ईशान' शब्द योगरूढि शक्ति द्वारा ईश्वर का ही प्रतिपादन करता है, जीव का नही, अतः यहाँ ईश्वर का ही वर्णन है।

अत. यह सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त (योगरूढिवाले) स्थलो मे (उपर्युक्त पद्यो मे) जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वह अभिधावृत्ति द्वारा नही, किंतु व्यंजना द्वारा ही ज्ञात होता है।

आप कहेगे—अभिधा से नही होता तो न सही, (नैयायिको की तरह) आप भी इस अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा क्यो नही मान लेते ? पर यह बन नही सकता। कारण, लक्षणा वहाँ हुआ करती है जहाँ यथाश्रुत (वाच्य) अर्थ मे कोई बाधा उपस्थित हो। सो तो यहाँ है नहीं—एक अर्थ पूरा का पूरा बिना किसी बाधा के समाप्त हो जाता है, अतः इस अर्थ को लक्ष्य (लक्षणा से प्रतिपादित) नही कहा जा सकता।

रही तात्पर्यार्थ की बात। सो तात्पर्यार्थ का बोध तब हो सकता है, जब कि पहले पद का, योगरूढ अर्थ से भिन्न, केवल यौगिक अर्थ हो ले। पर वही कैसे हो सकता है ? उसी के लिये तो यह उपाय—व्यंजना—सोचा जा रहा है।

लक्षणा मानने के लिये आप एक शंका और कर सकते हैं। आप कहेगे—वक्ता का तात्पर्य सिद्ध न होने के कारण (क्योकि उसे अन्य अर्थ भी अभीष्ट है) ऐसे स्थलो मे, "कौओ से दही की रक्षा करो" आदि की तरह, लक्षणा मानना उचित है। पर ऐसा मान लेने पर भी कि—वक्ता का तात्पर्य (द्वितीय पद्य के) चोरव्यवहाररूपी द्वितीय अर्थ में है—वह उस अर्थ को कहना चाहता है, तथापि श्रोता को

जो उस अर्थ का बोध होता है उसमे तो सहृदयो के हृदय मे सूझ पडी इस व्यजना-रूपी क्रिया के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही। (कहने का तात्पर्य यह है कि—"कौओ से दही की रक्षा करो" इत्यादि वाक्यो मे श्रोता पहले से किसी तरह यह समझे रहता है कि वक्ता सभी दही नष्ट करनेवालो से दही बचाना चाहता है। वह यह जानता रहता है कि वक्ता इतना मूर्ख नहीं है कि—कौओ से दही बचाने को कहे और बिलैया को खिला देने को। अत. 'कौआ' शब्द से, ऐसी जगह, लक्षणा द्वारा 'सब दही के नष्ट करनेवाले' ले लिए जाते हैं। पर पूर्वोक्त पद्यो मे, 'वक्ता को अन्य अर्थ भी अभीष्ट है', श्रोता को यह समझने के लिये अन्य कोई प्रकार नहीं। वहॉ अन्य अर्थ निकाले बिना दही तो लुटता नही कि श्रोता उससे अन्य कोई अर्थ भी निकाल ले, अतः ऐसे स्थलो पर व्यजना ही एक ऐसी चीज है, जो बिना किसी इशारे के उन्ही शब्दों से अन्य अर्थ भी समझा सके। सो ऐसे स्थलो मे बिना व्यजना माने निर्वाह नहीं।) इसी तरह अन्य उदाहरणो मे भी सोच लीजिए।

यह तो कहा नही जा सकता कि—ऐसे उदाहरणो मे द्वितीय अर्थ की प्रतीति ही नही होती, क्योकि जिन लोगो के अंत.करण शब्दार्थों की गहरी व्युत्पत्ति से चिकने बन गये हैं—जिन पर इस बात का गहरा रग चढ रहा है वे तो ऐसा कह नही सकते—हॉ, अनभिज्ञो की बात दूसरी है।

सो इस तरह इस सबका सग्रह यो होता है कि—

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा॥

अर्थात् योगरूढ शब्द की योग-शक्ति को जब रूढि-शक्ति रोक देती है, तब जो क्रिया यौगिक अर्थ का ज्ञान उत्पन्न करती है, वह व्यजना ही है।

ऐसी दशा मे—अर्थात् जब योगरूढि के स्थलो में व्यजना माने बिना बिलकुल निर्वाह नहीं तब—अनेकार्थक स्थलो मे भी प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थो मे जो परस्पर उपमा रहती है उसकी प्रतीति के लिये अवश्यमेव स्वीकृत की जानेवाली व्यजना द्वारा ही अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध हो जाय तो (शक्ति द्वारा अप्राकरणिक अर्थ का बाध मानकर) क्लिष्ट कल्पना करने (अर्थात् नियन्त्रित शक्ति का फिर से उत्थान आदि मानने) की क्या आवश्यकता है ? इस अभिप्राय से प्राचीनो ने जो अनेकार्थ शब्दो को व्यजक (अप्राकरणिक अर्थ को व्यजना द्वारा प्रतिपादन करनेवाले) माना है, सो भी दूषित नही। जब व्यजना मानना ही है तब क्यो उसी के द्वारा अन्य अर्थ की उपस्थिति न मानकर शक्ति के पुनरुत्थान आदि की कल्पना की जाय ?

संयोगादिक

अप्राकरणिक अर्थ की व्यंजना के स्थलो मे, अनेक अर्थों की शक्ति रोकने के लिये—अर्थात् शक्ति को केवल प्राकरणिक अर्थ का ही प्रतिपादन करनेवाली बनाने के लिये—प्राचीन विद्वानो ने 'सयोग' आदि (१४-१५ प्रतिबधको) का निरूपण किया है। उनका सविस्तर वर्णन सुनिए—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिता देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्याऽनवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

अनेकार्थ शब्दो के जो अनेक अर्थ होते हैं उनमे तात्पर्य के सदेह होने पर—अर्थात् इस शब्द के अनेक अर्थों मे से वक्ता को यहाँ कौन अर्थ अभीष्ट है इस बात के न समझ पड़ने पर—संयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की सन्निधि, सामर्थ्य, औचिती, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि किसी विशेष अर्थ के तात्पर्य का निर्णय कर देते हैं—इनके द्वारा हम समझ सकते हैं कि यहाँ वक्ता को यही अर्थ अभीष्ट है।

१—सयोग

जिस सबंध का अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों मे रहना प्रसिद्ध न हो और एक ही अर्थ मे रहना प्रसिद्ध हो उस संबध को 'सयोग' कहते हैं।

जैसे—"शख-चक्र के साथ* हरि" इस स्थान पर यद्यपि 'हरि' शब्द के विष्णु, इद्र आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं, तथापि 'शख-चक्र' का सयोग (सबध) केवल विष्णु में ही प्रसिद्ध है, अतः वह सयोग 'हरि' शब्द की शक्ति को नियमित करके विष्णु मे ही अवस्थित कर देता है—अर्थात् यहाँ 'हरि' शब्द का 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं हो सकता। यदि ऐसी जगह सामान्यतः 'आयुध सहित हरि' अथवा 'पाश-अकुश आदि (किसी विशेष आयुध) सहित हरि' कह दे तो 'हरि' शब्द की शक्ति नियत नहीं हो सकती—तब 'हरि' शब्द द्वारा अन्य अर्थ की भी प्रतीति हो सकती है। कारण,

---

* यहाँ 'शख-चक्र सहित हरि' यह अर्थ लिखना अच्छा होता, पर आगे 'साहचर्य' के शास्त्रार्थ में यहाँ सबधवाची शब्द मानकर शास्त्रार्थ किया गया है, अत: सहित न लिखकर 'के साथ' लिखना पड़ा।

पहली उक्ति ('आयुध सहित') आयुध के सयोग का 'हरि शब्द के अन्य अर्थों मे रहना प्रसिद्ध न हो' यह बात नहीं है, क्योंकि इद्रादिक भी कोई-न-कोई आयुध धारण करते ही हैं। इसी तरह दूसरी उक्ति (पाश-अकुश आदि से युक्त) मे पाश-अकुश आदि के सयोग का विष्णु मे रहना प्रसिद्ध नही है, अतः उसके द्वारा भी शक्ति का नियमन नही हो सकता ।

पर यहाँ यह न मान लेना कि 'सयोग' 'लिग' (जिसका वर्णन आगे है) के अतर्गत है। कारण, इस प्रसग मे 'अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ को छोडकर अन्य किसी अर्थ मे सर्वथा न रहना' ही लिग माना गया है, और 'शख-चक्र' ऐसी चीज है नहीं कि उन्हे कोई अन्य धारण कर ही न सके, सभव है, किसी समय इद्रादिक भी उन्हें धारण कर ले। हाँ, उनके धारण की प्रसिद्धि विष्णु के अतिरिक्त अन्य किसी मे नही ।

(सो यह सिद्ध हुआ कि 'अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थो मे सर्वथा न रहने रूपी सबध का नाम 'लिंग' है, और 'अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों मे प्रसिद्ध न होते हुए किसी एक अर्थ मे प्रसिद्ध होनेवाले सबध' का नाम 'सयोग' है। यह है इन दोनो का भेद ।)

२—विप्रयोग

विश्लेष (जुदा होना) 'विप्रयोग' कहलाता है।

जैसे "शख-चक्र से रहित हरि" इस स्थान पर 'शख-चक्र' का हरि से 'जुदा होना' 'हरि' शब्द की शक्ति को नियमित करता है—वह 'विष्णु' के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ नहीं होने देता। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि 'जुदा होने' के पहले जो सयोग रहता है (क्योकि जुदा वही चीज हो सकती है जो पहले सयुक्त हो)

उसमे पूर्वोक्त दोनो बाते—अर्थात् 'अनेकार्थक शब्द के अन्य अर्थों में रहने का अप्रसिद्ध होना' और 'उस अर्थ मे रहने का प्रसिद्ध होना' अपेक्षित हैं। इस कारण सामान्यतः 'आयुध से रहित होना' अथवा 'पाश अकुश आदि से रहित होना' शक्ति का नियमन नहीं कर सकते।

यद्यपि इस जगह भी गौण रूप से वर्त्तमान पूर्वोक्त प्रकार वाला 'सयोग' ही अभिधा का नियमन कर सकता है, तथापि गौण और प्रधान दोनो के एक साथ आने पर प्रधान का अनुरोध न्यायप्राप्त है, इस अभिप्राय से 'विप्रयोग' को भी नियामक कहा गया है।

अथवा सयोग ही दो तरह से नियामक होता है—एक केवल सयोग रूप मे और दूसरा 'विप्रयोग का अग' बनकर। इन दोनो प्रकारो को पृथक् पृथक् दिखाने के लिये ही 'सयोग' और 'विप्रयोग' को अलग-अलग नियामक माना गया है। वस्तुत' विप्रयोग भिन्नरूपेण नियामक नही है।

३—साहचर्य

एक कार्य मे परस्पर की अपेक्षा रखना 'साहचर्य कहलाता है।

जैसे 'राम और लक्ष्मण' इस जगह 'राम' शब्द के—रघुनाथ, परशुराम, बलदेव और एक प्रकार का मृग आदि—अनेक अर्थ हो सकते हैं, उनमे से लक्ष्मण का साहचर्य होने के कारण 'राम' शब्द का अर्थ 'रधुनाथ' ही ग्रहण किया जाता है।

आप कहेंगे—लक्षण मे जो 'परस्पर की अपेक्षा रखना' लिखा है, वह जिस किसी कार्य मे होना चाहिए अथवा सब कार्यों मे—अर्थात् उन दोनो का चाहे किसी भी एक कार्य मे अपेक्षा रखना पर्याप्त है अथवा उन दोनो का कोई भी काम ऐसा न होना चाहिए जिसमे वे

दोनों सम्मिलित न हो ? यदि आप पहला पक्ष स्वीकार करे—अर्थात् 'जिस किसी कार्य मे परस्पर की अपेक्षा रखना साहचर्य है' तो घट आदि भी इस लक्षण द्वारा नहीं हटाये जा सकते—अर्थात् घट-आदि का और राम का भी साहचर्य हो सकता है, क्योकि किसी न किसी काम मे तो इन दोनो को भी परस्पर की अपेक्षा रह ही सकती है। अत. यदि घट शब्द राम शब्द के साथ आ जाय तब भी राम शब्द की शक्ति का नियमन होने लगेगा। (सो होता नही—'राम और घड़ा' कहने पर किसी को यह निर्णय नही हो सकता कि यहाँ राम शब्द किस अर्थ मे आया है।) अब यदि दूसरा पक्ष लो—यह मानो कि 'सब कामो मे परस्पर की अपेक्षा होनी चाहिए'—तो यह भी नहीं बन सकता। कारण, ऐसी स्थिति मे लक्ष्मण का और राम का भी साहचर्य न हो सकेगा, क्योकि कुछ काम ऐसे भी हैं, जिनमे राम लक्ष्मण की अपेक्षा नहीं रखते और लक्ष्मण राम की, और पूर्वोक्त दोनो ही पक्षो मे से किसी भी पक्ष से 'राम और अयोध्या' 'रघु और राम' इत्यादि मे शक्ति का नियमन न हो सकेगा, (क्योकि राम और अयोध्या आदि को न किसी काम मे परस्पर की अपेक्षा है, न सब कामो मे। पर ऐसी जगह शक्ति का नियमन सर्वानुभव-सिद्ध है, 'राम और अयोध्या' कहने पर किसी को राम शब्द का अन्य अर्थ समझ मे नही आता। अत. यह लक्षण गड़बड़ ही है।)

अब यदि आप कहे कि जाने दो उस लक्षण को, हम 'साहचर्य' का यह लक्षण बनाते हैं—

अनेकार्थक पद के समीप मे उच्चारण किए हुए अन्य पद के अर्थ का अनेकार्थक पद के किसी विशेष अर्थ के साथ जो प्रसिद्ध सबध होता है उसका नाम 'साहचर्य' है।

और वह सबध—एक से उत्पन्न होना, स्त्री-पुरुष होना, पिता-पुत्र

होना, स्वामी-सेवक होना तथा स्वस्वामि भाव' आदि अनेक प्रकार का होता है, अत. राम और लक्ष्मण, सीता और राम, राम और दशरथ, राम और हनुमान् तथा राम और अयोध्या इत्यादि सब स्थानों मे 'साहचर्य' नियामक हो सकता है।

तो यह लक्षण भी ठीक नही। कारण, जिस (अनेकार्थक पद और उसके समीपवर्त्ती पद दोनो के अर्थों के प्रसिद्ध) सबध को आप 'साहचर्य' कह रहे हैं, उसके हिसाब से लक्ष्मण आदि का जो राम के साथ सबध है उसका अपेक्षा शख-चक्र का जो हरि के साथ सबध है उसमे कोई विशेषता नही। अत. (पूर्वोक्त 'सयोग' के उदाहरण) "शख-चक्र के साथ हरि" यहॉ भी साहचर्य' ही नियामक होने लगेगा—'सयोग' के लिये कोई जगह ही नहीं रहेगी।

यदि आप कहे कि "शख-चक्र के साथ हरि" इत्यादि स्थलो में जहॉ उन वस्तुओं में संयोग-सबध हो वहॉ 'सयोग' नियामक होता है, और जहॉ कोई अन्य सबध हो वहॉ साहचर्य नियामक होता है इस कारण कोई बाधा नहीं—तो यह भी ठीक नही। क्योकि सयोग को साहचर्य से पृथक् नियामक मानने में कोई कारण नही दिखाई देता—पहले आप यह तो समझा दीजिए कि जब सबध मात्र मे साहचर्य नियामक होता है, तब केवल सयोग-सबध मे ही 'सयोग' को क्यो पृथक नियामक माना जाय ?

यदि आप कहे कि जहॉ सयोग-सबध शब्द द्वारा प्रतिपादित हो, वहॉ वही नियामक होता है, पर जहॉ केवल सबध ही शब्द द्वारा प्रतिपादित हो सबध नही, वहॉ 'साहचर्य' नियामक होता है, अतएव 'शख-चक्र के साथ हरि' यह सयोग का उदाहरण होता है और 'राम और लक्ष्मण' साहचार्य का। क्योकि पहले वाक्य मे 'साथ' शब्द से संयोग का प्रतिपादन किया गया है और दूसरे वाक्य मे सयोग सबंधवाले सबधियो का ही वर्णन है,

सबध का नही। पर यह भी ठीक नही। कारण, यदि ऐसा मानोगे तो 'लक्ष्मणसहित राम' और 'लक्ष्मणरहित राम' इन वाक्यो मे भी सयोग और विप्रयोग गौण हो गए हैं, क्योकि 'सहित' और 'रहित' शब्द सबधी के प्रतिपादक हैं, सबध के नही। सबध तो गौण होकर आया है। ऐसी दशामे ऐसे वाक्यो में साहचर्य की उदाहरणता प्राप्त हो जाती है, तब 'शख-चक्र सहित हरि' इत्यादि को भी साहचर्य का उदाहरण मानना ही उचित होगा। सो यह सब मामला गडबड़ हुआ जाता है।

इस विषय मे हम कहते हैं कि सयोग के प्रकरण मे जो 'सयोग शब्द आया है वह यावन्मात्र सबंधो के अभिप्राय से लिखा गया है, केवल सयोग-सबंध के ही अभिप्राय से नही। अतः

"जहाँ किसी प्रकार के भी प्रसिद्ध सम्बन्ध का शब्द द्वारा प्रतिपादन किया गया हो और वह शक्ति का नियामक होता हो वहाँ 'संयोग' का उदाहरण समझना चाहिए और जहाँ द्वंद्व आदि समासो के अंतर्गत केवल सम्बन्धी ही शक्ति का नियामक होता हो 'वहाँ 'साहचर्य' का उदाहरण समझना चाहिए।"

यह है प्राचीनो का आशय। सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि— 'गाँडीव सहित अर्जुन*' यह 'सयोग' की नियामकता का उदाहरण हुआ और 'गाडीव और अर्जुन' 'साहचर्य' की नियामकता का।

४—विरोधिता

प्रसिद्ध वैर और एक साथ न रहने को 'विरोधिता' कहते है।

---

*'अर्जुन' शब्द के युधिष्ठिर का भ्राता, सहस्रबाहु, श्वेत और एक प्रकार का पेड आदि अनेक अर्थ हैं।

उनमें से 'प्रसिद्ध वैर' का उदारण प्राचीनो ने "राम और अर्जुन" लिखा है।

अप्पय दीक्षित का खण्डन

परतु अप्पय दीक्षित ने वृत्तिवार्त्तिक' मे इस उदाहरण का खंडन करते हुए यह लिखा है—

"प्राचीनो ने जो—'राम' और 'अर्जुन' पदो मे परस्पर 'मारनेवाला और मरनेवाला होना' इस विरोध के कारण 'परशुराम' और 'सहस्रबाहु' इन अर्थों में शक्ति का नियमन होता है"—यह लिखा है सो ठीक नहीं। कारण, जब 'राम' पद की अभिधा का (परशुराम अर्थमे) नियमन हो चुके तब उसके विरोध का अनुसधान करने पर 'अर्जुन' पद की शक्ति का 'सहस्रबाहु' अर्थ में नियमन हो सकता है और 'अर्जुन' पद की शक्ति का नियमन होने पर 'राम' पद की शक्ति का परशुराम अर्थ मे नियमन हो सकता है—अर्थात् जब पहले 'राम' पद का अर्थ 'परशुराम' ही है यह समझ लिया जाय तब 'अर्जुन' पद का अर्थ 'सहस्रबाहु ही है' यह समझा जा सकता है और जब 'अर्जुन' पद का अर्थ 'सहस्रबाहु' है यह समझ लिया जाय तब 'राम' शब्द का 'परशुराम' अर्थ समझा जा सकता है। इस कारण इस उदाहरण मे अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। अतः 'विरोधिता' के उदाहरण के दो पदो मे से एक पद ऐसा होना चाहिए, जिसका अर्थ निर्णीत हो। तभी उसके विरोध का स्मरण होगा और उस विरोध के अनुसधान से अनेकार्थक पद की अभिधा का नियमन होगा। सो विरोधिता का उदाहरण 'राम और रावण' होना चाहिए।"

इस कथन मे "विरोधिता' के नियामक होने का 'राम और रावण' यह उदाहरण, जिसके दो पदो मे से एक का अर्थ निर्णीत है, ठीक नही। कारण, यहाँ भी 'राम और लक्ष्मण' इत्यादि की तरह 'साहचर्य'

ही नियामक है। आप कहेंगे—राम का लक्ष्मण के साथ रहना प्रसिद्ध है, रावण के साथ नहीं, अतः यह बात नहीं बन सकती। तो आप भूल करते हैं। हम पहले ही समझा आए हैं कि 'उन दोनो के किसी प्रसिद्ध संबंध से युक्त होने का नाम ही उन दोनो का साहचर्य है', और जिस तरह पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र, सेवक और नगरी का सबध ससार में प्रसिद्ध है उसी तरह शत्रु का सबध भी लोकप्रसिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में भी यदि 'विरोधिता' को पृथक् गिना जाय तो 'मित्रता' आदि को भी पृथक् गिनना पडेगा। इस कारण प्राचीनो के उदाहरण की तरह तुम्हारा उदाहरण भी अशुद्ध ही है।

दूसरे, तुमने जो यह लिखा है कि—"दो पदो मे से एक पद का अर्थ निर्णीत होना चाहिए" सो यह भी असगत ही है। कारण 'हरिनागस्य'* इत्यादि में दोनो अर्थों के अनिर्णीत होने पर भी 'एकवद्भाव' (एकवचन होने) के द्वारा अभिव्यक्त हुए और जिसके विशेषण रूप में कोई खास सबधी नहीं आया है ऐसे (क्योंकि ऐसी जगह किसका किससे विरोध है इस बात को विशेषरूपेण न जानने पर भी केवल एकवचन से ही विरोध प्रतीत हो जाता है) विरोध के कारण एक-साथ दोनों विरोधियो मे अभिधा का नियमन हो जाता है—अर्थात् 'हरि' का अर्थ केवल 'सिंह' तथा 'नाग' का अर्थ केवल हाथी' समझ में आ जाता है।

तीसरे, अप्पय दीक्षित ने जो यह लिखा है कि—"रामार्जुनगतिस्तयोः (उन दोनो की गति राम और अर्जुन की सी है) यह 'अन्य

---

* सस्कृत व्याकरण के अनुसार जिनमें सार्वदिक विराध होता है उनका द्वद्व-समास करने पर "येषा च विरोधः शाश्वतिक (२।४।९)' सूत्र द्वारा एकवचन हो जाता है।

शब्द की सन्निधि' का उदाहरण है।" वह भी ठीक नहीं। कारण तुमने जो 'निषध पश्य भूभृतम् (निषध राजा को देख)' और 'नागो दानेन राजते (हाथी मद से शोभित होता है)' ये 'शब्दातर-सन्निधि' के उदाहरण लिखे हैं उनमें, अभिधा का विषय जब तक नियत न हो जाय तब तक, अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि 'भूभृत्' शब्द का अन्वय 'निषध' शब्द के साथ तभी हो सकता है जब कि उसका अर्थ 'राजा' माना जाय, 'पर्वत' मानने पर नहीं, और इसी प्रकार 'नाग' और 'दान' शब्द का अन्वय भी तभी हो सकता है जब कि उनका क्रमशः 'हाथी' और 'मद' अर्थ माना जाय, 'सर्प' और 'त्याग' मानने पर नही। सो उन्हे 'शब्दातर-सन्निधि' का उदाहरण मानना उचित है, क्योकि वहाँ अन्य शब्द के साथ अन्वय न हो सकने के कारण ही अभिधा का नियमन होता है। पर "रामार्जुनगतिस्तयोः" इस जगह तो 'वे दोनों रघुनाथ और अर्जुन की तरह पराक्रमशाली है' इत्यादि अन्य अर्थ के विषय मे इन पदों का प्रयोग करने पर भी अन्वय हो सकता है—अन्वय में कुछ गड़बड़ नहीं होगी, अतः बड़ी भारी विलक्षणता होने के कारण यह 'शब्दानर-सन्निधि' का उदाहरण नहीं हो सकता।

अब यदि आप कहे कि यह सब होने पर भी 'काव्य-प्रकाश' में जो "रामार्जुनगतिस्तयोः—उन दोनो की राम और अर्जुन की सी गति है" यह 'विरोधिता' का उदाहरण लिखा है उसकी असगति तो रह ही गई—उसमें जो अन्योन्याश्रय दोष दिखाया गया था उसे तो आपने हटाया नहीं। सो यह भी नहीं। उस वाक्य का अर्थ यो कीजिए कि—तयोः=जिनका विरोध प्रसिद्ध है उन किन्हीं दोनो का, **रामार्जुन-गतिः** = परशुराम और सहस्रबाहु के समान आचरण है। ऐसी दशा में प्रकरणवशात् विरोध की प्रतीति हो जायगी—'उन दोनो का नाम लेते ही विरोध याद आ जायगा। और तब उस विरोध के कारण

एक साथ परशुराम और सहस्रबाहु अर्थों में 'राम' और अर्जुन' शब्दों की अभिधा का नियमन बन सकता है।

आप कहेंगे—इस उदाहरण मे 'प्रकरण' की अपेक्षा कोई विशेषता न हुई—जब प्रकरण-प्राप्त विरोध को नियामक माना जाता है तो सीधा यों ही क्यो नहीं कह देते कि इस उदाहरण मे, 'प्रकरण' ही नियामक है। सो भी नहीं। क्योंकि विरोध यद्यपि प्रकरणागत है, तथापि जिनमे शक्ति का नियमन किया जा रहा है वे 'परशुराम' और 'सहस्रबाहु' तो प्रकरणागत हैं नहीं—अतः 'राम और अर्जुन' शब्दो की शक्ति का नियमन प्रकरण नही कर सकता, विरोध ही कर सकता है। सो 'काव्यप्रकाश का उदाहरण ठीक ही है।

यह तो हुई 'प्रसिद्ध वैर' रूपी विरोधिता की बात। अब दूसरी विरोधिता 'एक साथ न रहने' की बात सुनिए। वह 'छाया और धूप' इत्यादि में समझनी चाहिए। यहाँ यद्यपि 'छाया' शब्द के सूर्य की स्त्री, काति, प्रतिबिंब और धूप न होना आदि अनेक अर्थ हैं, तथापि 'धूप' शब्द के साथ आने से उसका अर्थ 'धूप न होना' ही समझा जाता है, अन्य नही।

५—अर्थ

प्रयोजन को 'अर्थ' कहते है, जो कि चतुर्थी (विभक्ति) आदि का वाच्य होता है। जैसे "**स्थाणुं भज भवच्छिदे**—अर्थात् ससार के छेदन करने के लिये 'स्थाणु' का भजन कर"। (यहाँ पर 'स्थाणु' शब्द के शिव और ठूँठ (सूखा पेड़) दोनो अर्थ हो सकते हैं, तथापि 'ससार का छेदन करना' रूपी प्रयोजन 'स्थाणु' शब्द की शक्ति का 'शिव' अर्थ में नियमन कर देता है, क्योकि यह प्रयोजन ठूँठ से सिद्ध नहीं हो सकता।

आप कहेंगे—बताइए, इस उदाहरण में 'अर्थ' का 'लिंग' से क्या भेद हुआ ? हम कहते हैं—'लिंग' शिव के उस धर्म का नाम हो सकता है जो शिव के अतिरिक्त अन्य किसी में न रहता हो, और अर्थ तो शिव के भजन आदि का कार्य है, न कि शिव में रहनेवाला धर्म। (अर्थात् 'ससार का छेदन' शिव मे रहनेवाला धर्म नहीं, किंतु शिव के भजन का कार्य (फल) है। अतः स्पष्ट ही भेद है।

आप कहेंगे—यह ठीक नही। कारण, 'संसार का छेदन' यद्यपि शिव का धर्म नहीं है, तथापि 'ससार के छेदन को उत्पन्न करनेवाली भजन-क्रिया का 'कर्म' होना तो ('स्थाणु' पद के अन्य अर्थ) ठूँठ मे न रहनेवाला शिव का धर्म है ही—कोई संसार का छेदन करने के लिये ठूँठ का भजन करने तो जायगा नहीं। इसका उत्तर यह है कि—आपका कहा हुआ विशिष्ट धर्म—'ससार के छेदन को उत्पन्न करनेवाली भजन-क्रिया का कर्म होना'—शाब्दबोध के अनतर होनेवाले मानस बोध का विषय है (अर्थात् 'ससार के छेदन के लिये स्थाणु का भजन कर' इन उदाहरणों के शब्दो द्वारा यह धर्म नहीं ज्ञात होता, किंतु अर्थ समझ लेने के अनतर मन में सोचने पर ज्ञात होता है), कारण मत-विशेष के अनुसार शाब्दबोध में सदा क्रिया अथवा कर्त्ता ही मुख्य विशेष्य (परम प्रधान) हुआ करते हैं—वहीं जाकर बोध की समाप्ति होती है। सो '···भजन क्रिया का···कर्म होना' प्रस्तुत शाब्दबोध का विषय नहीं है, अतः 'लिंग' से 'अर्थ' का भेद सिद्ध हो जाता है। (तात्पर्य यह कि 'अर्थ' के स्थल मे, मानस बोध मे लिंग के नियामक होने पर भी, शाब्दबोध मे लिंग के नियामक न हाने के कारण लिंग का दखल यहाँ नहीं हो पाता।

कुछ (प्राचीन) विद्वान् इसका यह भी उत्तर देते हैं कि "किसी एक पद के ऐसे अर्थ का नाम 'लिंग' है, जो कि किसी अन्य अर्थ से

अन्वित न होते हुए ही प्रस्तुत वाच्य अर्थ का धर्म हो और उस शब्द के अन्य वाच्य अर्थों से सबध न रखता हो, जैसे 'कुपितो मकरध्वजः' इत्यादि मे 'कोप' आदि। पूर्वोक्त धर्म (ससार के छेदन करनेवाली भजन-क्रिया का कर्म होना) तो वैसा—अर्थात् एक पद का अर्थ—है नही, अतः वह लिंग नहीं है।"

६—प्रकरण

वक्ता और श्रोता की बुद्धि मे रहनेवाला होना 'प्रकरण' कहलाता है।

जैसे—राजा को राजा को सबोधन करके कोई सेवक "**सर्वं जानाति देवः** (आप सब जानते हैं)" यह कहे तो इस वाक्य में 'देव' पद के 'देवता' और 'आप' आदि अनेक अर्थ होने पर भी 'आप' अर्थ में ही शक्ति का नियमन हो जाता है। (कारण, वहाँ कहनेवाले और सुननेवाले दोनो की बुद्धि मे 'आप' अर्थ ही रहता है—उनका अन्य किसी अर्थ की तरफ ध्यान ही नहीं जाता।)

७—लिंग

'लिग' उस धर्म का नाम है, जो अनेकार्थक पदो के अन्य अर्थों में न रहते हुए केवल उसी अर्थ में रहता हो और जिसका साक्षात् शब्द द्वारा ज्ञान होता हो (न कि पूर्वोक्त 'भजनक्रिया के कर्म होने' की तरह मन आदि द्वारा)।

जैसे—"**कुपितो मकरध्वजः** (कामदेव कुपित हो गया)" यहाँ 'मकरध्वज' पद के कामदेव और समुद्र आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। उनमें से यहाँ कामदेव अर्थ ही लिया जाता है। (कारण, 'कोप' कामदेव में ही रह सकता है, समुद्र में नहीं, क्योंकि समुद्र जलरूप जड़ है।)

८—अन्य शब्द की सन्निधि

अनेकार्थक पद के केवल एक अर्थ से संबंध रखनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के भी वाचक पद का समीपवर्त्ती होना—अर्थात् ऐसे दो अनेकार्थक पदों का पास-पास होना जिनका कोई एक अर्थ ही परस्पर संबंध रखता हो—'अन्य शब्द की संनिधि' कहलाता है।*

जैसे—"करेण राजते नागः (हाथी सूँड से शोभित होता है)" इस जगह 'कर' पद के भी हाथ, सूँड़ आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं और 'नाग' पद के भी हाथी, साँप आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं; पर नाग' पद को लेकर 'कर' पद की शक्ति का 'सूँड़' अर्थ मे और 'कर' पद को लेकर 'नाग' पद की शक्ति का 'हाथी' अर्थ मे नियमन हो जाता है।

आप कहेंगे—यहाँ अन्योन्याश्रय दोष क्यों नहीं होता ? क्योंकि दोनो शब्द एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। तो यह ठीक नहीं। कारण, यहाँ एक शब्द की शक्ति का नियमन दूसरे शब्द की शक्ति के नियमन की अपेक्षा नहीं रखता, किंतु 'कर' शब्द और 'नाग' शब्द दोनों में से एक का भी यदि 'हाथ' अथवा 'साँप' आदि कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करें तो अन्वय नहीं बन सकता; अतः दोनों की शक्ति का नियमन साथ ही साथ हो जाता है। अर्थात् ऐसी जगह अन्वय का न बन सकना उन दोनों शब्दों की शक्ति को नियमित करता है, न कि वे शब्द। अतः अन्योन्याश्रय नहीं होता।

---

* अन्य सन्निधि में दोनों पदों का नानार्थक होना सिद्धांत नहीं है, जैसा कि 'विरोधिता' में प्राचीनों के समर्थनग्रंथ से स्पष्ट है।

प्राचीनों के उदाहरण पर विचार

प्राचीन आचार्यों ने ‘अन्य शब्द की सन्निधि’ का उदाहरण “देवस्य पुरारातेः” लिखा है। यहाँ ‘देव’ शब्द से ‘देवता’ और ‘राजा’ अर्थो की और ‘पुराराति’ शब्द से नगर के शत्रु और ‘किसी असुर (त्रिपुरासुर) के शत्रु’ अर्थों की उपस्थिति होती है, सो ये दोनो शब्द अनेकार्थक हैं। और जैसे ‘किसी असुर का शत्रु कोई देवता’ यह अर्थ अन्वित हो सकता है, वैसे ही ‘किसी नगर का शत्रु कोई राका’ यह अर्थ भी अन्वित हो सकता है, फिर शक्ति का नियमन कैसे होगा ? अर्थात् जब दोनो अर्थों मे दोनो अर्थो का सबध ठीक बैठ जाता है तब क्या बाधा है कि वे शब्द एक अर्थ के वाचक होगे और अन्य के नहीं ?

आप कहेगे—नही, यहाँ ‘पुराराति’ शब्द योगरूढ है और रूढि-शक्ति योगशक्ति को हटा दिया करती है, इस कारण ‘पुराराति’ शब्द का अर्थ शिव ही होता है—अन्य कुछ नही, और वह ‘देव’ शब्द की शक्ति का नियामक है—अर्थात् ‘पुराराति’ पद की सन्निधि से ‘देव’ शब्द का अर्थ ‘देवता’ ही किया जा सकता है, ‘राजा’ नही। तो यह भी नही हो सकता। क्याकि ‘पुराराति’ शब्द के रूढ होने में कोई प्रमाण नही। यदि कहो कि—यहाँ ‘पुरारातेः’ पाठ नहीं है, किंतु ‘त्रिपुरारातेः’ पाठ है और ‘त्रिपुराराति’ पद योगरूढ है। तथापि ‘त्रिपुराराति’ पद द्वारा उपस्थित करवाया गया ‘त्रिपुरासुर का वैरी होना’ रूपी धर्म ‘देव’ पद के अर्थ ‘शिव’ का अनन्यसाधारण धर्म है—वह शिव को छोड़कर अन्य किसी में नहीं रहता। इस कारण इस उदाहरण में शक्ति का नियामक ‘लिंग’ हुआ। सो ‘देवस्य त्रिपुरा-रातेः’ ‘लिंग’ का उदाहरण हो सकता है, ‘अन्य शब्द की सन्निधि’ का नहीं।

पर यदि प्राचीनो का 'लिंग' के विषय में यह आशय माना जाय कि "जो एक पद का अर्थ—जैसे 'कोप' आदि—अन्य किसी पद के अर्थ से अन्वित न होते हुए ही प्रस्तुत वाच्यार्थ का धर्म हो और उस शब्द के अन्य वाच्यार्थो से पृथक् रहनेवाला हो—उनमें न रहता हो, वह यहाँ 'लिग' पद से वर्णन किया जाता है—उसे लिंग माना जाता है (जैसा कि 'अर्थ' के प्रकरण मे लिख आए हैं)" तब तो 'देवस्य त्रिपुराराते:' को 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण मानने मे कोई दोष नही। कारण, 'अराति' पद का अर्थ जो 'शत्रुत्व' है वह 'त्रिपुर' से अन्वित होकर ही 'देव' शब्द के अन्य वाच्यार्थों से पृथक् और केवल 'शिव' रूप वाच्य अर्थ मे रहनेवाला हो सकता है। अतः प्राचीनो के हिसाब से इसे लिंग का उदाहरण नही, किंतु 'अन्य शब्द की सन्निधि' का उदाहरण माना जा सकता है।

प्राचीनों के लक्षणार्थ पर विचार

'काव्यप्रकाश' के टीकाकारो ने लिखा है—"अन्य शब्द की सन्निधि' का अर्थ 'अनेकार्थक' शब्द का ऐसे शब्द के साथ मे होना है कि जो उस अर्थ से अन्वित होनेवाले अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ का बोध न करवाता हो।" पर यह टीकाकारो का लक्षण पूर्वोक्त "करेण राजते नागः" इत्यादि में नही घट सकता, क्योकि वहाँ तो दोनो पद अन्यान्य अर्थों का भी बोध करवाते हैं। यदि उस उदाहरण के लिए (गिनाए हुए नियामको के अतिरिक्त) कोई अन्य नियामक ढूँढा जाय तो गौरव होता है—व्यर्थ ही उनकी सख्या अधिक हो जाती है। एव काव्यप्रकाश के मूल मे लिखे हुए 'कुपितो मकरध्वजः' आदि लिग के उदाहरण में अतिव्याप्ति भी हो जाती है, अतः उस अर्थ की उपेक्षा ही उचित है* और हमारा ही लक्षण ठीक है।

---

* अतएव (प्राचीनों के हिसाब से) 'अन्य पदार्थों से अनन्वित

९—सामर्थ्य

कारणता का नाम सामर्थ्य है।

जैसे—"मधुना मत्तः कोकिलः (कोयल 'मधु' के कारण मत्त है)" यहाँ 'मधु' शब्द के 'वसंत' और 'मदिरा' आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं, पर 'कोयल के मद का उत्पादक (कारण) होना' 'मधु' शब्द की शक्ति को 'वसत' अर्थ में ही नियत कर देता है।

यहाँ यह कहा जाता है कि—"यह 'लिंग' का उदाहरण नहीं हो सकता। कारण, मत्त कर देने की शक्ति तो मदिरा में भी है, पर कोयल के मत्त करने की शक्ति वसंत मे ही है, मदिरा मे नहीं।" ऐसा कहने-वालो से हम पूछते हैं कि—"सामर्थ्य 'लिंग' के अतर्गत क्यो नहीं हो जाता—इसे उससे पृथक् क्यो माना जाता है?" इस शका का यह उत्तर कैसे बन सकता है?

आप कहेंगे—कि मत्त कर देने का सामर्थ्य मदिरा में भी है, केवल वसंत में ही नहीं, अतः वह सामर्थ्य 'लिंग' नहीं हो सकता, क्योकि 'लिग' उस धर्म का नाम है जो असाधारण हो—अर्थात् केवल उसी वस्तु में रहता हो। पर यह ठीक नही। कारण, मत्त कर देने का

केवल एक पद के अर्थ' को ही 'लिंग' मानना अनुचित है, क्योंकि ऐसा करने से 'देवस्य त्रिपुराराते:' न 'लिंग' का उदाहरण हो सकता है, न 'अन्य शब्द की सन्निधि' का, कारण, न वहाँ अन्य पद से अनन्वित एक पद का अर्थ है और न अनेकार्थक दो पदों का साथ-साथ प्रयोग।

सामार्थ्य यद्यपि मदिरा में है तथापि कोकिल के मत करने का सामर्थ्य तो वसत में ही रहता है—वह तो उसका असाधारण धर्म है, अतः उसे 'लिंग' मानने में क्या बाधा है? आप कहेंगे—जो मदिरा प्राणिमात्र को मत्त करने का सामर्थ्य रखती है—उसमें कोयल के मत्त करने का भी सामर्थ्य है ही। तो आपने जो 'सामर्थ्य' को वाचकता का नियामक माना सो व्यर्थ हुआ, क्योंकि अब तो 'मधु' शब्द के दोनो अर्थ हो सकते हैं—कोई बाधा तो है नहीं। जब कोयल के मत्त करने का सामर्थ्य वसत में भी है और मदिरा में भी, तब फिर 'मधु' शब्द की शक्ति को एक अर्थ में कैसे रोका जा सकता है? और पहले जो आप कह आए हैं कि 'कोयल को मत्त करने का सामर्थ्य वसत में ही है, मदिरा मे नहीं' सो भी विरुद्ध पडता है। यदि कहो कि साधारणतया मत्त करने का सामार्थ्य दोनो मे होने पर भी कोयल को मत्त करने का सामार्थ्य वसत ही मे प्रसिद्ध है, तो असाधारण धर्म होने के कारण पुनः 'लिंग' होने में कोई गड़बड रही नहीं; क्योकि मदिरा मे साधारण सामर्थ्य है और वसत में असाधारण।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि—'लिग' से 'सामर्थ्य' का भेद हो ही नहीं सकता। दो तरह से हो सकता है—या तो (हमारे हिसाब से) यों मानिए कि 'लिग' उसको कहते हैं जा शब्द से प्रतीत हो, जैसे 'कुपितो मकरध्वजः' इस उदाहरण मे कोप, और शब्द के द्वारा जिसका बोध न हो अर्थात् जो मन आदि से समझा जाय उसको सामर्थ्य कहते हैं—जैसे 'मधुना मत्तः कोकिलः' इस उदाहरण मे 'मधु से मत्त कोकिल' यह अर्थ शब्द से समझा जाता है और 'कोकिल मादनकारणता' मनसे समझी जाती है। अथवा (प्राचीनों के हिसाब से) यो मानिए—कि 'लिंग' में (अनन्वित) एक पद का अर्थ ही असाधारण धर्मरूप होता है और 'सामर्थ्य' में तृतीया विभक्ति, 'मत्त'

और 'कोकिल' आदि अनेक पदो का अर्थ (अन्वित होकर) 'कारणता' समझाता है। अतः 'लिंग' और 'सामर्थ्य' में भेद हो जाता है।

१०—औचिती

योग्यता का नाम 'औचिती' है।

जैसे—"पातु वो दयितामुखम् (प्रियतमा का 'मुख' आपकी रक्षा करे)" यहाँ 'मुख' शब्द के 'मुँह' और 'सम्मुख होना' आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। पर यहाँ प्रियतमा का मुख जिस 'रक्षा' क्रिया का कर्ता है उस रक्षा के 'कर्म' रूप मे कामार्त्त पुरुषो का आक्षेप होता है कि जिनके लिए प्रार्थना की गई है 'आप' महाशय कामार्त्त हैं यह स्पष्ट सूचित होता है। अतः जिन 'आप' को सबोधित किया गया है, उनकी रक्षा प्रियतमा के सम्मुख होने से ही हो सकती है, 'मुँह' मात्र से नही, क्योकि प्यारी का मुख विमुख रहकर उनकी रक्षा नहीं कर सकता। अतः 'मुँह' और 'सम्मुख होना' दोनो अर्थों का बोध करानेवाले 'मुख' शब्द की शक्ति का 'रक्षा करने की योग्यता' ने (क्योंकि वह केवल मुख मे नहीं है) 'सम्मुख होने' अर्थ मे ही नियमन कर दिया।

११—देश

नगर आदि का नाम 'देश' है।

जैसे "भात्यत्र परमेश्वरः (परमेश्वर यहाँ सुशोभित हो रहे हैं)" इत्यादिक मे 'परमेश्वर' आदि शब्दो की शक्ति का, 'परमात्मा' और 'राजा' आदि अनेक अर्थ होने पर भी, एक ही अर्थ 'राजा' में नियमन हो जाता है, क्योंकि राजा का कभी नगरादि से सबध रहता है और कभी नहीं—कभी वह वहाँ रहता है कभी अन्यत्र, 'सो न रहने' की निवृत्ति के लिये अधिकरणवाची 'यहाँ' आदि शब्द सार्थक हो सकता है, और परमात्मा तो सर्वव्यापी है अत, उसके न रहने का

स्थान कहीं भी न होने के कारण अधिकरण का निरूपण व्यर्थ हो जायगा।

इसी तरह **"वैकुठे हरिर्वसति—** (वैकुंठ में हरि रहते हैं)" यहाॅ भी वैकुठरूप अधिकरण के कारण 'हरि' शब्द की शक्ति का (विष्णु अर्थ में) नियमन समझिए।

पहले उदाहरण मे अन्य अर्थ (परमात्मा) के ग्रहण करने पर अधिकरण का कथन व्यर्थ हो जाता है और दूसरे उदाहरण में वैसा (अन्य अर्थ) करने पर अन्य किसी का उस अधिकरण (वैकुंठ) में रहना अप्रसिद्ध है। यह दोनो उदाहरणो की विशेषता है।

१२—काल

दिन आदि को 'काल' कहा जाता है।

जैसे **"चित्रभानुर्दिने भाति** (दिन में 'चित्रभानु' शोभित होता है)" इत्यादि मे 'चित्रभानु' आदि पदो की शक्ति का 'सूर्य' आदि अर्थों में ही नियमन हो जाता है—उनके 'अग्नि' आदि अर्थ नही हो सकते, क्योकि दिन में अग्नि का प्रकाश मन्द रहता है।

इसी तरह **"चातुर्मास्ये हरिः शेते** (चौमासे मे हरि सोते हैं)" इत्यादि मे भी काल शब्द-शक्ति का नियामक होता है—वहाॅ 'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु ही हो सकता है, अन्य नहीं।

१३—व्यक्ति

पुल्लिंग, स्त्रीलिग और नपुंसक लिगों को 'व्यक्ति' कहा जाता है।

जैसे—**"मित्रो भाति"** और **"मित्रं भाति"** इन दोनो स्थानो पर एक ही 'मित्र' शब्द की शक्ति, एक जगह पु ल्लिग के कारण, 'सूर्य'

अर्थ में और दूसरी जगह नपुंसक लिंग के कारण 'सुहृत्' अर्थ में नियत हो जाती है।

इसी तरह **"नभो भाति"** मे 'नभ' शब्द की शक्ति आकाश अर्थ में और **"नभा भाति"** में श्रावण (मास) अर्थ मे नियत हो जाती है।

१४—स्वर

उदात्त आदि 'स्वर' कहलाते हैं।

जैसे **"इन्द्रशत्रुः"** इस वैदिक शब्द को समास के कारण अतोदात्त पढा जाय तो तत्पुरुष समास होने के कारण 'इद्र का शत्रु (मारनेवाला' अर्थ होता है और यदि पूर्व पद की प्रकृति (इद्र शब्द) के स्वर के अनुसार अद्युदात्त पढा जाय तो बहुव्रीहि समास होने के कारण 'इद्र जिसका शत्रु (मारनेवाला) है' यह अर्थ होता है।

१५—अभिनयादिक

"सयागो विप्रयोगश्च......" इन कारिकाओ में जो इन सब नियामको की गणना के अनतर 'आदि' शब्द है, उससे अभिनयादिक लिए जाते हैं। जैसे **"एद्दहमेत्तत्थणिआ** (इतने बडे स्तनोंवाली)" इत्यादि में 'इतने बडे' शब्द के अर्थ 'सुपारी से लेकर घडे तक के सब आकार हो सकते हैं—उस शब्द का कोई एक अर्थ नही। उनमें से वक्ता के हाथ का अभिनय जैसा होगा—जैसी मुद्रा उसने दिखाई होगी—उसी के अनुसार उस परिमाण के अर्थ में शब्द की शक्ति का नियमन हो जाता है।

उपसंहार

यह सब तो प्राचीनो की बात हुई—उनके इस विषय में जो विचार थे सो प्रकट किए गए। पर पंडितराज का कहना है कि इन पूर्वोक्त

नियामको में से अर्थ, सामर्थ्य और औचिती के उदाहरणों में यथाक्रम चतुर्थी आदि द्वारा, तृतीया आदि द्वारा और अर्थ की योग्यता द्वारा समझाया हुआ कार्य-कारणभाव ही नियामक है—उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। अतः उन्हें यद्यपि भिन्न-भिन्न नही मानना चाहिए, तथापि उस कार्य-कारण भाव के बोधकों (चतुर्थी आदि) के विलक्षण होने के कारण प्राचीनो ने उन्हें विलक्षणरूप से निरूपण किया है।

वस्तुतः तो 'सयोगादिको' (इन सभी) को अनेकार्थक शब्द के सब अर्थों में साधारण मानने पर तो अनेकार्थक शब्द की शक्ति का किसी एक अर्थ में सकोच नहीं हो सकता—अर्थात् वह शक्ति उस शब्द द्वारा किसी एक ही अर्थ का प्रतिपादन करवा सके, अन्य का नहीं—यह असभव है। कारण, ऐसी दशा में जो उस शक्ति को नियत करनेवाले हैं 'सयोगादिक', वे स्वयं असकुचित हैं—अर्थात् किसी एक अर्थ से ही सबध नहीं रखते, किंतु साधारण हैं। और यदि 'प्रसिद्धता'—अर्थात् वे उसी अर्थ में प्रसिद्ध हैं अन्य में नहीं—इत्यादि के कारण उन्हें असाधारण रूप में समझा जाय—यह माना जाय कि वे उस एक अर्थ के असाधारण धर्म हैं—तो ये सभी (सयोगादिक) 'लिंग' के भेद हो जाते हैं, उससे सर्वथा स्वतत्र नहीं रह सकते। यह समझ लेने की बात है।

———

शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनियों

के उदाहरण

शब्द-शक्ति-मूलक अलंकार-ध्वनि

उपमा अथवा रूपक की ध्वनि, जैसे—

करतलनिर्गलदविरलदानजलोल्लासितावनीवलयः ।
धनदाग्रमहितमूर्त्तिर्जयतितरां सार्वभौमोऽयम् ॥

कोई कवि किसी राजा की स्तुति करता है—जिसने (अपनी) हथेली से गिरते हुए सतत 'दान' (सकल्प) के जल से भूमडल को आनंदित कर दिया है और जिसका स्वरूप धन देनेवालो मे सर्वप्रथम प्रशस्त है ऐसा यह सार्वभौम (सब पृथ्वी का पति) सबसे उत्कृष्ट है।

यहाँ राजा का प्रकरण है, इस कारण 'कर', 'दान', 'धनद' और 'सार्वभौम' शब्दो की शक्ति सकुचित कर देने पर भी—अर्थात् उन्हें केवल हाथ, दान, द्रव्यदाता और चक्रवर्ती अर्थों के प्रतिपादक मान लेने पर भी—उस (शक्ति) को मूल मानकर प्रकट हुई (अर्थात् अभिधामूलक) व्यजना द्वारा जो यह द्वितीय अर्थ प्रतीत होता है कि—'जिसकी सूँड़ से गिरते हुए मद के अनल्प जल से भूमडल प्रमुदित हो रहा है और जिसका स्वरूप कुबेर के आगे प्रशसित है ऐसा यह 'सार्वभौम' (उत्तर दिशा का दिग्गज) अत्यत उत्कृष्ट है।'

वह असबद्ध रूप मे अभिहित न हो—उसका भी प्रकरण-प्राप्त अर्थ के साथ कुछ सबध हो जाय, नही तो वह लटकता ही रह जायगा—इसलिये प्रधान वाक्यार्थ (दोनो अर्थों को मिलाकर होनेवाले सम्मिलित

वाक्यार्थ) के रूप मे प्रस्तुत (प्रकरण-प्राप्त) अर्थ के उपमेय और अप्रस्तुत अर्थ के उपमान होने की कल्पना की जाती है। अतः इसे 'उपमा-अलकार' की ध्वनि कहा जाता है—अर्थात् यहॉ पूर्वोक्तरीत्या प्रस्तुत अर्थ के साथ अप्रस्तुत अर्थ की उपमा अभिव्यक्त हाती है।

उपमा की अभिव्यक्ति पर विचार

यहाँ एक बात विचारने की है। वह यो है कि—इस काव्य (उपर्युक्त पद्य) को 'ध्वनि' (उत्तमोत्तम) कहना अनुचित है, किंतु जिस प्रकार अनेकार्थक विशेषणोवाली समासोक्ति (जैसे—

"अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः।

यहॉ प्रस्तुत अर्थ है—देख, अरुणवर्ण चन्द्रमा पूर्वदिशा के प्रारंभ का स्पर्श कर रहा है—उदय हो रहा है। पर, 'रक्त', 'मुख' और 'चुम्बति' पदो के श्लिष्ट होने तथा 'ऐंद्री' के स्त्रीलिग और 'चद्रमा.' के पुल्लिग होने से एक ऐसा व्यवहार प्रतीत हो जाता है कि—पुरुष-चद्रमा आसक्त होकर पूर्वदिशा-रूपी स्त्री का मुख चूम रहा है। इत्यादि) में अप्रस्तुत व्यवहार (चूमना-आदि) व्यग्य होने पर भी प्रस्तुत धर्मी (चद्रमा) के ऊपर आरोपित किया जाने के कारण प्रस्तुत विषय का उपस्कारक (सुशोभित करनेवाला—सुंदर बनानेवाला) होने से गुणी-भूत माना जाता है, उसी तरह यहाँ भी होना उचित है—अर्थात् इस पद्य को 'ध्वनि' नहीं, किंतु 'गुणीभूतव्यग्य' माना जाना चाहिए। और आप यह तो कह नहीं सकते कि 'व्यंग्य उपमा' प्रस्तुत अर्थ को उपस्कृत करनेवाली नहीं होती—प्रधान ही होती है, क्योकि "उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम् (देखिए २७३ पृ०)" और "भद्रात्मनो*

---

* भद्रात्मनो दुराधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नते. कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्॥

दुराधिरोहतनोः ....'' इत्यादि प्राचीनो के पद्यो में तथा "करत-लनिर्गल-दविरल .. ..'' इत्यादि उपर्युक्त आपके पद्य मे व्यग्य उपमा से राजा का उत्कर्ष सर्वानुभवसिद्ध है। और यदि अनुभव का अपलाप किया जाय—इतने पर भी कहा जाय कि नहीं, उपमा ही प्रधान है—तो हम भी बिना कष्ट के कह सकते हैं कि समासोक्ति मे भी अप्रस्तुत व्यवहार प्रस्तुत का उपस्कारक नहीं होता।

आप कहेंगे—समासोक्ति मे और इस स्थल मे भिन्नता है, अत आपका यह दृष्टात ठीक नही बैठता, क्योकि समासोक्ति मे अप्रस्तुत व्यवहार के अनेकार्थ शब्दो द्वारा उपस्थित करवाए जाने पर भी, जिसमे वह व्यवहार रहता है वह व्यक्ति अथवा वस्तु अनेकार्थ शब्द द्वारा उपस्थित नहीं करवाई जाती—अर्थात् जैसे प्रस्तुत उदाहरण मे 'सार्वभौम' शब्द अनेकार्थक है वैसे समासोक्ति में 'चद्रमा' अनेकार्थक नहीं है। तो इससे क्या हो गया? व्यवहारवान् पदार्थ के अनेकार्थक शब्द द्वारा उपस्थापित हो जाने मात्र से अप्रस्तुतधर्मी (गज) द्वारा निरूपण की गई उपमा का प्रस्तुत धर्मी (राजा) का उपस्कृत करना

यहाँ प्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से आक्रमण किया जा सकता था, जिसके कुल की उन्नति विशाल थी, जिसने बाणो का पक्का अभ्यास किया था, जिसका ज्ञान अबाधित था, जो शत्रुओं का निवारण करनेवाला था और जिस कल्याण-रूप राजा का हाथ निरतर दान के जलों की सिचाई से सुदर रहता था।

अप्रस्तुत अर्थ है—जिसके शरीर पर कष्ट से चढ़ा जा सकता था, जिसके मेरु दड (पीठ) ने बडी उन्नति की थी—बहुत ऊँचा था, जिसने भौंरों को इकट्ठा कर रक्खा था और जिस 'भद्र' जाति के उत्कृष्ट हाथी की सूँड निरतर मद के जल की सिंचाई से सुदर रहती थी।

निवृत्त नहीं हो सकता, जिससे कि गुणीभूतव्यङ्ग्यता न हो। दृष्टांत और दार्ष्टांतिक के किसी अश में भेद होने पर भी दोष का उद्धार कैसे हो गया? फिर भी उपमा तो उपस्कारक ही रही, प्रधान तो हो नहीं गई।

आप कहेंगे—उपमादिक अलकार, वस्तु की अपेक्षा, स्वभावतः सुन्दर हुआ करते हैं और ऐसे काव्यो की प्रवृत्ति के उद्देश्य भी व्यग्य अलकार ही हैं—ऐसे काव्य बनाए ही इसलिये जाते हैं कि उनमे अलकारो का अभिव्यक्ति हो, अत॰ वस्तु की अपेक्षा अलकारो की गौणता नहीं हो सकती, जैसे कि केवल वस्तु से अभिव्यक्त अलकारो की वस्तु की अपेक्षा गौणता नहीं होती। दोनो का बराबर हिसाब है—जब वहॉ वैसा माना जाता है तो यहॉ ऐसा क्यो माना जाय? रही समासोक्ति की बात। सो वहॉ तो जो अप्रस्तुत व्यवहार समासोक्ति का अगरूप होता है वह अलकार न होने के कारण वस्तु का उपस्कारक हो सकता है।

पर आप का यह कहना ठीक नहीं। कारण, यह माना जाता है कि—"बाधे दृढेऽन्यसाम्यात् कि दृढेऽन्यदपि बाध्यताम्=अर्थात् (उपस्थित की गई) बाधा यदि शिथिल है तो दूसरे की समानता से—केवल दृष्टात से—क्या हो सकता है? आप दृष्टात क्यो दे रहे हैं, बाधा का ही खडन क्यों नही कर देते, और यदि बाधा दृढ है—आप उसका खडन नहीं कर सकते—तो जिसकी समानता बता रहे हैं उसे भी वह बाधित कर देगी—आपका प्रस्तुत उदाहरण और दृष्टात दोनो ही खडित हो जायँगे।" (कहने का तात्पर्य यह कि आप जो यह कह रहे हैं कि 'जिस तरह वस्तुमात्र से अभिव्यक्त अलकार वस्तु की अपेक्षा गौण नही हो सकते, उसी तरह यहॉ भी अलकार-रूप उपमा राजा के वर्णन की अपेक्षा गुणीभूत नहीं हो सकती' सो ठीक

नहीं। कारण, हमने जो बाधा उपस्थित की है उसका आपने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया—आप यह नही समझा पाए कि उपस्कारक होने पर भी अलंकारो को अन्य का अग क्यो न माना जाय? अतः यह सिद्ध होता है कि हमारी उपस्थित की हुई बाधा दृढ है। यदि ऐसा है तो दृष्टात और दार्ष्टातिक दोनो उससे बाधित हो जायँगे—अर्थात् जिस सिद्धात को आप दृष्टात रून मे दे रहे हैं वह भी खडित हो जायगा।) सो आपकी युक्ति के शिथिल होने के कारण उपमा की 'अपराङ्गता'—अतएव गौणता—दूर नही की जा सकती।

अब यदि कहा जाय कि जिस उपमालंकार को आप 'अपराग—अन्य वस्तु का अग'—कह रहे हैं, उसके शरीर को सिद्ध करनेवाली वस्तुएँ तीन हैं—उपमान, उपमेय और साधारण धर्म। इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु ऐसी नही, क्योकि इन तीनों के बिना उपमा—जिसे सादृश्य कहना चाहिए—सिद्ध नहीं होती। अब सोचिए कि यहाँ ("करतलनिर्गल······" पद्य मे) सादृश्य-रूपी अश से उपमेय के उपस्कृत होने पर भी उपमा 'अपराग—अन्य का अग—न हुई। कारण, हम बता ही चुके हैं कि उपमेय भी उपमा के शरीर को सिद्ध करनेवाला है, अतः अन्य नहीं है। सो उसे उपस्कृत करने से उपमा अपराग कैसे हो सकती है? जैसे कि समासोक्ति मे अप्रस्तुत व्यवहार से प्रस्तुत अर्थ के उपस्कृत होने पर भी समासोक्ति को अपराग नहीं कहा जा सकता, क्योकि समासोक्ति बनती ही है प्रकृत और अप्रकृत दो पदार्थो द्वारा। इसी तरह यहाँ भी होना चाहिए। अर्थात् यहाँ उपमेय प्रकृत है और उपमान अप्रकृत, उनके द्वारा सिद्ध हुई उपमा समासोक्ति की तरह स्वतत्र अलकार रूप ही रहेगी, अपने एक अश रूप उपमेय को उपस्कृत करने के कारण गौण नहीं हो सकती।

तथापि हम कहेंगे कि—या तो समासोक्ति की तरह इस भेद को भी 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' मानना पडेगा,* या इस भेद की तरह समासोक्ति

---

* "गुणीभूतव्यङ्ग्य मानना पडेगा" इस कथन का अभिप्राय यह है कि—उपमा का शरीर उपमान, उपमेय और साधारण धर्म—इन तीनो द्वारा निर्मित होने पर भी उपमेय (प्रकृत अर्थ) तो व्यङ्ग्य है नही, क्योंकि उसका तो अभिधा द्वारा वर्णन है। और शरीर-रूप होने में तीनों की समानता है—उनमें से एक अधिक है और एक न्यून यह तो कहा नही जा सकता। अतः व्यङ्ग्य अंश के, वाच्य अश की अपेक्षा, उत्कृष्ट न होने के कारण यहाँ 'ध्वनि' कहना अनुचित है, 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' कहना ही उचित है।

इसका उत्तर अन्य विद्वान् यो देते हैं कि अलंकारों का रसादिक में उपयोग उद्दीपन के ढग से होता है—अर्थात् वे रसादिक को जोश देनेवाले होते हैं, उसे और भी उत्कृष्ट बना देते हैं। और आलबन की अपेक्षा उद्दीपन का अधिक चमत्कारी होना सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः "करतल ....." आदि पद्यों का वाच्य अर्थ, जो (व्यङ्ग्य उपमा का उपमेय है और राजविषयक प्रेम का) आलबन विभाव है, की अपेक्षा उपमा (जो उद्दीपक है) की उत्कृष्टता होने के कारण यहाँ 'ध्वनि' मानने में कोई बाधा नही। हाँ, रसादिक की अपेक्षा गुणी-भूत कहो तो ऐसा होना हमें स्वीकार है।—(पर ऐसा होना इन भेदो का प्रयोजक नही, क्योंकि रसादिक की अपेक्षा गौण व्यङ्ग्यो को सभी आचार्यों ने 'ध्वनि' रूप माना है, अत. 'ध्वनि' होने के लिये वाच्य से उत्कृष्ट होना ही पर्याप्त है।) सो इस प्रभेद को 'ध्वनि' मानना ठीक ही है।

रही समासोक्ति; जैसे—

को भी 'ध्वनि' कहना पड़ेगा—यह क्या गड़बड़ है कि दोनों के

"आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीमम्भोजिनी क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वङ्गि! पादपतनेन सहस्ररश्मिः॥

हे कृशाङ्गि! देख, न जाने कहीं रात बिताकर अब आया हुआ सहस्ररश्मि (सूर्य), इस समय, विरह के कारण अंग सिकोड़े हुई कमलिनी को 'पादपतन' (पैरों पड़ने; वस्तुतः—किरण डालने) द्वारा प्रातःकाल में प्रसन्न कर रहा है।"

इत्यादि की बात। सो वहाँ तो यह वचन, मुग्धता के कारण बिना खुशामद ही मान छोड़ देनेवाली, नायिका से सखी का है। वह कहना चाहती है कि—"देख, हजार रश्मि (जो मानों उसकी स्त्रियाँ हैं) वाला भी सूर्य जब सवेरे आकर कमलिनी की खुशामद करता है—पैरों पड़ता है—तब वह प्रसन्न होती है और तू वैसे ही प्रसन्न हो गई। थोड़ा तो मान रखती।" यहाँ अप्रस्तुत नायक का व्यवहार (जो व्यंग्य है) जब तक प्रस्तुत सूर्य पर आरोपित नहीं किया जाय, तब तक वाच्य अर्थ नहीं बन सकता। अतः व्यंग्य को गुणीभूत मानना उचित ही है। हाँ, जहाँ पूर्वोक्तरीत्या समासोक्ति में भी वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य की उत्कृष्टता हो वहाँ भले ही 'ध्वनि' मान लीजिए, हमें कोई आपत्ति नहीं।

आप कहेंगे—ऐसा मान लेने पर भी यहाँ उपमालंकार तो इस पद्य को 'ध्वनि' बनाने की योग्यता रखता नहीं, क्योंकि उसके तीन अंशों में से एक अंश वाच्य है। हाँ, उस अलंकार द्वारा अभिव्यक्त राजविषयक प्रेम का उत्कर्ष अवश्य इसे 'ध्वनि' बना सकता है, क्योंकि वह उद्दीपक होने के कारण वाच्य की अपेक्षा उत्कृष्ट है। फिर इसे अलंकारध्वनि कैसे कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर यह

समान होने पर भी एक को 'ध्वनि' कहा जाय और दूसरे को 'गुणीभूत-व्यग्य'।

ऐसे उदाहरणों में उपमा व्यग्य है या रूपक ?

अच्छा, अब एक और बात सुनिए। जहाँ श्लेष होता है वहाँ, दो श्लिष्ट अर्थों का श्लेष के सहारे अभेद माना जाता है, जिसे कि सब आलकारिको ने लिखा है और अनुभव-सिद्ध है। उस अभेद का कारण ढूँढने पर 'दोनो अर्थों के एक पद द्वारा ग्रहीत (ज्ञात) होने' के अतिरिक्त अन्य कोई कारण कहा नहीं जा सकता। बात भी ठीक है—एक पद द्वारा वर्णित अनेक अर्थ भी अभिन्न ही दिखाई देते हैं।

ऐसी दशा मे "उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहम्....." इत्यादिक (अथवा "करतलनिर्गलदविरल..." आदि उदाहृत पद्य) में भी दोनो अर्थों के एक पद द्वारा ग्रहीत होने के कारण दोनों अर्थों का अभेद मानना युक्ति-सिद्ध है। अतः ऐसी जगह अभेद—अर्थात् रूपक—का ही व्यग्य होना उचित है, उपमा का नहीं।

यदि आप कहें कि श्लेष में तो दोनो अर्थ वाच्य होते हैं और दोनो (की अभिव्यक्ति) का समय भी एक ही होता है—अर्थात् दोनों एक साथ ही प्रतीत होते हैं, परतु यहाँ (पूर्वोक्त पद्य में) तो एक अर्थ वाच्य है और दूसरा व्यग्य, एव दोनों का समय भी भिन्न भिन्न है—अर्थात् वाच्य अर्थ पहले प्रतीत होता है और व्यग्य उसके अनंतर। तो यह ठीक नहीं। इतना सा भेद होने के कारण दो अर्थों का अभेद मानना छोड़ा नहीं जा सकता। कारण, व्यंग्य होना और आगे-पीछे

है कि—अलकार द्वारा किए गए उत्कर्ष की ध्वनि में ही 'अलंकार-ध्वनि' होने का व्यवहार है। अतः कोई दोष नहीं। —नागेश

प्रतीत होना अभेद-ज्ञान का बाधक नहीं है—ऐसा होने से अभेद-ज्ञान मे कोई बाधा नही आती ।

इस कारण, काव्यप्रकाश के टीकाकारो का जो यह कथन है कि "रूपक का ज्ञान उपमा के ज्ञान के अधीन है—अर्थात् जब पहले उपमा (साहश्य) का ज्ञान हो ले तब रूपक (साहश्य-मूलक अभेद) का ज्ञान होता है, अतः प्रथम उपस्थित होने के कारण (ऐसे पद्यो मे) उपमा की ही (प्रकृत और अप्रकृत अर्थ के) सबध रूप मे कल्पना करनी चाहिए।" सो अधिक श्रद्धा का पात्र नही है—अर्थात् उस उक्ति पर विश्वास रखकर ऐसे स्थलो पर उपमा को व्यग्य मानना और रूपक को नहीं—यह अनुचित है ।

अन्य अलकार भी शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि में आते है ।

अच्छा, अब फिर प्रस्तुत विषय की तरफ चलिए। इसी तरह अन्य अलकार भी शब्दशक्ति-मूलक अनुरणन (व्यंजना) मे आते हैं। जैसे 'यमुना-वर्णन' मे—

"रविकुलप्रीतिमावहन्ती नर-वि-कुलप्रीतिमावहति,
अवारितप्रवाहा सुवारितप्रवाहा ।"

(जो यमुना सूर्य के कुल को प्रीति-दान करती हुई मनुष्यो और पक्षियो के समूहो को प्रीति-दान करती है। जिसका प्रवाह अनवरुद्ध है और जिस प्रवाह मे सुदर जल उत्पन्न है।)

इस स्थान पर 'नर-वि-कुलप्रीतिमावहति' इस वाक्य के 'मनुष्यो के और पक्षियों के समूहो को प्रीति-दान करती है' इस प्रकरण-प्राप्त

अर्थ के सिद्ध हो जाने पर 'जो सूर्यवश को प्रीति-दान नहीं करती है' यह अप्रस्तुत अर्थ और विरोधालकार प्रतीत होते हैं, वे शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि के विषय हैं। (इसी तरह 'सुवारितप्रवाहा' मे भी 'जिसके प्रवाह मे सुंदर जल उत्पन्न हो गया है' इस प्रस्तुत अर्थ के सिद्ध हो जाने पर 'जिसका प्रवाह अत्यत अवरुद्ध है' यह अप्रस्तुत अर्थ और विरोधालकार अभिव्यक्त होता है।) इसी तरह अन्यत्र भी समझिए।

पर पूर्वोक्त गद्य में यदि "रविकुलप्रीतिमावहन्त्यपि नर-वि कुलप्रीति-मावहति, अवारितप्रवाहाऽपि सुवारित-प्रवाहा।" यो 'अपि (भी)' शब्द और अदर डाल दिया जाय तो विरोधाश 'अपि' शब्द का वाच्य हो जाने और द्वितीय अर्थ के उसके द्वारा आक्षिप्त हो जाने के कारण इसे 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता। जो लोग निपातो ('अपि' आदि) को वाचक नहीं, किंतु द्योतक मानते हैं उनके सिद्धात में भी स्पष्ट रूप से द्योतित (प्रकाशित) और उसके द्वारा आक्षिप्त—दोनो—अर्थों मे वाच्य की अपेक्षा कुछ ही न्यूनता रहने—अर्थात् वाच्य-जैसे ही हो जाने—के कारण व्यग्य होना नहीं बन सकता।

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

आप कहेगे—यदि 'अपि' आदि शब्द देने पर ही विरोध वाच्य होता है, अन्यथा व्यग्य रहता है तो काव्यप्रकाश के—

"अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग ! कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥

दूती नायक से कहती है—हे सुभग ! दैववशात् तुम्हारे वियोग-रूपी वज्र के गिरने पर इस मृगनयनी के लिये कमलिनी के नवीन पल्लव और मृणाल के वलय (ककण) आदि दावानल के समूह हो रहे हैं।"

इस उदाहरण में 'विरोधाभास' को वाच्य अलकार कैसे माना जा सकता है ? क्योंकि यहाँ विरोध किसी शब्द का वाच्य नहीं है, अतः उसका व्यंग्य होना ही स्वीकार करने योग्य है—आपके हिसाब से ऐसी जगह वाच्य अलकार कहना बिलकुल असगत है।

अब यदि आप कहे कि—'मृणालवलयादिक दावानल का समूह हो रहे हैं' यहाँ मृणालवलयादिक का और दावानल के समूह का जो अभेद* सबध है, वह केवल अभेद के रूप में नहीं किंतु विरोध से युक्त होकर इन दोनो शब्दो के अर्थों का सबध बनता है। और सबध वाच्य अर्थों के बोध का विषय है—अर्थात् पदो की तरह पदो के परस्पर सबध का भी वाच्य अर्थ के रूप मे ही बोध होता है, अन्यथा असबद्ध अर्थों का अन्वय कैसे होगा ? अतः विरोध को वाच्य माना गया है। तो यह भी ठीक नहीं। कारण, विरोध और अभेद दोनो परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, अत एक ही समय दोनो का (मिश्रित होकर) एक सबध रूप होना—अर्थात् 'विरोध-युक्त अभेद' का सबध रूप होना—नहीं बन सकता। (तात्पर्य-यह कि—जिन वस्तुओ में विरोध होता है उनमे अभेद नही हो सकता, और जिनमें अभेद होता है उनमे विरोध नहीं हो सकता; अतः विरोध और अभेद दोनों—कभी साथ न रहनेवाली वस्तुओ—को मिलाकर एक सबध मानना अनुचित है।) दूसरे, प्रातिपदिकार्थों का सबध अभेद ही होने—अर्थात् उससे अतिरिक्त अन्य कोई सबध

---

* याद रखिए—क्रियावाचक (तिङन्त) शब्दो को छोडकर अन्य सब शब्दों (जिन्हें सस्कृत में 'प्रातिपदिक' कहा जाता है) का समान विभक्ति में आने पर सदा अभेद सबध से ही अन्वय होता है। (विशेष विवरण, उपमा के 'शाब्द बोध' में देखिए।)

न होने—के कारण, उनमें विरोध भी सबध हो, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। और अततोगत्वा 'दावानल का समूह' शब्द लक्षणा द्वारा 'दावानल के समूह के समान' अर्थ का प्रतिपादन करता है, अतः (उन दोनो का सादृश्य सबध होने के कारण) विरोधाश निवृत्त भी हो जाता है। (अर्थात् यद्यपि 'मृणालवलय आदि' के 'दावानल-समूहरूप' होने मे विरोध है, तथापि विरहिणी के लिये दुःखदायी होने के कारण उन्हें परस्पर समान मानने मे तो कोई विरोध है नहीं। अतः यदि आपकी बात मानें तो काव्यप्रकाश का उदाहरण गड़बड़ हो जाता है।)

इसका उत्तर यह है कि काव्यप्रकाशकार का तात्पर्य 'उक्त पद्य विरोध का उदाहरण है' इतने मात्र मे है—विरोध व्यग्य है अथवा वाच्य इससे उनका कोई सरोकार नहीं, क्योकि व्यग्य होने पर भी विरोध के अलकार होने में कोई बाधा नहीं। सो काव्यप्रकाश के उदाहरण मे तो कोई गड़बड़ है नही, हाँ, यदि इस पद्य को वाच्य-विरोध का उदाहरण बनाना हो तो 'अपि' अदर घुसेड़ दीजिए, पर काव्यप्रकाशकार के लिये ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

यह तो है मुख्य बात। पर कुछ लोगो का कथन यह भी है कि—"पूर्वोक्त उदाहरण में विरोधाश के व्यग्य होने पर भी दोनो विरोधी (मृणालवलय और दावानल) तो वाच्य हैं, बस, इतने मात्र से यहा 'विरोधाभास' को वाच्य अलकार कहना सिद्ध हो जाता है; क्योकि विरोधालकार के शरीर में विरोधी और विरोध सब प्रविष्ट हैं, उनमे से किसी भी अश के वाच्य होने पर उसे वाच्य माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य (अप्रस्तुत) अश के व्यंग्य होने पर भी एक अंश

(प्रस्तुत) को लेकर—अर्थात् उस अंश के वाच्य होने के कारण—'समासोक्ति' आदि को भी वाच्य अलकार कहा जाता है*।''

अन्य उदाहरण

अथवा जैसे—

कृष्णपक्षाधिकरुचिः सदा संपूर्णमण्डलः ।
भूपोऽयं निष्कलङ्कात्मा मोदते वसुधातले ॥

जिसकी भगवान् के पक्ष मे अधिक रुचि है, जिसका राष्ट्र सदा भरा-पूरा है और जिसका अतःकरण निर्मल है ऐसा यह राजा, पृथ्वीतल पर-आनन्द कर रहा है ।

यहाँ राजा प्रकरण-प्राप्त है और उसके उपयुक्त होने के कारण उपर्युक्त अर्थ भी प्रकरण-प्राप्त है । अब इस प्रकरण-प्राप्त अर्थ के, अभिधा वृत्ति द्वारा, प्रतीत हो चुकने के अनतर—'जिसकी कृष्णपक्ष मे अधिक काति है, जिसका बिब सदा पूरा रहता है—कभी खडित नहीं होता और जिसका स्वरूप कलक-रहित है ।' इस तरह चद्रमा से विरुद्ध धर्मों के रूप में द्वितीय अप्रस्तुत अर्थ और उसके द्वारा सिद्ध किया गया 'व्यतिरेकालकार' ध्वनित होता है ।

आप कहेगे—यहाँ 'व्यतिरेकालकार' कवि का जो राजा के विषय मे प्रेम है उसे उपस्कृत करता है, इस कारण गुणीभूत हो गया है—प्रधान नहीं है, सो इस व्यग्य के कारण इस काव्य को 'ध्वनि' नही कहा जा

---

* इस पक्ष में अरुचि यही है कि—'समासोक्ति' आदि में तो अगत्या वैसा मानना पड़ता है, पर यहाँ जब पूर्वोक्तरीत्या वाच्य और व्यंग्य का स्पष्ट भेद हो सकता है, तब यह क्लिष्टकल्पना निरर्थक है ।

सकता, क्योंकि प्रधान व्यग्य के कारण ही काव्य को 'ध्वनि (उत्तमोत्तम), कहा जाता है। हम कहते हैं—इस पद्य का वक्ता उदासीन है—उसे राजा की स्तुति अथवा निंदा से कोई प्रयोजन नहीं (अर्थात् यह राजकवि की उक्ति नही, किंतु किसी तटस्थ की उक्ति है। सो इस पद्य का तात्पर्य यथार्थ बात कहने मे है—स्तुति-निंदा करने में नही।) अतः यह पद्य वक्ता की रति का व्यजक नहीं है।

दूसरे, "जो अर्थ गौण होता है, वह भी यदि वाच्य अर्थकी अपेक्षा प्रधान हो तो उसके कारण काव्य को 'ध्वनि' कहा जा सकता है" इस बात को प्राचीनो ने स्वीकार किया है। अन्यथा

"निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

अर्थात् जो विना सामग्री-समूह के और बिना भित्ति के—केवल शून्य में—ही 'जगच्चित्र' (जगत् रूपी चित्र + विचित्र जगत्) को तैयार कर देते हैं उन 'कलाश्लाघ्य' (चद्रकला से प्रशसनीय + चित्रकला मे प्रशंसनीय) शिव के लिये नमस्कार हो।"

यहाँ जो काव्यप्रकाशकार ने व्यतिरेकालकार की ध्वनि बताई है वह असगत हो जायगी, क्योकि यहाँ 'व्यतिरेकालकार' का शिव के विषय में जो रतिभाव है उसका अगभूत होना अनुभव-सिद्ध है।

शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि

शब्दशक्ति के कारण वस्तु की ध्वनि, जैसे—

राज्ञो मत्प्रतिकूलान्मे महद् भयमुपस्थितम्।
बाले! वारय पान्थस्य वासदानविधानतः॥

पथिक किसी नवयौवना से कह रहा है—हे बाले ! 'राजा' (दूसरे पक्ष में—चद्रमा) मुझसे प्रतिकूल हो गया है। मुझ पथिक को उससे जो बड़ा भारी भय उपस्थित हो रहा है उसे, तू, निवास का दान करके—रहने के लिये जगह देकर (दूसरे पक्ष में—निवास और (वाछित का) दान करके) निवृत्त कर।

यहाँ 'उपभोग का दान कर' यह वस्तु (बात) (चद्रवाची) 'राज'पद जिसका मूल है उस अनुरणन मे आती है—अर्थात् अभिव्यक्त होती है। कारण, 'राज'-पद से 'चद्र' अर्थ की उपस्थिति होने पर ही, चद्रमा से उत्पन्न भय (कामपीडा) की निवृत्ति के कारणरूप मे उपभोग की अभिव्यक्ति होती है—यदि 'राज' पद का अर्थ 'चद्रमा' न हो तो इस पद्यसे यह बात न निकल सके। सो राज'-पद की अभिधा ही इस व्यजना का मूल है।

यदि आप कहे कि—यहाँ (पूर्वोदाहृत "करतल · · " आदि पद्यो की तरह) 'राजा और चद्रमा दोनो मे से एक के उपमान और दूसरे को उपमेय होने (अर्थात् उपमा)' अथवा 'दोनों का अभेदरूपी रूपक' व्यग्य होने दीजिये (तात्पर्य यह कि यहाँ 'वस्तु-ध्वनि' न मानकर 'अलकार-ध्वनि' ही क्यो नही मान ली जाती ?) । तो यह ठीक नही। कारण, यहाँ 'राज' शब्द का 'राजा' अर्थ, केवल 'चद्र'रूपी अर्थ को छिपाने के लिये ही ग्रहण किया गया है। (अर्थात् वक्ता ने दूसरों से अपना अभिप्राय छिपाने के लिये ही श्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया है—उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं।) अतः 'चंद्र' रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने पर 'राजा' रूप अर्थ की प्रतीति रहेगी हीं नही। और उपमा तथा रूपक तब हुआ करते हैं, जब उपमान और उपमेय दोनो की एक-साथ प्रतीति हो, अन्यथा सादृश्य और अभेद होगा किन दो का ? (बात यह है कि—जब तक 'राज' पद का 'राजा' अर्थ प्रतीत होगा,

तब तक 'चद्र' अर्थ न समझ पडेगा और जब 'चद्र' अर्थ समझ पडेगा तब 'राजा' अर्थ नहीं। अतः उपमा और रूपक यहाँ वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है--वक्ता को यहाँ अलकारो का व्यग्य होना सर्वथा अभीष्ट नही।)

कहा जायगा कि—इस तरह दो असंबद्ध—जिनमे सादृश्यादिक कुछ भी सबध नहीं ऐसे—अर्थों का बोध होगा तो वाक्यभेद-दोष हो जायगा। पर यह भी ठीक नहीं। कारण, जब समान कक्षा के दो असबद्ध अर्थों का प्रतिपादन अभीष्ट हो तभी वह दोष माना भी जाता है। पर यहाँ तो जब (अभीष्ट अथ के) छिपानेवाले ('राजा' अर्थ) की प्रतीति होती है तब छिपाए जानेवाले ('चद्र' अर्थ) की प्रतीति नही होती, और जब छिपाए जानेवाले अर्थ (चद्र) की प्रतीति होती है तब छिपानेवाला अर्थ ('राजा') तिरोहित हो जाता है, अतः दोनो अर्थ समान कक्षा के नही हैं। फिर रूपक और उपमा का प्रश्न ही कहा है?

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

काव्यप्रकाश मे तो शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि का—

"शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र! यस्मै त्वम्।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च।

कवि कहता है—हे नरेंद्र, जिस पर आप कुपित होते हैं उसको शनि और 'अशनि' (शनि का विरोधी, वस्तुतः वज्र) दोनो मारते हैं। और जिस पर आप प्रसन्न होते हैं वह उदार (दानशील) और 'अनुदार' (उदार से भिन्न, वस्तुतः स्त्री सहित) सुशोभित होता है (उसे कभी वियोग की वेदना नहीं सहनी पडती)।"

यह उदाहरण देकर कहा गया है कि—"इस पद्य मे विरोधी भी दोनो तुम्हारी अनुवृत्ति के लिये एक कार्य करते हैं" यह बात अभि-

व्यक्त होती है"। और व्याख्याकारो ने इसकी यह व्याख्या की है कि—"दोनो = शनि और अशनि तथा उदार और अनुदार। एक कार्य = मारना और सुशोभित होना।"

अब यह सोचिए कि यहाँ यद्यपि 'शनि' और 'अशनि' इन दोनो विरोधी पदार्थों का 'मारना' क्रिया के कर्तृत्व में अन्वय सभव है, अतः उन दोनो का 'मारना' रूपी 'एक कार्य' हो सकता है, तथापि दूसरी क्रिया 'सुशोभित होना' का कर्त्ता 'वह' है, उदार और अनुदार नहीं; उदार और अनुदार तो 'सुशोभित होने' के कर्त्ता 'वह' पद के अर्थ के अथवा उस अर्थ के विशेषण के विशेषण हैं। सो उनका 'सुशोभित होना' रूपी क्रिया के साथ साक्षात् अन्वय न हो सकने के कारण 'एक कार्य करनेवाला होना' कैसे बन सकता है? अर्थात् जब कि 'उदार' और 'अनुदार' 'सुशोभित होना' क्रिया के कर्त्ता ही नहीं हैं, किंतु कर्त्ता के विशेषण अथवा उसके विशेषण के विशेषण हैं तब 'सुशो-भित होना' उनका कार्य कैसे हो सकता है?

अत· काव्यप्रकाशकार का पूर्वोक्त कथन केवल प्रथम अर्ध (शनि-अशनिवाले भाग) के विषय मे ही है—उत्तरार्ध (अर्थात् उदार-अनुदारवाले भाग) मे तो विरोधाभास अलकार ही है, वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं।

पर यदि कहो कि—'सुशोभित होना' रूपी क्रिया के कर्त्ता 'वह' के साथ 'उदार' और 'अनुदार' शब्दों के अर्थों का अभेद सबध से अन्वय है, (क्योंकि "एक प्रतिपादिकार्थ का अन्य प्रतिपदिकार्थ के साथ अभेद के अतिरिक्त कोई सबध नही हो सकता" यह नियम है) बस, इतने मात्र से 'उदार' और 'अनुदार' का भी 'एक कार्य करना' बन सकता है, क्योकि कर्त्ता और 'वह पद का अर्थ' शाब्दबोध में अभिन्न प्रतीत होता है। तो भले ही उत्तरार्ध में भी "विरोधी भी दोनो······"

इत्यादि पूर्वोक्त वस्तु व्यग्य रहे, हमे इसमे कोई अड़चन नहीं। परतु दोनो ही अर्थों मे वह वस्तु 'विरोधाभास अलकार' से मिश्रित ही है—इसमे कोई सदेह नही। कारण, जो जिस व्यक्ति के शत्रु का विरोधी होता है वह उस व्यक्ति का विरोधी नहीं हो सकता, अतः राजा का कोपभाजन व्यक्ति, 'शनि' और 'अशनि (शनि का विरोधी)' जिसके कर्त्ता हैं उस, 'मारना' क्रिया का कर्म नहीं हो सकता। (अर्थात् जिसे 'शनि' मारे उसे 'अशनि' नहीं मार सकता और जिसे 'अशनि' मारे उसे 'शनि' नहीं मार सकता, क्योकि अपने विरोधी का विरोधी एक प्रकार से अपना मित्र हो जाता है।) अत. पूर्वार्ध में, शनि की और अशनि की क्रिया 'मारना' का 'कर्म होना' दोनो में, स्पष्ट विरोध है। (और उस विरोध का परिहार है राजा की आज्ञा के अप्रतिहत होने द्वारा—अर्थात् उन्हें न चाहते हुए भी राजा के भय के मारे ऐसा करना पडता है, अथवा क्रोध की अधिकता द्वारा वे परस्पर विरोध भूलकर ऐसा करते हैं।

इसी तरह उत्तरार्ध मे भी जिस आधार (व्यक्ति अथवा वस्तु) मे 'उदारता' रहती है उसमें 'अनुदारता नहीं रह सकती और जिसमे 'अनुदारता' रहती है उसमे 'उदारता' नहीं रह सकती, अत॰ 'दोनों का एक आधार मे रहना' इसमे विरोध स्पष्ट है। (और उसका परिहार 'अनुगतदार' अर्थ द्वारा है—यह पहले लिखा जा चुका है)।

(कहने का तात्पर्य यह कि—टीकाकारों ने जो पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों मे पूर्वोक्त वस्तु की व्यंग्यता लिखी है वह बन सकती है, पर उन्हें उस वस्तु का 'विरोधाभास' अलकार से मिश्रित होना भी लिखना चाहिए था। अर्थात् 'काव्यप्रकाश' का उदाहरण शुद्ध 'वस्तुध्वनि' का नहीं, किंतु अलकार-मिश्रित वस्तु की ध्वनि का उदाहरण है।)

अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनियों के उदाहरण

स्वतःसभवी व्यजक

स्वतः-संभवि-वस्तु-मूलक वस्तु-ध्वनि, जैसे—

गुञ्जन्ति मञ्जु परितो गत्वा धावन्ति सम्मुखम् ।
आवर्त्तन्ते विवर्तन्ते सरसीषु मधुव्रताः ।

नायक नायिका से कहता है—भौरे चारो तरफ मनोहर गु जन कर रहे हैं, जाकर फिर उसी तरफ दौड़ रहे हैं, तलैयो मे आ रहे हैं और लौट जा रहे हैं।

यहाँ 'भौरो के मनोहर गु जन' आदि जिन वस्तुओ का वर्णन किया गया है वे कवि-कल्पित नहीं हैं, किंतु स्वतःसभवी (लोकसिद्ध) हैं। उन वस्तुओं से 'अब कमलो की उत्पत्ति समीपवर्त्तिनी है' यह ध्वनित करने द्वारा 'शरद् ऋतु के आगमन की निकटता'-रूपी वस्तु अभिव्यक्त होती है।

काव्यप्रकाश के उदाहरण पर विचार

काव्यप्रकाश में स्वतःसभवी वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण यो है—

'अलससिरोमणि धुत्ताणमग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ ।'
इअ भणिएण णअंगी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥

एक कन्या का स्वयंवर है। कन्या वर की तरफ देख रही है। कन्या की धाय (उपमाता या नर्स, जो ऐसे प्रसगो मे कन्या के साथ रहा करती थी) कन्या से कहती है—'हे पुत्रि! यह वर आलसियो

का शिरोमणि, धूर्त्तों का प्रधान और धन-समृद्धि से पूर्ण है'। बस, धाय का यह कहना था कि उस नतागी के नयन खिल उठे।

इस उदाहरण पर काव्यप्रकाशकार कहते हैं—"इस पद्य मे '(यह वर) मेरा ही उपभोग्य है' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है।" यहाँ पूछना यह है कि यह वस्तु किस वस्तु से अभिव्यक्त होती है? 'आलसियो के शिरोमणि' इत्यादि पति के विशेषणो से तो यह वस्तु अभिव्यक्त होती नहीं। कारण, उन्हे किसी धाय आदि वृद्ध स्त्री ने कहा है, अतः यदि उनसे अभिव्यक्त हो तो व्यग्य का 'तेरा ही उपभोग्य है' इस रूप मे कथन होना चाहिए, क्योकि जब वे विशेषण कामिनी द्वारा वर्णित होते तब तो 'मेरा ही उपभोग्य है' यह व्यग्य का आकार होता। सो है नही।

आप कहेगे—'नयनो के खिल उठने' से यह बात ध्वनित होती है। तो यह भी उचित नहीं। कारण 'नयन-कमलों का खिल उठना' हर्ष भाव का अनुभाव है, उससे हर्षभाव का ध्वनित होना सिद्ध होता है, पूर्वोक्त वस्तु का नहीं, क्योकि अनुभाव का भावको अभिव्यक्त करना ही उचित है। और जिसे आप व्यग्य कह रहे हैं वह 'मेरा उपभोग्य है' यह वस्तु तो हर्ष भाव का विभाव है, अतः वह स्वय भी हर्ष भाव को अभिव्यक्त करता है। क्योकि विभाव और अनुभाव द्वारा ही भाव अभिव्यक्त होते हैं। यदि कहे कि अनुभावो से भाव अभिव्यक्त होता है, इस कारण भाव के विभाव को भी अभिव्यक्ति उसके द्वारा मान ली जानी चाहिए। सो कह नही सकते। कारण, केवल नयनो के खिल उठने मे 'मेरा ही उपभोग्य है' इस व्यग्य को ध्वनित करने का सामर्थ्य नही, क्योकि 'नेत्रो का खिल उठना' तो पुत्र-जन्म और धन-प्राप्ति जिसके विभाव (कारण) हैं उस हर्ष भाव मे भी देखा जाता है, अतः व्यभिचरित है—अर्थात् वह इसी बात को ध्वनित करे ऐसा

निश्चित नही है। अतः काव्यप्रकाश का इस वस्तु को व्यग्य कहना उचित नही। यह है पूर्वपक्ष।

इसके उत्तर मे हम कहते हैं—यह सच है। पर आपकी शका का समाधान यह है कि—'मेरा उपभोग्य है' इस वस्तु के केवल 'नेत्र खिल उठने' द्वारा ध्वनित न होने पर भी पद्य मे वर्णित 'धाय का यह कहना था कि' इस अर्थ के कारण कन्या का 'आलसियो का शिरोमणि' आदि पति के विशेषणो का सुनना पाया जाता है, उस (सुनने) से युक्त 'नेत्रो के खिल उठने' से, पहले 'मेरा उपभोग्य है' यह विभाव अभिव्यक्त होता है और बाद मे उस विभाव के द्वारा हर्ष भाव अभिव्यक्त होता है। उनमे से हर्ष-भाव के द्वाररूप विभाव की अभिव्यक्ति को लेकर काव्यप्रकाश के ग्रथ की सगति हो जाती है। (अर्थात् काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय यह है कि धाय के कहे हुए पूर्वोक्त पति के विशेषणों के सुनने के साथ नयन-कमलो के खिल उठने से प्रथमतः कन्या का यह अभिप्राय अभिव्यक्त होता है कि 'यह मेरा उपभोग्य है' और उसके अनतर हर्ष भाव।)

आप कहेंगे—ऐसा मानने से भाव-ध्वनि सलक्ष्यक्रम हो जायगी, क्योकि उसके द्वार—विभाव—का क्रम (पूर्वापरीभाव) स्पष्ट दिखाई पड़ता है—हम देखते हैं कि पहले विभाव पृथक् अभिव्यक्त होता है और तदनन्तर हर्षभाव। तो हमे यह स्वीकार है। आप कहेंगे—यह बात सिद्धान्त से विरुद्ध है। हम कहते हैं—नहीं। इस दोष का पहले ही (प्रथमानन के अत में) उद्धार किया जा चुका है।

स्वतःसंभवि-वस्तु-मूलक अलंकारध्वनि, जैसे

मृद्वीका रसिता, सिता समशिता, स्फीतं निपीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाऽप्यधायि, कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।

सत्यं ब्रूहि मदीयजीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः ?

एक भक्त अपने जीव से पूछता है—तैंने (इस लोक में) दाखो का मजा लिया है, मिश्री अच्छी तरह खाई है और दूध तो खूब ही पिया है। स्वर्ग मे जाने पर अमृत भी पिया है और (न-जाने) कितने प्रकार से रभा (अप्सरा) का अधर खडित किया है। हे मेरे जीव! तू सच-सच कह, तैने, ससार मे बार-बार घूमते हुए 'कृष्ण' इन दो अक्षरो मे जो मधुरता का उद्गार है उसे भी कहीं देखा है?—मै तो समझता हूँ यह तुझे कही प्राप्त न हुआ।

अब इसका विवेचन करिए। यहाँ वक्ता ने अपने को दो भागो में विभक्त कर लिया है। उनमे से एक भाग है—देह, इद्रिय आदि बाह्य पदार्थों से अतिरिक्त शुद्धस्वरूप जीवात्मा, और दूसरा भाग है—देह, इन्द्रिय आदि जड और चेतन का समूह रूप जिसे वेदान्त के हिसाब से 'सघात' कहा जाता है और जो 'मै' पद द्वारा ज्ञात होता है। उपर्युक्त प्रश्न शुद्धस्वरूप जीवात्मा से 'सघात'-रूप 'मै' का है और उसमें अनेक जन्मो की अनुभूत वस्तुओ में 'कृष्ण' शब्द की मधुरता के उद्गार का देखना' पूछा गया है। पर उन सब वस्तुओं के प्रत्यक्ष का कारण है एक प्रकार की योग-सिद्धि बिना उसके पूर्वजन्म की बातो को कोई जान नहीं सकता। उस योगसिद्धि के बिना भी भगवन्नाम के उच्चारण करनेवाले से जो यह प्रश्न किया गया है उससे पूर्वोक्त योगसिद्धि-रूपी उपमान का भगवन्नाम के साथ तादूप्य (अभेद) समझना ध्वनित होता है। अर्थात् भगवन्नाम को वक्ता ऐसी योगसिद्धि से अभिन्न मानता है, जिसके द्वारा अनेक जन्मो के वृत्तात प्रत्यक्ष हो जाते हैं। 'ऐसे तादूप्य समझने' को साहित्य की परिभाषा मे अतिशयोक्ति अल-

कार कहते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'अनेक जन्मो की अनुभूत वस्तुओ मे मधुरता के उद्गार का देखना' जो एक स्वतःसभवी वस्तु है (क्योकि जीव के अनेक जन्म शास्त्रसिद्ध हैं, कवि-कल्पित नहीं), उसके द्वारा 'भगवन्नाम के साथ पूर्वोक्त योगसिद्धि का तादूप्य समझना' रूपी 'अतिशयोक्ति* (अलकार)' ध्वनित होती है।

क्या यहाँ अतिशयोक्ति गुणीभूतव्यग्य है ?

पूर्वपक्ष

यदि आप कहे कि यहाँ प्रश्न का विषय है अनेक जन्मो का वृत्तात---अर्थात् पूर्वोक्त पद्य मे जीव से अनेक जन्मो का वृत्तात पूछा गया है। ऐसा प्रश्न अनेक जन्मो का वृत्तात जाननेवाले के प्रति ही उचित है। सो (योगसिद्धि से रहित, अतएव) अनभिज्ञ अपने जीव से यह प्रश्न योग्य न होने के कारण प्रश्न बनता नहीं, अत. आपको पूर्वोक्त अतिशयोक्ति का आक्षेप करना पडेगा---अर्थात् यह मानना पडेगा कि वक्ता ने भगवन्नाम के साथ वैसी योगसिद्धि का तादूप्य समझकर ही यह प्रश्न किया है—अन्यथा प्रश्न व्यर्थ हो जायगा। ऐसी दशा मे यह अतिशयोक्ति अर्थापत्ति द्वारा प्रतीत होने के कारण व्यग्य

---

* अतिशयोक्ति का लक्षण है "विषयिणा विषयस्य निगरण-मतिशयः। तस्योक्तिः।—अर्थात विषयी द्वारा विषय के निगरण (विषयिवाचक पद से ही विषय का काम निकालने) को अतिशय कहते हैं। उसकी उक्ति अतिशयोक्ति कहलाती है।" तदनुसार यहाँ अतिशयोक्ति का व्यग्य कहना कहाँ तक उचित है, यह जरा सोचने की बात है। कारण, यहाँ विषयी द्वारा विषय का निगरण नहीं, किंतु विषय द्वारा विषयी का निगरण है। भगवन्नाम विषय है और योग-सिद्धि विषयी, क्योंकि भगवन्नाम प्रकृत है और योगसिद्धि आरोप्यमाण।

—अनुवादक।

नहीं मानी जा सकती। यदि आप कहे कि—हमारे हिसाब से अर्थापत्ति कोई पृथक् प्रमाण नहीं—उसके द्वारा प्रतीत अर्थों को भी हम व्यंग्य ही मानते हैं, तथापि बिना वैसी अतिशयोक्ति के पूर्वोक्त प्रश्न की सिद्धि नहीं होती—प्रश्न बनता नहीं, अतः अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अंग मानना पडेगा, सो वह 'गुणीभूतव्यंग्यरूप' हो जायगी—उसकी प्रधानता न रहेगी। ऐसी स्थिति मे यह अतिशयोक्ति व्यग्य होने पर भी, इस काव्य को ध्वनि (उत्तमोत्तम काव्य) कहने का कारण नहीं मानी जा सकती। (अर्थात् ऐसी अतिशयोक्ति के कारण यह पद्य प्रथम श्रेणी का नहीं, द्वितीय श्रेणी का हो सकता है, अतः इसे ध्वनि के उदाहरणो में लिखना ठीक नहीं।)

इसी तरह काव्यप्रकाश के उदाहरण

"तद्प्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका* ।"

---

* ये पद्य विष्णुपुराण के (५ म अंश, १३वाँ अध्याय के श्लोक २१-२२) हैं। इनका प्रकरणसंगतिपूर्वक अर्थ यह है—भगवान् श्री कृष्ण के रास में सब गोपकन्याएँ सम्मिलित हुईं। पर एक (भागवत में ऐसी कई लिखी हैं) गोपकन्या को पति आदि ने बलात् वहाँ जाने से रोक दिया। उस गोप-कन्या को श्रीकृष्ण के न मिलने से महादु.ख हुआ। उस दु ख के कारण उसके सब पातक विलीन हो गए और कृष्ण की चिता के कारण जो परम आनद हुआ उसके कारण उसके सब पुण्य-समूहों का क्षय हो गया। सो जगत् के कर्त्ता

मे भी अतिशयोक्ति को अर्थापत्ति से प्राप्त अथवा गुणीभूत व्यग्य मानना उचित है। कारण, जब तक 'भगवान् के न मिलने के कारण उत्पन्न महादुःख' और 'उनके स्मरण से उत्पन्न अत्यंत आनद' के साथ अनेक जन्मो मे भोगे जानेवाले दुःखो और सुखो का ताद्रूप्य न समझा जाय, तब तक उनका सपूर्ण पापो और पुण्यो के समूह का नाशक होना नहीं बन सकता, क्योंकि शास्त्रो मे जो दुःख जिन पापो के फल हैं और जो सुख जिन पुण्यो के फल हैं उन्हे ही उन उन पापो और उन उन पुण्यो का नाशक माना जाता है, और ये—अर्थात् कृष्ण के वियोग का दु.ख और स्मरण का सुख तो उन उन पाप-पुण्यो के फल हैं नहीं (क्योकि भगवत्प्राप्ति लौकिक कर्मो का फल नहीं होती, अन्यथा सभी दान-धर्म करनेवाले भगवान् को पा सके)। अत. 'उन पाप-पुण्यो के फल-रूप सुख दुःखो के साथ इन वियोग-दुःख और स्मरण-सुख का ताद्रूप्य' जो 'अतिशयोक्ति'-रूप है, मानना पडेगा। और तभी वे सुख-दुःख उन पुण्य-पापों के नाशक हो सकेंगे। सो जो गड़बड़ आपके उदाहरण मे है वही इस उदाहरण मे भी है।

यदि आप कहे कि—केवल वस्तु से अभिव्यक्त होनेवाले अलकार गुणीभूतव्यग्य नहीं हो सकते, कारण, यह सिद्धात है कि—

"व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

अर्थात् जब केवल वस्तु द्वारा अलकार अभिव्यक्त होते हैं तब वे काव्य को निश्चित रूप से ध्वनि (उत्तमोत्तम) बनाते हैं, क्योकि ऐसे पद्यो मे काव्य शब्द का व्यवहार उन्हीं के सहारे होता है—उन काव्यो मे ऐसे

परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण का चिंतन करती हुई प्राण रहित हुई और इस कारण उस गोपकन्या ने मुक्ति पाई।

अलकार ही चमत्कारोत्पादक होते हैं।" तात्पर्य यह कि जिनके सहारे उन पद्यो को काव्य कहा जाता है उनका उन पद्यो में अवश्य ही प्राधान्य होना चाहिए। पर यह ठीक नहीं। कारण, जब हम एक दृढ बाधक उपस्थित कर चुके हैं—अतिशयोक्ति को वाच्य-सिद्धि का अग बता चुके हैं, तब बिना उसका निराकरण किए, केवल सिद्धात के बल पर आप इस पद्य का ध्वनि होना सिद्ध नही कर सकते। (साराश यह कि इन पद्यो को 'ध्वनि' का उदाहरण बताकर आपने और काव्य-प्रकाशकार ने—दोनो ने ही—भूल की है।) यह पूर्व पक्ष है।

उत्तर पक्ष

यह आपका कहना सच है। पर महाराज पहले आप यह तो समझ लीजिए कि व्यग्य किस जगह वाच्य-सिद्धि का अग हुआ करता है। व्यग्य वाच्य-सिद्धि का अग वही होता है, जहाँ वैसे व्यग्य को स्वीकार किए बिना वाच्य सर्वथा सिद्ध न हो सके, किंतु जहाँ वाच्य किसी दूसरी तरह से भी सिद्ध किया जा सके, वहाँ 'व्यग्य' वाच्य-सिद्धि का अग नही होता। अन्यथा प्रथमानन मे उदाहृत "निश्शेषच्युत-चदन स्तनतटम्....." इस 'ध्वनि' के उदाहरण में भी 'दूती का रमण' (व्यग्य) 'नायक की अधमता' (वाच्य) को सिद्ध करता है, इस कारण वहाँ भी व्यग्य वाच्य-सिद्धि का अग होकर गुणीभूत हो जायगा, जो किसी को सम्मत नही।

अब प्रस्तुत मे देखिए। यहाँ भगवन्नाम मे 'योग सिद्धि का तादूप्य समझना' रूपी जो 'अतिशयोक्ति' है उसके बिना भी भगवन्नाम के उच्चारण के प्रभाव द्वारा जीवको सर्वज्ञ समझकर भी ऐसा प्रश्न बन सकता है—अर्थात् वक्ता अपने जीव को भगवन्नाम के उच्चारण के प्रभाव द्वारा सर्वज्ञ समझकर भी ऐसा प्रश्न कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि

भगवन्नाम को योग-सिद्धिरूप समझे तभी प्रश्न करे। अतः ऐसे व्यग्य को वाच्य-सिद्धि का अग समझकर गुणीभूत कहना आपकी ही भूल है।

अब यदि यह कहा जाय कि—भगदन्नाम के उच्चारण के माहात्म्य द्वारा प्राप्त सर्वज्ञता समझने पर भी असंबध मे सबधरूप (क्योकि भगवन्नाम मे यह शक्ति मिथ्या आरोपित की गई है) अतिशयोक्ति तो रहेगी ही, क्योकि बिना उसके यह प्रश्न नहीं बन सकता। अतः फिर भी पूर्वोक्त दोष ज्यो का त्यो ही बना रहता है। सो भी नही। क्योकि यह दोष भी हमारे उपर्युक्त कथन से निवृत्त हो जाता है। कारण, जहाँ वैसी बात न हो और उसका सबध मान लिया जाय (जैसे महलो के शिखरो का चद्रमा से स्पर्श) वहीं पूर्वोक्त अतिशयोक्ति होती है, पर यह तो पुराणो मे प्रसिद्ध है कि—भगवन्नाम का माहात्म्य अचिंतनीय है—कोई ऐसा फल नहीं जो उससे प्राप्त न हो सके, अत· उससे सर्वज्ञता भी प्राप्त हो सकती है। सो अतिशयोक्ति को गुणीभूतव्यग्य मानना उचित नहीं।

अन्य उदाहरण

अथवा (बात तो असली यह है। पर यदि थोड़ी देर के लिये आप ही का कहना मान ले तो) वस्तु से अलकार की अभिव्यक्ति का न सही पूर्वोक्त उदाहरण, यह तो होगा—

न मनागपि राहुरोषशङ्का न कलङ्कानुगमो न पाण्डुभावः।
उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि! ते मुखस्य नित्यम्॥

सखी नायिका से कहती है—न इस पर राहु के आक्रमण की किञ्चित् भी शका है, न कलक का सबध है और न सफेदी है। तेरे मुख की अनिर्वचनीय शोभा सब तरफ से निरतर बढती ही जा रही है।

यहाँ 'राहु के आक्रमण की शका न होना' आदि निरपेक्ष वस्तुएँ हैं—अर्थात् जिन्हे सिद्ध करने के लिए 'व्यतिरेक' की कुछ भी अपेक्षा नही, उनके द्वारा व्यतिरेकालकार (मुख की चद्रमा से अधिकता) ध्वनित होता है।

स्वतःसंभवि-अलंकार-मूलक वस्तुध्वनि, जैसे—

नदन्ति मददन्तिनः, परिलसन्ति वाजिव्रजाः,
पठन्ति विरुदावलीमहितमन्दिरे बन्दिनः।
इदं तदवधि प्रभो! यदवधि प्रवृद्धा न ते
युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युतिः॥

कवि राजा से कहता है—हे प्रभो! आपके शत्रुओ के घर में मत्त हाथी चिंघाड़ते हैं, घोड़ो की कतारें शोभित होती हैं और बदीजन विरुदावली पढते हैं। पर यह तब तक है, जब तक, प्रलय-काल की अग्नि के समान, आपके नेत्रकोण की अरुण कान्ति नहीं बढी है।

यहाँ 'प्रलय-काल के अग्नि' की उपमा (जो कि अलकार है) से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'ज्योंही आपके कोप का उदय होगा त्योंही शत्रुओं की सपदाएँ बिल्कुल भस्म हो जायँगी।' यद्यपि यह वस्तु राजा के विषय मे कवि के रति-भाव का अग हो गई है, अतः प्रधान नहीं रही, तथापि वाच्य की अपेक्षा सुन्दर होने के कारण इस काव्य को 'ध्वनि' कहे जाने का हेतु हो गई है—अर्थात् इस व्यग्य के कारण इस पद्य को प्रथम श्रेणी मे गिना जा सकता है।

आप कहेंगे—आपने जिस 'भस्म करने की समर्थता' को उपमा का व्यग्य बताया है, वह यहाँ, 'उपमान और उपमेय का साधारण धर्म' भी होने के कारण उपमा को सिद्ध करती है। अतः वाच्य (उपमा)

की सिद्धि का अंग—अर्थात् गुणीभूत हो गई है । तो यह ठीक नही । कारण, (अग्नि की) उपमा तो श्लोक में वर्णित 'अरुणता'-रूपी साधारण धर्म द्वारा भी सिद्ध हो सकती है, क्योकि वह धर्म 'प्रलयानल' और 'कुपित नेत्र की कान्ति' दोनो मे रहता है । अतः यह व्यग्य वाच्य-सिद्धि का अग नहीं हो सकता ।

यदि आप कहे कि—'अरुणता' को ही समान धर्म मानना और 'भस्म करने की निपुणता' को समान धर्म न मानना, इसमे कोई प्रमाण तो है नहीं, फिर क्यो हम 'अरुणता' को ही समान धर्म माने ? तो इसका वास्तविक समाधान यह है कि यहाँ यद्यपि उपमेय—'नेत्र की अरुण काति' मे रहनेवाला 'भस्म करने की समर्थता'-रूपी समान धर्म उपमा को सिद्ध कर सकता है, तथापि उपमेय से व्यग्य 'कोप' मे रहनेवाली 'भस्म करने की निपुणता' तो उपमा को सिद्ध करनेवाली हो नहीं सकती, क्योकि यहाँ कोप की और प्रलयानल की उपमा का वर्णन थोडे ही है, है तो 'काति' की और 'प्रलयानल' की उपमा का वर्णन, और व्यग्य है कोप के अदर रहनेवाली 'भस्म करने की समर्थता' । अत. वैसी 'भस्म करने की समर्थता' उपमान और उपमेय का समान धर्म न होने के कारण वाच्य-सिद्धि का अग नही हो सकती ।

अथवा जैसे—

निर्भिद्य क्ष्मारुहाणामतिघनमुदरं येषु गोत्रां गतेषु
द्राघिष्ठस्वर्णदण्डभ्रमभृतमनसो हन्त ! धित्सन्ति पादान् ।
यैः संभिन्ने दलाग्रप्रचलहिमकणे दाडिमीबीजबुद्ध्या
चञ्चूचाञ्चल्यमञ्चन्ति च शुकशिशवस्तेंऽशवः पान्तु भानोः ॥

सूर्य की किरणो की स्तुति है—वृक्षो के अत्यत घने मध्य भाग को भेदन करके जिनके पृथ्वी पर पहुँचने पर, तातो के बच्चे बडे लबे सुवर्ण

के दडो के भ्रम से मन के परिपूर्ण हो जाने के कारण—अर्थात् मन में इस भ्रम के दृढ हो जाने के कारण कि ये सोने के डडे ही हैं—पैर रखने लगते हैं, और (वे ही) जिन किरणो से मिश्रित पत्तो की नोको पर स्थित चचल ओस की बूँदो को अनार के दाने समझकर चोचे चचल करने लगते हैं—उन्हें खाने की इच्छा प्रकट करते हैं—वे सूर्य की किरणे (हमारी) रक्षा करे।

यहाँ 'भ्रातिमान्' अलकार से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि "सूर्य भगवान् पशु-पक्षियो के भी इस तरह आनद उत्पन्न करनेवाले हैं, अतः (न केवल मनुष्यों के ही किंतु) सब जगत् के आनदोत्पादक हैं।" ऐसी भ्राति लोक मे भी हो सकती है—केवल कविकल्पित नहीं है; अतः इस भ्राति को स्वतःसभवी कहा गया है।

स्वतःसंभवि-अलकार-मूलक अलंकारध्वनि, जैसे—

उदितं मण्डलमिन्दो रुदितं सद्यो वियोगिवर्गेण।
मुदितं च सकलललनाचूडामणिशासनेन मदनेन ॥

चद्रोदय का वर्णन है—इधर चंद्र-मंडल का उदय हुआ और उधर वियोगि-वर्ग तत्काल रो उठा, एव जिसकी आज्ञा समग्र सुदरियो को शिरोधार्य है वह कामदेव प्रसन्न हो उठा।

यहाँ तीनों क्रियाओ (उदय, रोदन और प्रसन्नता) का एक साथ होना, जो 'समुच्चयालकार' है, उसके द्वारा कारण (चद्रोदय) के प्रथम होने और कार्य (वियोगियो के रोदन और कामदेव की प्रसन्नता) के पीछे होने का विपर्यय हो जाने—अर्थात् कार्य-कारण दोनो के एक साथ हो जाने के रूप मे अतिशयोक्ति अलकार अभिव्यक्त होता है।

इन सब उदाहरणों मे व्यजक स्वतःसभवी है।

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध व्यंजक

कविप्रौढोक्ति-सिद्ध-वस्तु-मूलक वस्तुध्वनि, जैसे—

तदवधि कुशली पुराणशास्त्रस्मृतिशतचारुविचारजो विवेकः।
यदवधि न पदं दधाति चित्ते हरिणकिशोरदृशो दृशोर्विलासः॥

कवि कहता है—सैकड़ो पुराणो, शास्त्रो और स्मृतियो के सुदर विचारो से उत्पन्न विवेक तभी तक आनद मे रह सकता है, जब तक कि मृगशावक-नयनी के नयनो का विलास चित्त मे पैर नहीं रखता।

इस पद्य मे इस वस्तु का वर्णन है कि 'कामिनी के नयन-विलास के हृदय मे पैर रखते ही विवेक का कुशल नहीं—उसका वहाँ टिकना कठिन है।' यहाँ जो 'नयन-विलास का पैर रखना' कहा गया है, वह लोक-सिद्ध नहीं है—ससार मे आज-दिन तक नेत्रविलास को पैर रखते कभी किसी ने नहीं देखा। वह कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध—अर्थात् कवि-कल्पित—है। उस 'पैर रखने'-रूप वस्तु से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि '(जब पैर रखते ही यह दशा है तो) पैर के अच्छी तरह जम जाने पर तो बेचारे विवेक के कुशल की चर्चा ही क्या है!'

यहाँ इतना और समझ लीजिए—

कस्मै हन्त फलाय सज्जन ! गुणग्रामार्जने सज्जसि
स्वात्मोपस्करणाय चेन्मम वचः पथ्यं समाकर्णय।
ये भावा हृदयं हरन्ति नितरां शोभाभरैः संभृता-
स्तैरेवास्य कलेः कलेवरपुषो दैनन्दिनं वर्त्तनम्॥

कवि कहता है—हे सज्जन, (हम तुमसे पूछते हैं—) तुम किस फल की प्राप्ति के लिये गुण-गण के उपार्जन में प्रयत्नशील हो रहे हो—हम देखते हैं कि तुम्हें सिवाय इस काम के कुछ सूझता ही नहीं। तुम कहोगे—'अपने अतःकरण को विभूषित करने के लिए—उसे उत्कृष्ट और सुशोभित बनाने के लिये।' यदि ऐसा ही हो तो मैं आपसे एक 'राह की बात' कहता हूँ, सुनिए। वह यह है कि जो पदार्थ अत्यत शोभा-समूह से परिपूर्ण होने के कारण हृदय को लुभा लेनेवाले होते हैं—जिन वस्तुओ को देखकर मनुष्य मुग्ध हो जाया करते हैं, उन्हीं से शरीर पोषक—इस पेटभरे—कलियुग का प्रतिदिन का आहार होता है—उन्हे खा-खाकर ही तो यह दुष्ट कलि जीता है।

इस पद्य मे यद्यपि 'सुदर पदार्थ कलियुग के प्रतिदिन के खाद्य हैं' इस कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध वस्तु से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'यदि मरना चाहते हो तो गुण प्राप्त करने का यत्न करो', तथापि यह व्यग्य 'पर्यायोक्त' अलकार के रूप में आया है और अतएव वाच्य की अपेक्षा सुदर न होने के कारण गुणीभूत—अप्रधान—ही है। कारण, अलकारो में वाच्य अर्थ की सुदरता प्रधान होती है, अतः प्रतीत होनेवाले अपने अतर्गत व्यग्य को अलकार अपना पिछलगुआ बना देते हैं। सो जहाँ अलंकारो का चमत्कार हो वहाँ वस्तु से वस्तु की ध्वनि समझना भ्रम है।

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-अलंकारमूलक वस्तुध्वनि, जैसे—

देवाः के पूर्वदेवाः समिति मम नरः सन्ति के वा पुरस्ता-
देवं जल्पन्ति तावत्प्रतिभटपृतनावर्त्तिनः क्षत्रवीराः।
यावन्नायाति राजन्! नयनविषयतामन्तकत्रासिमूर्त्ते!
मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणो भुजङ्गः।

कवि कहता है—हे राजन् ! आपके शत्रु की सेना मे रहनेवाले क्षत्रिय-वीर 'युद्ध मे मेरे सामने देवता और दैत्य कौन होते हैं और बेचारे मनुष्य तो हैं ही क्या ?' यों तब तक कहा करते हैं, जब तक कि, हे काल को भी भयभीत कर देनेवाली आकृति वाले ! आपका, भोले शत्रुओंके प्राणरूपी दुग्ध के पान करने मे चिकनी चमकवाला अथवा वैसे दुग्धपान मे अधिक इच्छावाला, खड्गरूपी भुजग उनकी आँखो के सामने नही आता ।

यहाँ कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध रूपकालकार से 'जब आप तलवार उठा ले तब शत्रुओं के जीने की क्या आशा है !' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है ।

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-वस्तुमूलक अलंकारध्वनि, जैसे—

साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः ।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण ! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः ।

कवि कहता है—हे भूमिभूषण ! अहकार-युक्त देवताओं और दैत्यों की पक्ति के हाथों द्वारा खींचे हुए अतएव घूमते हुए मदराचल से क्षुब्ध किए जा रहे क्षीर-समुद्र के सुदर लहरी-समूह की शोभा के गर्व को सर्वांश मे नष्ट कर देनेवाली—अर्थात् उससे भी सुदर, और तृषा से घबराए हुए अनेक तपस्वि-समूहो द्वारा (तृषा-निवृत्ति का साधन समझकर) हर्ष-सहित अवलोकन की हुई आपकी कीर्त्तियाँ सारे जगत् को सुशोभित कर रही हैं ।

इस पद्य मे 'कीर्त्ति के हर्ष - सहित अवलोकन करने'-रूपी कवि-कल्पित वस्तु से तपस्त्रियो मे रहनेवाली 'दुग्ध* की भ्राति' (जो कि अलंकार है) अभिव्यक्त होती है।

आप कहेंगे—जिस 'हर्ष-सहित अवलोकन करने' द्वारा आप 'भ्राति' को व्यग्य बता रहे हैं, वह 'हर्ष-सहित अवलोकन करना' ही तो नेत्रजन्य भ्राति है। सो 'हर्ष-सहित अवलोकन' और 'भ्राति' दोनो के एक होने के कारण व्यग्य और व्यजक दोनो का पृथक् होना और 'भ्राति' का व्यंग्य होना (क्योकि अवलोकन पद्य में वर्णित है अतः वाच्य है) दोनो बाते नहीं बन सकती। इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि 'हर्ष-सहित अवलोकन' और 'नेत्रो का भ्रम' एक ही वस्तु है, तथापि वह भ्रम 'हर्ष-सहित अवलोकन' के रूप मे व्यग्य है, अतः व्यजक और व्यग्य पृथक् हो सकते हैं और 'हर्ष-सहित अवलोकन' के रूप मे भ्राति के वाच्य होने पर भी 'कीर्त्ति को दूध समझने' के रूप में वाच्य न होने के कारण व्यग्य भी हो सकती है। (अर्थात् यद्यपि 'कीर्त्ति को तृषा-निवृत्ति का साधन समझकर सहर्ष देखना' और 'कीर्त्ति को दूध समझना' दोनो एक ही वस्तु है, अत भ्राति वाच्य हो जानी चाहिए, तथापि श्लोक मे भ्राति का 'दूध समझने' के रूप मे वर्णन नही है, किन्तु रूपान्तर से है, अतः 'दूध समझना'-रूपी भ्रम व्यग्य हो सकता है—उसे वाच्य नही कहा जा सकता।) अतएव तो काव्य-प्रकाशकार कहते हैं कि—

---

*—यद्यपि 'तृषित के हर्ष-सहित देखने' से दूध की नहीं, किन्तु 'जल की भ्रांति' अभिव्यक्त होनी चाहिए, क्योंकि तृषा की निवृत्ति का साधन जल है, दूध नही। तथापि क्षीर-समुद्र में जल के स्थान पर दूध ही होने से दूध की भ्राति मानी गई है। —अनुवादक।

"यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते।

अर्थात् जिस बात को कह रहे हैं—जो वाच्य है—वही व्यग्य है—वस्तुतः दोनो एक हैं, तथापि जिस रूप मे वह व्यग्य है उस रूप मे वाच्य नही है।" (तात्पर्य यह कि कहने का तरीका बदल जाने पर वही बात दूसरी हो जाती है, अतः इस भ्राति को व्यग्य कहने मे कोई बाधा नही।)

कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध-अलंकारमूलक अलंकारध्वनि, जैसे—

दयिते रदनत्विषां मिषादयि! तेऽमी विलसन्ति केसराः॥
अपि चालकवेषधारिणो मकरन्दस्पृहयालवोऽलयः॥

नायक नायिका से कहता है—हे प्रिये! तुम्हारी दतकाति के मिष से ये केसर सुशोभित हो रहे हैं और अलको का वेष धारण किए हुए ये मकरद के लोभी भौरे हैं।

यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मे जो दो अपह्नुतियाँ (अलकार) हैं, उनसे 'तू स्त्री नही है किंतु कमलिनी है' यह तीसरी अपह्नुति अभिव्यक्त होती है।

इन सब उदाहरणो मे व्यंजक कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध हैं—उन्हें कवि ने तयार किया है, लोक-सिद्ध नहीं हैं।

उभयशक्तिमूलक ध्वनि, जैसे

यद्यपि शब्द-शक्ति-मूलकता और अर्थ-शक्ति-मूलकता ये दोनों सभी व्यग्यों में साधारण रूप से रहती हैं, क्योकि शब्द और अर्थ दोनो के अनुसधान बिना किसी व्यग्य का उल्लास नहीं होता—अर्थात् सभी व्यग्यो में शब्द और अर्थ दोनो का अनुसधान अत्यावश्यक है, किसी

एकमात्र का नहीं, तथापि जहाँ ऐसे शब्दो की अधिकता हो जिन्हें बदला न जा सके, प्रधानता के प्रयोजक शब्द होते हैं—और अर्थशक्ति यद्यपि रहती है तथापि उसके अप्रधान होने के कारण ऐसे व्यग्य को शब्द-शक्ति-मूलक ही कहा जाता है। पर जहाँ ऐसे शब्द अधिक मात्रा मे हो कि जिन्हें बदला जा सके, वहाँ अर्थशक्ति की प्रधानता रहती है ऐसी जगह यद्यपि शब्द-शक्ति रहती है तथापि वह प्रधान (अर्थशक्ति) की अनुकूलता के लिये होती है—वह उसी की सहायता करती हैं, अतः ऐसी जगह प्रधान के अनुसार उस व्यग्य को अर्थ-शक्तिमूलक कहा जाता है। जैसे कि किसी गाँव मे यदि मल्ल (पहलवान) अधिक रहते हों तो उसे मल्लो का गॉव कहा जाता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ अन्य कोई रहता ही नहीं। केवल मल्लो की प्रधानता होने के कारण उस गॉव को मल्लग्राम कहा जाता है। बस, वही बात यहाँ भी समझ लीजिये। (तात्पर्य यह कि—न बदले जा सकनेवाले शब्द अधिक हो तो शब्द-शक्ति-मूलक व्यग्य कहलाता है और बदले जा सकनेवाले अधिक हो तो अर्थशक्ति-मूलक व्यग्य।)

परतु जिस काव्य मे बदले जा सकनेवाले और न बदले जा सकनेवाले दोनो प्रकार के शब्दो में से किसी एक जाति के शब्दो की प्रचुरता न हो, किन्तु दोनो जाति के शब्दो की समानता ही हो तो ऐसे व्यग्य का मूल शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियाँ होती हैं, अतः ऐसे व्यग्य को उभय-शक्तिमूलक माना जाता है। ऐसे व्यग्य को केवल शब्द-शक्तिमूलक अथवा केवल अर्थ-शक्ति-मूलक नही कहा जा सकता, क्योकि ऐसा कहने मे कोई प्रमाण नही।

आप कहेंगे—जाने दीजिये, यदि दोनो मे से किसी एक के नाम से इसे नहीं कहा जा सकता तो न सही; इसे शब्द-शक्ति-मूलक और अर्थ-शक्ति-मूलक व्यग्यो का सकर (मिश्रण) कह दीजिए। सो भी

उचित नही। कारण जहाँ दोनो शक्तियो से पृथक्-पृथक् व्यग्य अभिव्यक्त होते हो वही सकर माना जाता है, ;यहाँ तो एक ही व्यग्य है, अतः उनके सकर की अभिव्यक्ति नही कही जा सकती।

उदाहरण लीजिए—

रम्यहासा रसोल्लासा रसिकालिनिषेविता
सर्वाङ्गशोभासंभारा पद्मिनी कस्य न प्रिया ॥

जिसका 'हास' (हँसी, अन्यत्र—विकास) रमणीय है, जिसमें 'रस' (शृगार, अन्यत्र—मकरद) उमड़ रहा है, जो 'रसिकालि' (रसिको की पक्ति, अन्यत्र—रसिक भौंरो) से सेवन की गई है और जिसके सब अग शोभा से भरे पडे हैं, वह 'पद्मिनी' (नायिका, अन्यत्र—कमलिनी) किसे प्रिय नही—कौन उसे प्यार नही करता ?

इस पद्य मे हास, रस, अलि और पद्मिनी शब्द नहीं बदले जा सकते, शेष बदले जा सकते हैं। पर बदले जानेवाले और न बदले जानेवाले दोनो प्रकार के शब्द व्यजक हैं। अतः यह उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि है।

उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि समास मे भी हो सकती है

उभय-शक्ति-मूलक ध्वनि केवल वाक्य मे होती है। और वाक्य है पद-समूह का नाम, अतः यदि यह ध्वनि अनेकार्थक और एकार्थक दोनो प्रकार के पदो से बने हुए समास में रहे तो भी कोई विरोध नहीं। पर यह ध्वनि केवल एक पद में नहीं होती, कारण, एक पद अनेकार्थक और एकार्थक—दोनो प्रकार का—नहीं हो सकता।

मत-भेद

उभय-शक्ति-मूलक व्यंग्य के विषय में यह भी कहा जाता है कि—किसी भी व्यग्य को अर्थ-शक्ति-मूलक कहने के लिये इस बात की अपेक्षा

है कि वह अनेक अर्थों को प्रकाशित करनेवाली किसी प्रकार की भी शब्द-शक्ति द्वारा आविर्भूत न होना चाहिए—अर्थात् किसी व्यग्य के आविर्भाव में यदि एक भी अनेकार्थक शब्द की उपस्थिति हो तो उस व्यग्य को अर्थ-शक्ति-मूलक नहीं कहा जा सकता, क्योकि अर्थ-शक्ति-मूलक व्यग्य के लिये बहुत आवकाश है—एकार्थक शब्द ही तो ससार मे अधिक हैं। पर शब्द-शक्ति-मूलक कहने के लिये तो किसी भी प्रकार की अर्थशक्ति द्वारा आविर्भूत न होना अपेक्षित नही। कारण, ऐसे स्थल दुर्लभ हैं—केवल अनेकार्थक शब्दो से ही बने हुए पद्य अधिक मात्रा मे नही होते। इस कारण इस (उभय-शक्तिमूलक) ध्वनि का भी शब्द-शक्ति-मूलक ही कहा जा सकता* है।

उपसंहार

इस तरह अविधा-मूलक, तीनो प्रकार के व्यग्यो (शब्द-शक्ति-मूलक, अर्थ-शक्ति-मूलक और उभय-शक्ति-मूलक) का सक्षेप से निरूपण किया गया है और आगे भी यथावसर निरूपण किया जायगा।

लक्षणामूलक ध्वनियाँ

भेद

अच्छा, अब लक्षणामूलक ध्वनि का निरूपण सुनिए। लक्षणा, जिसका लक्षण आगे कहा जायगा, दो प्रकार की है एक निरूढा दूसरी प्रयो-

---

* इस मत के मानने में अरुचि यही है कि जब पृथक् पृथक् भेद हो सकते है तो उनको एक ही क्यो मान लिया जाय? यदि किसी भेद में थोडे पद्य मिलते है तो केवल इसी कारण उसे पृथक् न मानना युक्तिसगत नही।

जनवती । सो निरूढलक्षणा मे तो कोई व्यंग्य होता नहीं, क्योकि लक्षणा मे प्रयोजन ही व्यग्य होता है और वह निरूढ लक्षणा मे रहता नहीं। रही प्रयोजनवती, सो उसके छः भेद हैं। उनमें से गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना ये चार भेद तो अलकार-रूप में परिणत हो जाते हैं (अर्थात् प्रथम भेद रुपक रूप में, द्वितीय भेद अतिशयोक्ति के रूप में और तृतीय-चतुर्थ भेद हेतु-अलकार के रूप मे।) अब केवल दो* भेद रह जाते हैं—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था, जो कि ध्वनि के आश्रय हैं—अर्थात् जिनके सहारे व्यग्य का आविर्भाव होता है। उन्हीं दो भेदो के कारण लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं—एक जहत्स्वार्था-मूलक और दूसरा अजहत्स्वार्था-मूलक। उनमें से—

जहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि, जैसे—

कृतं त्वयोन्नत कृत्यमर्जितं चाऽमलं यशः।
यावज्जीवं सखे! तुभ्यं दास्यामो विपुलाशिषः॥

हे मित्र! तैने बडे ऊँचे दरजे का काम किया है और निर्मल यश कमाया है। हम लोग जब तक जीवित रहेंगे तब तक खूब आशीर्वाद देंगे।

यह अपकार करनेवाले के प्रति किसी पुरुष की उक्ति है। इसका व्यग्य यह है कि तेरे द्वारा अत्यत खेद-जनक अपकार किए जाने पर भी जो मधुर भाषण कर रहा है—कठोर नही बोलना चाहता, ऐसे मेरे ऊपर पापाचरण करनेवाले तेरी पापिष्ठता कैसे कही जा सकती है—उसे

---

*इन दो भेदों को 'काव्यप्रकाश' आदि में क्रमशः लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा के नाम से भी लिखा है।

वर्णन करने के लिये कोई शब्द नहीं। अर्थात् संसार में तुझसे नीच कदाचित् ही कोई हो।

अजहत्स्वार्था-मूलक ध्वनि, जैसे—

बधान द्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं
किरीटे बालेन्दुं नियमय पुनः पन्नग-गणैः।
न कुर्यास्त्वं हेलामितरजनसाधारणधिया
जगन्नाथस्याऽयं सुरधुनि! समुद्धारसमयः॥

पंडितराज जगन्नाथ गंगा की स्तुति कर रहे हैं। कहते हैं—आप दृढता के कारण सुंदर—अर्थात् अत्यंत दृढ—परिकर शीघ्र बाँध लीजिए—कमर कस लीजिए, और किरीट पर जो बालचंद्रमा है उसे सर्प-समूहों से और भी स्थिर बना लीजिए—ऐसा न हो कि कहीं ढीला-ढाला रह जाय और छटक पड़े। आप दूसरे मनुष्यों के समान समझ कर खेल न करिए, हे* देवनदी! यह जगन्नाथ के उद्धार का समय है।

यहाँ 'जगन्नाथ' इस पद के द्वारा 'जगन्नाथ' शब्द का वाच्य अर्थ ही 'अनेक पापों से युक्त होने' के रूप में लक्षित होता है—अर्थात् इस पद का वाच्य अर्थ है (केवल) 'जगन्नाथ (मनुष्य)' और लक्ष्य अर्थ है 'अनेक पापों से युक्त जगन्नाथ (मनुष्य)'। 'पापों का अन्य किसी पद से वर्णन न किया जा सकना—अर्थात् जगन्नाथ के ऐसे पाप हैं कि जिनके वर्णन करने के लिये शब्द नहीं मिलते' यह व्यंग्य है।

---

* इस संबोधन से यह सूचित होता है कि—अब तक आपका देवताओं से ही संबंध रहा है, मेरे जैसे किसी परम पापी से नहीं।

अजहत्स्वार्था के प्रसिद्ध उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति—भाले घुस रहे हैं' मे और इस उदाहरण मे यह भेद है कि—वहाँ वाच्य अर्थ (भाले आदि) मे रहनेवाला धर्म 'तीक्ष्णता आदिक', लक्ष्य (भाला धारण करनेवालो) मे, व्यंग्यरूप से प्रतीत होता है, पर यहाँ व्यंग्य (पापो की अनिर्वचनीयता) वाच्य अर्थ मे रहनेवाला धर्म नही है।

पदध्वनि और वाक्यध्वनि की पहचान

सो इस तरह ये पूर्वोक्त सभी व्यंग्य यदि किसी एक वाच्य मे एक ही पद के अंदर हो तो 'पदध्वनि' कहलाते हैं और अनेक पदो के अदर हो तो 'वाक्यध्वनि'। (पर इतना याद रखिए कि उभय-शक्ति मूलक व्यंग्य 'पदध्वनि' के रूप मे नहीं आता, क्योंकि वह व्यंग्य केवल वाक्य मे ही होता है।)

———

अभिधा अथवा शक्ति

(शब्द-शक्ति-मूलक व्यग्य पहले निरूपण किए जा चुके हैं। 'शक्ति' और 'अभिधा' पर्यायवाची शब्द हैं—दोनो का अर्थ एक है।) अब प्रश्न यह होता है कि—जिसे मूल मानकर आपने सबसे पहले ध्वनियो का यह प्रपच निरूपण किया है, वह 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' है क्या चीज ? सुनिए—

लक्षण

अर्थ का शब्द के साथ अथवा शब्द का अर्थ के साथ (किसी तरह कह दीजिए) जो एक प्रकार का संबंध रहता है, और जिसे 'शक्ति' नाम से पुकारा जाता है, वही 'अभिधा' है। (अर्थात् शब्द और अर्थ के पारस्परिक सबध का, जिसके कारण शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है, 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' कहा जाता है)

अभिधा क्या है ?

वैयाकरण, मीमासक आदि कहते हैं कि—"अभिधा एक स्वतत्र पदार्थ है, उसका अन्य किसी पदार्थ मे समावेश नही हो सकता।"

नैयायिक कहते हैं—"इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिए" इस रूप मे जो ईश्वर की इच्छा है, उसी का नाम अभिधा है। अर्थात् अभिधा का इच्छा-नामक गुण मे समावेश हो जाता है।" पर नैयायिको के मत मे एक दोष आता है। ईश्वरेच्छा विषयता-सबध से सर्वत्र रहती है—अर्थात् ससार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो ईश्वरेच्छा का विषय न हो, और इच्छा है एक पदार्थ, अतः जो इच्छा घट के विषय मे होगी वही पट के विषय मे भी होगी। सो पट (वस्त्र) आदि पदार्थ भी घट आदि पदो के वाच्य हो जायँगे। इस दोष के मिटाने

के लिये उनके हिसाब से यह मानना चाहिए कि—"विशेष-विशेष व्यक्तियों को उपाधिरूप मानकर ही घट-आदि पदों की 'अभिधा' होती है—अर्थात् घट पदार्थ से उपहित ईश्वर की इच्छा घट पद की शक्ति है और पट पदार्थ से उपहित पट पद की—इत्यादि"।

पर अन्य विद्वानों का कथन है कि—ऐसा मानने पर भी जिस तरह ईश्वर की इच्छा को अभिधा माना जाता है, उसी तरह ईश्वर के ज्ञान और यत्न को भी अभिधा कहा जा सकता है: क्योंकि जो-जो पदार्थ ईश्वर की इच्छा के विषय हैं, वे ईश्वर के ज्ञान और यत्न के भी विषय हैं। फिर इसमे क्या प्रमाण है कि—इच्छा को अभिधा माना जाय किन्तु ज्ञान और यत्न को नहीं, अतः पहला मत—अर्थात् अभिधा को पृथक् पदार्थ मानना—ही श्रेष्ठ है।

अप्पयदीक्षित के मत का खंडन

अप्पयदीक्षित ने 'वृत्तिवार्तिक' मे लिखा है—"शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा—अर्थात् शक्ति के कारण (शब्द में) जो प्रतिपादकता रहती है उसका नाम 'अभिधा' है।" सो कुछ नही है, क्योंकि इसका उपपादन नही हो सकता। देखिए—

इस विषय में सबसे पहले आप यह समझिए कि अभिधा चीज क्या है। यहाँ अभिधा उस वस्तु का नाम है, जो शब्द में रहनेवाला व्यापार * है और जिसका ज्ञान शब्द से उत्पन्न होनेवाले बोध का कारण-रूप है—अर्थात् शब्द के उस व्यापार का नाम 'अभिधा' है

---

* किसी वस्तु से उत्पन्न होनेवाली वह वस्तु 'व्यापार' कहलाती है, जो उस वस्तु से उत्पन्न होनेवाली वस्तु को उत्पन्न करे। विशेष विवरण के लिए 'पारिभाषिक शब्दों के अर्थ' (परिशिष्ट) में देखिए।

जिसका ज्ञान होने पर ही किसी शब्द द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होता है। और वही यहाँ लक्षण बनाने के लिये प्रस्तुत है—अर्थात् उसी का हमें लक्षण बनाना है।

अब सोचिए कि—अप्पयदीक्षित के लक्षण के अनुसार 'प्रतिपादकता' अभिधा हुई? 'प्रतिपादकता' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक प्रतिपादक (शब्द) मे रहनेवाला विशेष धर्म (प्रतिपादकत्व=प्रतिपादक होना) और दूसरा 'प्रतिपादन करना' जो एक प्रकार की क्रिया है। यदि आप पहला पक्ष माने तो प्रतिपादक का अर्थ होता है प्रतिपत्ति (अर्थात् शब्दार्थ बोध) का कारण, और उसमें जो प्रतिपत्ति की कारणता रूपी विशेष धर्म रहता है, वह हुई प्रतिपादकता। अर्थात् इस पक्ष में 'प्रतिपादकता' शब्दार्थ-बोध का कारण नही होती, किंतु शब्द में रहनेवाला 'कारणता' रूपी धर्म होता है। सो ऐसी प्रतिपादकता का ज्ञान तो प्रतिपत्ति (शब्दार्थ-बोध) का कारण है नहीं, क्योंकि 'शब्द शब्दार्थबोध का कारण है' इतना मात्र समझलेने से किसी शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। फिर आप प्रतिपादकता को अभिधा कैसे कहते हैं?

यदि आप दूसरा पक्ष—अर्थात् 'प्रतिपादकता' शब्द का 'शब्दार्थ-बोध के अनुकूल क्रिया'-रूप अर्थ—माने, तो उसका शब्दार्थ-बोध में उपयोग स्वय ज्ञात होने पर हो सकता है—अर्थात् उसका ज्ञान शब्दार्थ-ज्ञान का कारण होता है, अतः बात बन सकती है। पर ऐसा मानने पर भी, लक्षण मे, आप "शक्ति के कारण" इन शब्दा द्वारा जिस एक प्रकार की शक्ति को शब्दार्थबोध का हेतु कहना चाहते हैं वही तो अभिधा हुई। अतः आपके लक्षण का अर्थ यह होता है कि 'अभिधा के कारण प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है' सो इस लक्षण मे साफ-साफ दो दोष आ जाते हैं—एक असगति, दूसरा आत्माश्रय। उनमें से आत्माश्रय तो दीख ही रहा है, क्योकि जब पहले अभिधा-

शब्द का अर्थ समझ मे आवे तब तो आपका 'अभिधा' का लक्षण समझा जा सके। रही असगति, सो वह भी स्पष्ट है। कारण, यहाँ 'शक्ति' शब्द का अर्थ अन्य कोई हो नही सकता, क्योकि उसके अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति का ऐसा होना प्रमाण-सिद्ध नही कि जो शब्द से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का मिमित्त हो। अतः यह लक्षण बराबर * नहीं है।

---

* नागेश कहते है—'धान्येन धनवान्' की तरह यहाँ तृतीया का अर्थ अभेद मानने से काम चल सकता है, अत यह खण्डन कुछ नहीं। पर यह बात हमें नही जॅचती। कारण, धान्य विशेष पदार्थ है और धन सामान्य। अतः सामान्य विशेष का अभिन्न होने पर भी पृथक् निरूपण बन सकता ह, पर 'शक्ति' और अभिधा' दोनो पर्याय हैं, अत. उनका पृथक् निरूपण असगत ही है। —अनुवादक

इस पर पूर्व सस्करण में सपादक जी ने टिप्पणी दी है कि—'शक्तिस्वरूप शब्दनिष्ठ बोधहेतु व्यापार अभिधा है' नागेश का यह कथन ठीक ही है। घट नील घट है यह व्यवहार नवानसम्मत है।
—सपादक।

प्रथम संस्करण के सपादक जी की यह टिप्पणी ठीक है, पर वे अनुवादक के अभिप्राय तक पहुँचने का प्रयास करते तो अच्छा होता। सपादक जी यदि शक्ति शब्द का अर्थ शक्ति-सामान्य और अभिधा का अर्थ शक्तिविशेष मानें तभी तो उनका कथन भी सगत हो सकता है। 'घट' और 'नील घट' में भी वही बात है। 'घट' सामान्य है और 'नील घट' विशेष। यदि साहित्य-शास्त्र में प्रसिद्ध शक्ति और अभिधा की पर्यायता मानी जाती है तो यह उत्तर कैसे बन सकता है। हाँ साहित्यदर्पणकार की तरह वे भी वृत्तिमात्र को शक्ति मानते हों तो उत्तर हो सकता है, पर तब 'शक्य' और 'लक्ष्य' अर्थों में भेद करना कठिन हो जायगा। अनुवादक।

अभिधा के भेद

यह अभिधा तीन प्रकार की है—केवल समुदाय की शक्ति, केवल अवयवो की शक्ति और समुदाय तथा अवयवो की शक्ति का मिश्रण।

उनमे से पहली—अर्थात् केवल समुदाय की शक्ति—के उदाहरण 'डित्थ' आदि हैं, (क्योकि उनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि अवयव ही नहीं होते, अतः अवयवो की शक्ति का अभाव होता है।)

दूसरी—अर्थात् केवल अवयवो की शक्ति—के उदाहरण हैं 'पाचक', 'पाठक' आदि शब्द, क्योकि उनमें धातु 'पच्' आदि और प्रत्यय—ण्वुल्=अक आदि की शक्ति द्वारा ज्ञात होनेवाले दो अर्थों (धातु के अर्थ 'पाक' और प्रत्यय के अर्थ 'करनेवाला') के अन्वय से प्रकाशित होनेवाले—'पाक करनेवाला'—इस अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नही होती, अत. यहाँ समुदाय की शक्ति का अभाव है। (अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय मिलकर जिस अर्थ को बोधित करते हैं उसके अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की इस वर्ण-समुदाय द्वारा प्रतीति नही होती।)

तीसरी—अर्थात् समुदाय तथा अवयवो की शक्ति के मिश्रण—का उदाहरण है 'पकज' आदि शब्द। 'पंकज' शब्द के तीन अवयव हैं—उपपद ('पक'), धातु ('जन्') और प्रत्यय ('ड')। उनमे से उपपद का अर्थ 'कीचड़' धातु का अर्थ 'उत्पन्न होना' और प्रत्यय का अर्थ 'वाला' है। इन सबका आकाक्षादिवशात् जब अन्वय करते हैं तब 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह अर्थ प्रकाशित होता है। पर, 'पकज' शब्द से केवल इतना ही अर्थ प्रकाशित नहीं होता

(यदि ऐसा हो तो कीचड़ से पैदा होनेवाली सभी वस्तुएँ पंकज कहलाने लगें), किंतु 'कमलत्व' जाति से युक्त पदार्थ (अर्थात् कमल) का भी बोध होता है । अतः ऐसे शब्दों के विषय मे यह कल्पना करनी पड़ती है कि इन शब्दो मे ('कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' आदि अर्थों को समझानेवाली) अवयवो की शक्ति के अतिरिक्त ('कमल' आदि अर्थों को समझानेवाली) समुदाय की शक्ति भी रहती है, अन्यथा या तो 'कीचड से उत्पन्न होनेवाला' अर्थ ही प्रतीत होगा या 'कमल' ही । सो ऐसे शब्दो में पूर्वोक्त दोनो शक्तियो का मिश्रण सिद्ध है ।

इन्ही उपर्युक्त तीनो प्रकारो को क्रमशः रूढि, योग और योगरूढि नामो से पुकारा जाता है । (अर्थात् केवल समुदाय की शक्ति को 'रूढि', केवल अवयवो की शक्ति को 'योग' और दोनो के मिश्रण को 'योगरूढि' कहा जाता है ।)

अप्पयदीक्षित का खंडन

'वृत्तिवार्त्तिक' में अप्पयदीक्षित ने कहा है—"केवल अखंड (अर्थात् अवयव-विभाग-रहित समुदाय की) शक्ति से एक अर्थ की प्रतिपादकता का नाम 'रूढि' है, केवल अवयवशक्ति की अपेक्षा रखनेवाली—पद की प्रतिपादकता का नाम 'योग' है और दोनो प्रकार की (अवयवो की और समुदाय की) शक्ति की अपेक्षा रखनेवाली प्रतिपादकता का नाम 'योगरूढि' है ।" सो नहीं बन सकता । क्योंकि अभिधा के लक्षण में बताए हुए दूषणो—अर्थात् असंभव, असंगति और आत्माश्रय—का यहाँ भी हटाना कठिन है ।

अभिधा का चौथा भेद

अच्छा, अब आप यह विचार करिए कि—अश्वगंधा*, अश्वकर्ण,

---

* समुदाय-शक्ति के अनुसार अश्वगंधा का अर्थ एक प्रकार का औषध—असगंध—होता है और अवयव-शक्ति के अनुसार 'घोड़ों के

मडप, निशात और कुवलय आदि शब्दो मे इन तीनो भेदो में से कौन-सी शक्ति मानी जानी चाहिए, क्योकि इन सभी शब्दो के दो-दो अर्थ हैं, जिनमे से एक समुदायशक्ति (रूढि) द्वारा और दूसरा अवयव-शक्ति (योग) द्वारा प्रतीत होता है।

इसका उत्तर कुछ लोग यह देते हैं कि—जहाँ 'अश्वगन्धारसं पिबेत् (असगध का रस पीवे)' इस तरह विशेष विषय(अर्थात् 'अश्वगधा' शब्द का ओषधि के अर्थ मे) प्रयोग हो, वहाँ केवल समुदाय-शक्ति (रूढि) माननी चाहिए। और जहाँ 'अश्वगधा वाजिशाला' (घोड़ों की बू वाली घुड़साल) इत्यादि (अर्थात् 'अश्वगधा' शब्द का 'घोड़ो की बू वाली' अर्थ मे) प्रयोग हो, वहाँ केवल अवयव शक्ति (योग) माननी चाहिए।

आप कहेगे— 'अश्वगन्धारस पिबेत्" और "अश्वगन्धा वाजिशाला" इन दोनो वाक्यो मे 'अश्वगधा' शब्द तो एक ही है—शब्द में तो कोई फेर है नही। जब उसी एक शब्द में, एक वाक्य मे 'समुदाय-शक्ति' और दूसरे वाक्य में 'अवयव-शक्ति'—यो, दोनो शक्तियाँ रहने लगेगी तो, अभिधा के पूर्वोक्त प्रथम (रूढि) और द्वितीय (योग) भेदो का प्रसग ही कैसे प्राप्त हो सकता है—आप कह ही कैसे सकते हैं कि इस एक ही शब्द में एकत्र योग-शक्ति है और अन्यत्र रूढि शक्ति, क्योकि

गध वाली' होता है। इसी तरह अश्वकर्ण के क्रमशः एक औषध और घोड़े का कान, मंडप के मॅडवा और भात का मॉड पीनेवाला; निशांत के घर और रात्रि का अत (प्रभात), एवं कुवलय के रात्रि-विकासी कमल और भूमंडल अर्थ होते हैं।

उनके लक्षणो मे 'केवल' विशेषण लगाया गया है। पर देखते यह हैं कि 'अश्वगधा' आदि शब्दो मे न केवल समुदाय-शक्ति है, न केवल अवयव-शक्ति, किंतु भिन्न-भिन्न स्थानो पर उसी शब्द मे दोनो ही शक्तियॉ हैं। इसका उत्तर वे यह देते हैं कि—यद्यपि दोनो अर्थ ('औषध' और 'घोड़ो की बू वाली') एक शब्द (अश्वगंधा) से प्रतीत होते हैं, तथापि समुदाय-शक्ति से विदित होनेवाले (औषधि) और अवयव-शक्ति से विदित होनेवाले ('घोडो की बू वाली') अर्थों का परस्पर अन्वय नही होता, जैसा कि 'पंकज' आदि योगरूढ शब्दो मे होता है। अतः उन शक्तियो की केवलता मे कोई बाधा नही आती। (अर्थात् वे दोनो शक्तियॉ मिलकर काई अर्थ नही समझाती, कितु पृथक् पृथक् स्थलो में पृथक् पृथक् अर्थ समझाती हैं—अतः वे अपने-अपने स्थल मे केवल ही हैं।) हम यहॉ केवलता' से यह कहना चाहते हैं कि—समुदाय-शक्ति और अवयव-शक्ति ऐसे भिन्न-भिन्न दो अर्थों की बोधक होनी चाहिए कि जिन अर्थों मे परस्पर अन्वय की योग्यता न हो। अर्थात् जैसे 'पकज' शब्द के, योग-शक्ति और रूढि-शक्ति दोनो द्वारा बोधित अर्थों में परस्पर अन्वय की योग्यता है, क्योकि 'कीचड़ में उत्पन्न होनेवाला' 'कमल' हो सकता है और 'कमल 'कीचड़ मे उत्पन्न होनेवाला', वैसे न होकर ऐसे दो अर्थों का बोध हो जो एक दूसरे के साथ अन्वित न हो सके। सो बात यहाँ है ही।

आप कहेंगे—तब दोनो शक्तियों के मिश्रण-रूप—अभिधा के तृतीय भेद (योगरूढि) से इसमें क्या भिन्नता रही ? तो इसका उत्तर यह है कि—मिश्रण तो उन्हीं दो शक्तियो का हो सकता है, जो ऐसे दो अर्थों की बोधक हो कि जिनमे परस्पर अन्वय की योग्यता हो। इसलिए 'अश्वगधा' आदि शब्दों मे मिश्रण (योगरूढि) का प्रसंग नहीं है।

दूसरे लोगो का कहना है कि—'अश्वकर्ण (अश्वगंधा ?)' आदि शब्दो मे अभिधा के प्रथम और द्वितीय भेदो का प्रसंग ही नहीं है; क्योकि वहाँ एक ही शब्द मे दोनो शक्तियाँ रहती हैं, अतः उनकी केवलता नही हो सकती। किंतु उन शक्तियो का मिश्रण-रूपी जो तृतीय भेद है उसके पुनः दो भेद हैं—एक योगरूढि और दूसरी यौगिकरूढि। उनमे से पहले भेद का उदाहरण है 'पंकज' आदि शब्द और दूसरे क हैं 'अश्वकर्ण (अश्वगंधा ?)' आदि शब्द।

तीसरे लोगो का यह भी कहना है कि—यह (यौगिक रूढि) अभिधा का चौथा ही भेद है, इसका पूर्वोक्त तीनो भेदो से कुछ लेना-देना नही।

अभिधा के भेद हैं ही नहीं

इसके अतिरिक्त यह भी सिद्धांत है कि—सभी शब्द अखंड ही हैं, उनमे अवयव होते ही नहीं। इतने पर भी जो उनमे, समासों में पदो का विभाग और कृदंत, तद्धितांत तथा तिङंतो में प्रकृति और प्रत्ययों का विभाग है वह काल्पनिक ही है, अतः योग शक्ति है ही कहाँ ? क्योकि विशिष्ट (जुडे-जुड़ाए) पद को विशिष्ट (जुडे-जुड़ाए) अर्थ में ही शक्ति स्वीकृत है और वह है रूढि।

एक शंका और उसका उत्तर

आप शंका करेंगे कि इतना सब जान लेने पर भी—

"गीष्पतिरप्याङ्गिरसो गदितुं ते गुणगणान् सगर्वो न।
इन्द्रः सहस्रनयनोऽप्यद्भुतरूपं परिच्छेत्तुम्॥

राजा की स्तुति है—(हे राजन्!) 'गीष्पति' (वाणी के पति) भी आंगिरस (बृहस्पतिजी) आपके गुण-गणो के वर्णन करने का घमंड

नहीं कर सकते; और न 'सहस्रनयन' (हजार नेत्रवाला) भी इन्द्र आपके अद्भुत रूप का परिच्छेद करने के लिये—यह बताने के लिये कि इसमें इतनी ही अद्भुतता है—घमड कर सकता है।"

इत्यादिक मे रूढ्यर्थ को लेकर पुनरुक्ति होने लगेगी। (अभिप्राय यह कि 'गीष्पति' और 'सहस्रनयन' शब्द योगरूढ हैं, अतः उनका, योग और रूढि दोनों शक्तियों के मिश्रण से 'वाणी का पति आगिरस' और 'हजार नेत्रवाला इन्द्र' यह अर्थ हो ही जाता है, ऐसी दशा में पुनः 'आगिरस' और 'इन्द्र' शब्दों का प्रयोग पुनरुक्तिदोष-ग्रस्त है।)

यदि हम कहें कि—इस तरह जिस स्थल पर दोनो प्रकार के पदो की समीपवर्त्तिता हो वहॉ योगरूढ पद ('गीष्पति' आदि) केवल अवयवार्थ (योग) के बोधक ही रह जाते हैं, क्योंकि ऐसी जगह केवल उतना ही भाग प्रस्तुत विषय के उपयोगी विशेष प्रकार के अतिशय का लानेवाला होता है—अर्थात् वहाँ केवल यौगिक अर्थ ही ऐसी विशेषता रखता है जो प्रस्तुत अर्थ मे कुछ अधिकता कर सके, रूढिवाला अर्थ निष्प्रयोजन है; क्योंकि उसका वाचक पद वहॉ पृथक् लिखा हुआ है। तो आप कहेगे कि यह कहना ठीक है, पर, एक तो, ऐसा होने पर भी योगरूढ पद की रूढि-शक्ति का नियत्रण तो हुआ नही—ऐसे स्थान पर योगरूढ पद रूढ्यर्थ को न कहे इसके लिये आपके पास कोई उपाय नहीं है, इस कारण 'योगरूढ शब्द केवल योगार्थ का ही प्रतिपादन करे, रूढ्यर्थ का नहीं' इस बात के सिद्ध न हो सकने के कारण पूर्वोक्त पुनरुक्ति दोष लगा ही रहा—उसे आप न मिटा सके। दूसरे, जब कि एक ही योगरूढ पद से योगार्थ और रूढ्यर्थ दोनो आवश्यक अर्थों की उपस्थिति हो सकती है, तब फिर दूसरे पद ('आगिरस' आदि) की व्यर्थता होगी। अतः पूर्वोक्त शंका ज्यों की त्यों रह जाती है।

आपकी इस शका का समाधान यह है कि—यद्यपि अन्वय में अतरग की आकाक्षा होती है—अर्थात् पहले अतरग अर्थ का अन्वय होता है और तब बहिरंग का। अतः एक पद ('गीष्पति' आदि) से गृहीत होने के कारण पहले योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) और रूढ्यर्थ ('आगिरस' आदि) का अन्वय हो चुकने पर, क्योकि वे अतरग हैं, बाद मे प्रकट हुए सयुक्त अर्थ ('वाणी का पति आगिरस' आदि) का ही अन्यपद ('आगिरस' आदि) के अर्थ के साथ अन्वय होता है—अर्थात् अन्य किसी पद के अर्थ के साथ योगरूढ पद के सम्मिलित अर्थ का ही अन्वय होना उचित है, न कि पृथक् पृथक् स्थित केवल योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) अथवा केवल रूढ्यर्थ ('आगिरस' आदि) का। यह बात न्यायसिद्ध है। अतः यहाँ 'गीष्पति' शब्द के केवल 'वाणी के पति' अर्थ का 'आगिरस' पद के अर्थ के साथ अन्वय नहीं हो सकता। तथापि ऐसा वहीं होता है जहाँ शक्ति (अभिधा) द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो, अन्य वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ में नहीं। अतः ऐसी जगह यदि लक्षणा मानी जाय तो योगरूढ पद से केवल योगार्थ के प्रतिपादन में कुछ भी बाधक नहीं—अर्थात् लक्षणा द्वारा 'गीष्पति' आदि शब्दो के अर्थ केवल 'वाणी के पति' आदि मान लिए जायँ तो कोई बाधा नहीं। संक्षेप यह कि ऐसे स्थलों में केवल योगार्थ के प्रतिपादन के लिये लक्षणा मानी जाती है।

रही द्वितीय पद ('आंगिरस' आदि) का प्रयोग निरर्थक होने की बात। सो भी है नहीं। कारण, यदि निरर्थक समझकर द्वितीय पद ('आगिरस' आदि) का प्रयोग छोड़ दिया जाय तो रूढ्यर्थ ('बृहस्पति' आदि) का बोध करवा देने से योगरूढ ('गीष्पति' आदि) शब्द गतार्थ हो जायगा। और तब उसके द्वारा प्रतिपादित किए जानेवाले योगार्थ ('वाणी का पति' आदि) मे जिस तरह 'पकजाक्षी' शब्द मे, 'पकज' शब्द से वक्ता का तात्पर्य केवल रूढ अर्थ—

कमल—में ही होता है; योगार्थ-सवलित रूढ अर्थ ('कीचड से उत्पन्न होनेवाला कमल') मे नही होता, क्योकि वहाँ वक्ता को 'पकजाक्षी' शब्द का केवल 'कमल-नयना' अर्थ अभीष्ट है—'कीचड से उत्पन्न होने' रूपी योगार्थ मे उसका किंचित् भी तात्पर्य नहीं रहता, किंतु 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' यह योगार्थ अनिवार्य होने के कारण प्रतीत मात्र होता है, पर तात्पर्य का विषय न होने के कारण उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं, उसी तरह, अनिवार्य होने के कारण वक्ता के प्रधान तात्पर्य का विषय न होने की शका से योगार्थ ('वाणी के पति' आदि) की कुर्वद्रूपता (कारगर होना) नष्ट हो जायगी—वह बेकार हो जायगा। और ऐसी दशा में प्रस्तुत विषय के उपयोगी 'विशेष प्रकार के अतिशय की अभिव्यक्ति', जिसके लिये आप केवल यौगिक अर्थ की प्रतीति मानते थे, पाक्षिक हो जायगी। अर्थात् बिना द्वितीय पद के प्रयोग के शब्द मे वह करामात नहीं रह पाती कि जिसके कारण, लोगों को, यौगिक अर्थ भी नियमित रूप से वक्ता के तात्पर्य का विषय है—यह बात स्वीकार करनी ही पडे।

यह तो हुई वहाँ की बात, जहाँ योगरूढ और रूढ दोनो प्रकार के पदों का एक साथ ग्रहण हो। पर जहाँ "**पुष्पधन्वा विजयते जगत् त्वत्करुणावशात्**—पुष्पधन्वा (कामदेव) तेरी दया के अधीन होकर जगत् का विजय करता है" इत्यादिक मे एक ही ('पुष्पधन्वा') पद से रूढ्यर्थ ('कामदेव') की उपस्थिति और योगार्थ ('पुष्पों के धनुषवाला') द्वारा धनुष की निस्सारता का बोध हो जाता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि—'कवि ने कामदेववाची अन्यान्य रूढ पदों को छोड़कर क्यो 'पुष्पधन्वा' पद का ही ग्रहण किया' इस बात का अनुसधान करने से 'पुष्पधन्वा' आदि पदो के योगार्थ में कुर्वद्रूपता उत्पन्न हो जाती है।

सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि—ऐसे स्थलो पर योगरूढ पद के अतिरिक्त द्वितीय (रूढ) पद के ग्रहण करने पर अथवा न ग्रहण करने पर—दोनो ही तरह—कोई हानि नही।

इसी तरह जब किसी योगरूढ शब्द के समीप में उसके रूढ्यर्थ की जाति से भिन्न जातिवाले अर्थ का वाचक पद वर्त्तमान हो तब भी योगरूढ पद, लक्षणा द्वारा, केवल यौगिक अर्थ का बोधक होता है। जैसे—"**दिशि दिशि जलजानि सन्ति कुमुदानि**—अर्थात् सभी दिशाओ मे 'जलज' कुमुद विद्यमान हैं।" इत्यादि में यद्यपि 'जलज' आदि शब्द 'कमल' आदि अर्थों में रूढ हैं तथापि जब 'कुमुद' आदि भिन्न-जातीय शब्दो के साथ अन्वित होकर आवे तब 'जलज' आदि शब्द, लक्षणा द्वारा, केवल यौगिक अर्थ ('जल से उत्पन्न होनेवाले') के ही बोधक होते हैं।

आप कहेगे—ऐसे स्थलो मे लक्षणा क्यो की जाती है? योगरूढ पदो मे योग-शक्ति भी तो रहती है उसी से केवल यौगिक अर्थ का बोध हो जायगा। पर यह ठीक नही। कारण, योगरूढ पदो मे योग शक्ति द्वारा जो यौगिक अर्थ अभिव्यक्त हाता है वह रूढ्यर्थ से मिश्रित ही अभिव्यक्त होता है, अतः उसका स्वतन्त्रतया कुमुदादिक मे अन्वय नहीं हा सकता।

इस तरह अभिधा का निरूपग किया गया है।

वाचक और वाच्य

अभिधा द्वारा जो शब्द जिस अर्थ को बोधित करता है वह शब्द उस अर्थ का **वाचक** होता है और जिस शब्द की यह शक्ति जिस अर्थ मे होती है वह अर्थ उस शब्द का **अभिधेय** अथवा **वाच्य** होता है।

वाच्य अर्थ

वाच्य अर्थ चार प्रकार के हैं—जाति, गुण, क्रिया और याद्दच्छिक। उनमें से—

१—जाति

'गोत्व'* (सब गौओ = गाय-बैलो मे रहनेवाला सामान्य धर्म, जिसके कारण उन्हें 'गौ' कहा जाता है) आदि धर्म जाति कहलाता है। वह जाति अगो की विशेष प्रकार की रचना द्वारा अभिव्यक्त होती है (क्योंकि जैसी बैल के अगो की रचना होती है, वैसी अन्य जतुओ की नहीं होती, सभी प्राणियो की अग-रचना भिन्न भिन्न प्रकार की होती है) और प्रत्यक्षसिद्ध है। वही जाति 'गौ' आदि पदो का वाच्य-अर्थ है।

कहीं-कही जाति अनुमान-सिद्ध भी होती है; जैसे घ्राण (नासिका-इंद्रयवाची) रसन (जिह्वा-इंद्रियवाची) पदो का वाच्य-अर्थ 'घ्राणत्व' 'रसनत्व' आदि। इन जातियो को अनुमान-सिद्ध मानने का कारण है इद्रियो का इद्रिया द्वारा प्रत्यक्ष न होना†।

आप कहेंगे—'गोत्व-आदि जातियाँ गो-आदि पदों का वाच्य-अर्थ हैं' यह टेढा रास्ता क्यो लिया जाता है? सीधा योंही क्यों नहीं मान लिया जाता कि वे-वे व्यक्ति ही उन उन पदों के वाच्य-अर्थ हैं, क्योंकि गो-पद बोलने पर लाते-ले जाते व्यक्तियों को ही देखा जाता है, जाति को नही। पर यह आपकी कल्पना ठीक नही। कारण, ऐसा मानने में दो दोष हैं—एक आनन्त्य, दूसरा व्यभिचार। यदि सब व्यक्तियो मे अलग-अलग सकेत मानें तो अनत व्यक्तियों में अनत सकेत मानने पड़ेंगे;

---

* इसी तरह 'मनुष्यत्व' आदि अन्य सब जातियाँ समझो।

† इंद्रियों के विषय में इतना और समझ लीजिए कि—प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले खड्डे वगैरह का नाम इद्रिय नही है, किंतु इनके अदर काम करनेवाली वस्तु इंद्रिय है, जो अप्रत्यक्ष है। यह न्यायादि-सम्मत सिद्धात है।

क्योंकि गाय-बैल आदि प्रत्येक प्राणी अनत सख्या में दिखाई देते हैं। और यदि एक व्यक्ति में सकेत मानें और अन्य में नहीं तो व्यभिचार (अन्यगामिता) होगा। अर्थात् 'गौ' पद का एक गौ में सकेत होने पर भी यदि उस पद से अन्य गौओं का बोध हो जाय तो क्या कारण है कि उससे घडे आदि अन्य पदार्थों का बोध न हो। इस विषय में आप क्या प्रमाण रखते हैं कि 'गौ' पद से इसी वस्तु का बोध हो और अन्य का नहीं।

आप कहेंगे—नैयायिक लोग ऐसे स्थलो पर बोध होने के लिये 'सामान्य प्रत्यासत्ति' नामक एक अलौकिक सन्निकर्ष मानते हैं। उनका कहना है कि—हमें एक व्यक्ति का बोध होने पर उसी जाति के दूसरे व्यक्ति का बिना किसी के समझाए-बुझाए भी जो बोध हो जाता है इसका कारण यह है कि—हमारा 'जाना हुआ गोत्व' आदि धर्म अथवा 'गोत्व आदि का ज्ञान', जिसे सामान्य-प्रत्यासत्ति कहते हैं वही, वहाँ सन्निकर्ष (इद्रिय का और वस्तु का वह सबंध जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है) का काम देता है। सो इस 'सामान्य-प्रत्यासत्ति' रूपी अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा उस जाति के यावन्मात्र व्यक्तियों का बोध हो सकता है, अतः व्यक्ति मे सकेत मानने में भी कोई दोष नहीं। अर्थात् आपका बताया दूसरा दोष—व्यभिचार—यहाँ लागू नहीं पड़ सकता, क्योकि सामान्य प्रत्यासत्ति एक जातिवालो का ही बोध करवाती है, अन्य जातिवालो का नहीं, अतः 'गो' पद से घड़े आदि का बोध नही हो सकता। सो ठीक नहीं। कारण, सामान्य प्रत्यासत्ति को हम नहीं मानते, और यदि थोड़ी देर के लिये उसे मान भी लिया जाय तो उससे केवल अतिम दोष (व्यभिचार) का उद्धार हो सकता है, गौरवरूपी प्रथम दोष तो फिर भी ज्यों का त्यो रह जाता है। अर्थात् सामान्य प्रत्यासत्ति द्वारा आपको 'गो' पद से घट आदि का बोध न

होने पर भी सकेत तो आपको अनत व्यक्तियो मे अनत ही मानने पड़ेंगे।

इसी गौरवदोष के कारण, यदि आप व्यभिचार दोष का इस तरह निराकरण करे कि--सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति न मानने पर भी शक्ति का ज्ञान, पदार्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध इनका कार्य-कारण-रूप होना तभी बन सकता है जब उनमे प्रकार (विशेषण रूप से प्रतीत होनेवाला धर्म) एक हो, क्योकि भिन्न भिन्न प्रकारवालो का कार्य-कारण होना असभव है। वह प्रकार-रूपी धर्म होगा 'गोत्व' आदि, अत. उसके द्वारा जिनमें शक्तिज्ञान न हो पाया है वे व्यक्ति भी अन्वय-ज्ञान मे आ सकेंगे, तब भी निस्तार नहीं। अर्थात् ऐसी स्थिति में भी सकेत तो अनत व्यक्तियो मे पृथक्-पृथक् ही मानने पड़ेंगे।

अतः शब्द की जाति मे ही शक्ति माननी चाहिए, व्यक्तियो मे नहीं। रहा व्यक्तियों का बोध, सो वह या तो आक्षेप (अर्थापत्ति प्रमाण) से हो जायगा, क्योकि जाति बिना व्यक्तियो के रहती नही। और जो अर्थापत्ति-प्रमाण का शाब्दबोध का कारण नहीं मानते उनके हिसाब से लक्षणा द्वारा हो जायगा। रही यह बात कि अर्थापत्ति और लक्षणा में से यहाँ क्या मानना चाहिए, सो यह झगड़ा दूसरा है—इसे हम यहाँ उठाना नही चाहते।

जाति का माहात्म्य

यह जातिरूपी शब्दार्थ 'प्राणद' कहलाता है, क्योकि (शब्द को) यह 'प्राण'—अर्थात् व्यवहार की योग्यता—का दान करनेवाला है—ससार का व्यवहार इसी के द्वारा चलता है। यदि यह पदार्थ न हो तो सब व्यवहार रुक जायँ।

अतएव काव्यप्रकाशकार (वाक्यपदीय का वाक्य उद्धृत करके) कहा है कि "गौः स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौः, गोत्वाभिसबधात्तु गौः।"

इसका अर्थ यह है कि—'गौः' अर्थात् गले मे चमड़ी लटकने-वाला प्राणी, 'स्वरूपेण' अर्थात् जिसकी 'गोत्व'-जाति नहीं जानी जा सकी है ऐसे धर्मी के स्वरूप मात्र से, तात्पर्य यह कि यदि पूर्वोक्त प्राणी के विषय मे इतना मात्र जान लिया जाय कि वह कोई वस्तु है तो इतने से, वह 'न गौः' अर्थात् 'गौ' नामक पूर्वोक्त प्राणी के व्यवहार का निर्वाहक नहीं हो सकता, और 'नाप्यगौः' अर्थात् न इसी व्यवहार का निर्वाहक हो सकता है कि वह 'गौ' नामक प्राणी से भिन्न पदार्थ है। (साराश यह कि जब तक जाति का परिचय न हो तब तक किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु को हम व्यवहार मे नही ला सकते—उसके विषय मे कुछ भी नही कह सकते कि वह कौन है।) कारण, यदि बिना 'गोत्व'-रूपी जाति के ग्रहण किए भी 'गौ'-रूपी पदार्थ का ज्ञान होता हो तो जब दूर से देखने पर उस प्राणी के अंगों की रचना अभि-व्यक्त न हो और इस कारण 'गोत्व' जाति का ज्ञान न हो, उस दशा में भी 'गौ' पदार्थ में गौ है अथवा गौ से भिन्न पदार्थ है यह व्यवहार होने लगे। (इसका अभिप्राय यह है कि—यदि अगो की रचना से अभिव्यक्त होनेवाली जाति को—अमुक पदार्थ अमुक शब्द का वाच्य है—इस व्यवहार की योग्यता का सपादक न मानो और स्वरूप मात्र से ही व्यवहार मानने लगो तो किसी न किसी प्रकार का स्वरूप तो सब पदार्थों मे रहता है, उसमें किसी प्रकार की विशेषता न होने से—अर्थात् अमुक स्वरूप अमुक जाति का सूचक है यह न होने से—घडे मे 'गौ' पद का व्यवहार और 'गो' मे 'गौ से भिन्न पदार्थ होने' का व्यवहार होने लगेगा। अर्थात् लोग 'घडे' का नाम 'गौ' और 'गौ' का नाम और कुछ कर लेंगे और तब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की बात बिलकुल न समझ सकेगा। इस कारण भिन्न-भिन्न अगोंवाले पदार्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जातियाँ माननी पड़ती हैं, जिनसे संसार का व्यव-हार चलता है, अन्यथा अव्यवस्था हो जाय।) सो ही लिखा है कि—

'गोत्वाभिसंबंधात्' अर्थात् 'गोत्व' जाति से युक्त होने का ज्ञान होने से (वह पदार्थ) 'गौः' अर्थात् गो-शब्द से व्यवहार करने के योग्य है। (अर्थात् 'गोत्व' जाति से युक्त होने का ज्ञान ही इस व्यवहार को चलाता है कि गले में चमड़ी लटकनेवाला प्राणी ही 'गो' शब्द से पुकारा जा सकता है, अन्य कोई नहीं। अतः जाति को 'प्राणद' मानना सयुक्तिक है।)

गुण और क्रिया

गुण—शुक्ल (श्वेतता) आदि गुण कहलाता है, जो कि 'शुक्ल' आदि शब्दो का वाच्य है।

क्रिया—'चलने' आदि (चेष्टा) को क्रिया कहते हैं, जो 'चल' आदि शब्दो का वाच्य है।

आप कहेंगे—'शुक्ल' आदि गुणो का और 'चलना' आदि क्रियाओ का प्रत्येक व्यक्ति में भेद दिखाई देता है। (अर्थात् जो 'सफेदी' बगुले मे है वह कपड़े मे नहीं हो सकती और जो 'चलना' बैल में है वह मनुष्य में नही हो सकता।) अतः (जाति में न मानकर) व्यक्ति में शक्ति मानने मे जो आनन्त्य और व्यभिचार दोष थे, उन दोषो के कारण, वही अव्यवस्था यहाँ भी होगी। इसका उत्तर यह है कि—एक तो अनेक व्यक्तियो में अनेक गुण और अनेक क्रियाएँ मानने की अपेक्षा एक गुण और एक क्रिया मानने मे लाघव है। दूसरे यह भी कारण है कि—बगुले और कपडे—दोनो की सफेदी को, तथा बैल और मनुष्य की चाल को, देखकर देखनेवाला दोनो गुण अथवा दोनो क्रियाओं को 'सफेदी' और 'चाल' के रूप में ही पहचानता है, किसी भिन्न रूप में नहीं। अतः उन्हें एक ही स्वीकार किया जाता है।

यही बात काव्य-प्रकाशकार कहते हैं—"**गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते**—अर्थात् गुण,

क्रिया और यदृच्छा वस्तुतः एकरूप हैं, तथापि उनमें आश्रय (जिसमें वे रहते हैं उस) के भेद से भेद सा दिखाई देता है।" इसका अभिप्राय यह है कि—गुणो और क्रियाओ में जो भेद समझ पड़ता है वह भ्रम ही है, वस्तुतः वे एकरूप होते हैं। यह भेद-ज्ञान उपलक्षण है—अर्थात् इसी तरह एकता की बाधक अन्यान्य बातो को भी भ्रम ही समझो। जिससे यह सिद्ध हुआ कि गुणों और क्रियाओं में उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति भी भ्रम ही है। आप कहेंगे—यह तो आपने बिलकुल नई बात बताई। पर ऐसा नहीं है। जो लोग (वैयाकरणादिक) वर्णों को नित्य मानते हैं वे गकारादिक की उत्पत्ति और विनाश को भ्रमरूप स्वीकार करते हैं। वही बात यहाँ है।

याद्दच्छिक

वक्ता द्वारा अपने इच्छानुसार 'डित्थ' आदि शब्दो के प्रवृत्तिनिमित्तरूप मे मान लिया गया धर्म 'याद्दच्छिक' कहलाता है। (अर्थात् जो नाम स्वेच्छा-कल्पित हैं उनमें वक्ता जिसे उस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त मानता है वह धर्म 'याद्दच्छिक' पद से व्यवहृत होता है।)

आप कहेंगे—यह तो ठीक। पर वह धर्म है क्या चीज, सो तो कहिए। तो सुनिए—

उस धर्म को कुछ लोग 'स्फोट' नाम से पुकारते हैं, जो एक अखड वस्तु है और परम्परा से व्यक्ति मे रहता है तथा नाम के अतिम वर्ण से अभिव्यक्त होता है।

दूसरे विद्वान् कहते हैं—'स्फाट' नामक पृथक् वस्तु मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्रम से एक-दूसरे के पीछे लगे हुए वर्णों का समुदाय ही वह धर्म है।

जो लोग वर्णों को उत्पत्ति-विनाश-शील मानते हैं, उनके हिसाब से एक वर्ण दूसरे वर्ण की उत्पत्ति के समय तक रह नहीं सकता, अतः

वर्णों का समुदाय होता ही नहीं। वे लोग कहते हैं कि—केवल व्यक्ति ही यदृच्छा शब्द का अर्थ है। (अर्थात् ऐसे स्थानों में व्यक्ति ही शब्द का वाच्य होता है, व्यक्ति से अतिरिक्त धर्म-वर्म कुछ नहीं है।)

इन तीन मतों में से पहले के दो मतों में तो प्रथमतः विशेषण (स्फोटादिक) का ज्ञान होने से विशिष्ट (व्यक्ति) का बोध होता है, अतः यादृच्छिक धर्म के कारण ज्ञान सविकल्पक होता है। और तीसरे मत में निर्विकल्पक ज्ञान होता है, क्योंकि वहाँ सिवाय व्यक्ति के अन्य कोई विशेषण-रूप धर्म नहीं।

यह है शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति माननेवालो के सिद्धात की व्यवस्था।

सब शब्द जातिवाची है।

इस सिद्धात के अतिरिक्त एक यह भी सिद्धात है कि—सब शब्दो का वाच्य अर्थ जाति ही है। उनका कहना है कि—जिस तरह आप अन्यान्य शब्दो मे जाति का शब्द का वाच्य मानते हैं उसी तरह गुण-शब्द, क्रिया-शब्द और यदृच्छा-शब्दो मे भी वही वाच्य है। गुण-शब्दो और क्रिया-शब्दो मे भिन्न भिन्न व्यक्तियो मे रहनेवाले गुणो और क्रियाओ में रहनेवाली जाति उन-उन शब्दों का वाच्य होती है और यादृच्छिक शब्दो में बालक, वृद्ध और तोते आदि द्वारा उच्चारित उन-उन भिन्न-भिन्न शब्दों में रहनेवाली जाति, अथवा भिन्न-भिन्न समय में प्रतिपादित होनेवाला अर्थ भिन्न हो जाया करता है सो उन अर्थों में रहनेवाली जाति वाच्य है। अतः चार प्रवृत्ति-निमित्त मानने की आवश्यकता नहीं। सब शब्दो का प्रवृत्ति-निमित्त एक जाति ही है और वही सब शब्दो का वाच्य है। यह है जाति-शक्तिवादियों का मत।

लक्षणा

लक्षण

यह तो हुई अभिधा। अब आप कहेंगे—यह लक्षणा क्या चीज है ? जिसे मूल मानकर आपने अंतिम (अभिधा-मूलको के बादवाली) ध्वनि का निरुपण किया है। अच्छा यह भी कहते हैं। सुनिए—

शब्द से अभिधा द्वारा प्रतिपादित अर्थ का (अन्य किसी पदार्थ के साथ) संबंध 'लक्षणा' कहा जाता है।

लक्षणा के कारण

(यह तो एक मानी हुई बात है कि—जब, वक्ता का तात्पर्य जिस तरह के अन्वय में हो वह अन्वय, मुख्य (वाच्य) अर्थ द्वारा न बन सके, तब लक्षणा होती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि—जो अन्वय वक्ता के तात्पर्य का विषय हो उसका मुख्यार्थ में अभाव होना—अर्थात् जिस तरह का अन्वय वक्ता को अभीष्ट हो उसका न हो सकना—लक्षणा का कारण है। सारांश यह कि—जब तक मुख्य अर्थ द्वारा वक्ता के अभीष्ट अन्वय मे कोई बाधा नहीं होती, तब तक लक्षणा नहीं होती, किन्तु जब ऐसा अन्वय न हो सकता हो तब लक्षणा होती है। अतः वक्ता के अभीष्ट अन्वय का अभाव लक्षणा का कारण है, इसमें तो कोई संदेह नहीं। पर अब आप इस अभाव के विषय में जरा सूक्ष्म विचार करिए।)

लक्षणा जो अर्थ की उपस्थिति करवाती है उसका, मुख्यार्थतावच्छेदक—अर्थात् मुख्य अर्थ के सर्वांश मे रहने-वाले और अन्य किसी में न रहनेवाले धर्म (जैसे गंगा में गंगात्व)—में, वक्ता का तात्पर्य जिस तरह अन्वित होने में है उस तरह अन्वित होने का सर्वथा अभाव कारण नहीं है। अर्थात् यह नियम नहीं है कि—मुख्यार्थतावच्छेदक

वक्ता के अभीष्ट अर्थ में किसी भी तरह अन्वित न हो सके तभी लक्षणा किसी मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ को उपस्थित करे। कारण, शक्यतावच्छेदक (मुख्यार्थतावच्छेदक गगात्व आदि) के रूप से लक्ष्य अर्थ ('तट' आदि) की प्रतीति स्वीकार की जाती है—अर्थात् लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति मुख्यार्थतावच्छेदक के रूप से ही होती है।

[इस बात को दृष्टात द्वारा स्पष्ट कर लीजिए कि मुख्यार्थतावच्छेदक के रूप में लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति क्यो मानी जाती है। कल्पना करिए कि कोई किसी से कह रहा है—"साहब, आपके गॉव का क्या कहना है, वह तो गगाजी में है।" ऐसी दशा मे 'गगाजी' का मुख्य अर्थ है 'प्रवाह', उसमें तो गॉव का बसना असभव है। अतः वक्ता का तात्पर्य यह तो हो नहीं सकता कि 'आपका गॉव बीच पानी में है।' तब, गगा और गॉव का अन्वय न होता देखकर, आप, गगा और गगा के तट मे परस्पर जो समीपता-रूपी सबध है (जो लक्षणा के नाम से पुकारा जाता है) उसके द्वारा, यह समझ लेगे कि 'गाँव गगा मे नहीं, गगा-तट पर है।' कारण, ऐसी दशा मे गगा शब्द के असली अर्थ 'पानीके प्रवाह' को ही गगा-शब्द का अर्थ माना जाय तो योग्यता के अभाव से गॉव और पानी के प्रवाह का अन्वय नहीं हो सकता, क्योकि प्रवाह मे वह योग्यता नहीं कि उसमें गॉव बस सके। अब आप यह भी सोचिए कि—जो मनुष्य गॉव को गगा-तट पर न बताकर गगाजी में बता रहा है वह पागल तो है नहीं, अतः उसका उस तरह बोलने में कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए; वह प्रयोजन है—गॉव का शीतल और पवित्र होना। अर्थात् वह इस तरह कहकर यह सिद्ध करना चाहता है कि—आपका गॉव अत्यत शीतल और पवित्र है। सो यह प्रयोजन की प्रतीति तभी हो सकती है, जब कि 'गगात्व (शक्यतावच्छेदक)' के रूप से तट (लक्ष्य अर्थ) की प्रतीति स्वीकार की जाय—अर्थात् तट को गंगा-रूप समझा जाय। यदि लक्ष्य अर्थ—

तट—मे शक्यतावच्छेदक(मुख्यार्थतावच्छेदक)—गगात्व – की प्रतीति न हो तो तट मे शीतलता और पवित्रता सिद्ध नही होती। अतः मानना पड़ता है कि लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति शक्यतावच्छेदक के रूप में होती है।]

(इससे यह सिद्ध हुआ कि—मुख्यार्थतावच्छेदक के अन्वय का सर्वांश में अभाव लक्षणा का कारण नहीं है, किंतु वक्ता के अभीष्ट अन्वय में मुख्यार्थ का मुख्यार्थतावच्छेदक (गगात्व आदि के रूप से प्रतियोगी न होना—अर्थात् शब्द (गगा आदि) के मुख्यार्थ (प्रवाह आदि) का असली रूप से (अर्थात् असली अर्थ में कुछ भी न्यूनाधिकता न करनी पडे ऐसे रूप से) वक्ता के अभीष्ट अन्वय में न आ सकना लक्षण का कारण है। साराश यह कि या तो असली अर्थ का ही अन्वय न हो सकना या उसमे कुछ न्यूनाधिकता की आवश्यकता होना, लक्षणा द्वारा अर्थ उपस्थित करवाने का प्रथम कारण है।) और दूसरा कारण है रूढि अथवा प्रयोजन दोनों में से एक।

(इस सबका साराश यह है कि—**शब्द के मुख्य अर्थ का, वक्ता केअभीष्ट अन्वय मे, या तो आ ही न सकना या उसमें किसी प्रकार की न्यूनाधिकता की आवश्यकता होना और ऐसे शब्द के प्रयोग के लिये रूढि अथवा प्रयोजन इन दोनो मे से किसी एक का होना, ये दो बाते हो तभी शब्द लक्षणा द्वारा अर्थज्ञान करवा सकता है, अन्यथा नहीं।** अतः ये दोनो बाते लक्षणा द्वारा अर्थ की उपस्थिति का कारण हैं।)

आप कहेंगे—लक्षणा के प्रथम कारण के विषय मे इतनी सूक्ष्मता क्यो की जा रही है, सीधा क्यो नही कह दिया जाता कि 'मुख्य अर्थ का अन्वय न बन सकना' ही लक्षणा द्वारा अर्थज्ञान करवाने का कारण है। बात को व्यर्थ ही क्यों चक्कर में डाला जा रहा है? तो इसका उत्तर यह है कि—केवल यो मान लेने से "कौओं से दही की रक्षा करिए" इस

वाक्य मे लक्षणा नहीं हो सकेगी। कारण, यहाँ 'कौओ' शब्द का लक्ष्य (लक्षणा द्वारा प्रतीत होनेवाला) अर्थ होता है, कौए और उनके अतिरिक्त अन्य दही खा जानेवाले, सो आप के हिसाब से नहीं हो सकता, क्योकि 'कौआ' शब्द के मुख्य अर्थ के अन्वय होने मे यहाँ कोई बाधा नही, कारण, कौओ से भी दही की रक्षा अपेक्षित है। पर हमारे हिसाब से यहाँ लक्षणा हो सकती है, क्योकि वक्ता के अभीष्ट अन्वय मे 'कौआ' शब्द के मुख्य अर्थ (एक प्रकार के पक्षी) के अतिरिक्त अन्य दही खा जानेवालो को भी उस शब्द के अर्थ मे सम्मिलित करना आवश्यक है। (वक्ता कुछ पागल तो है नही कि कौओ से दही बचाने के लिए कहे और बिलैया बगैरह को खिला देने के लिये।) अतः 'मुख्य अर्थ का अन्वय न बन सकना' इतना हेतु पर्याप्त नहीं, इसलिए ऐसी सूक्ष्मता करनी पड़ती है।

लक्षणा के कुछ उदाहरण

आप जान चुके हैं कि मुख्य अर्थ के किसी दूसरे (लक्ष्य) अर्थ के साथ सबध का नाम लक्षणा है। सबध अनेक प्रकार के हैं, अतः 'गगा में गॉव है' यहॉ **समीपता**, 'मुख चॉद है' यहाँ **समानता**, शत्रु से यह कहना कि 'आपने बड़ा उपकार किया' इत्यादि विपरीत लक्षणा में **विरोध** और 'घी जीवन है' में **कारणता**, इत्यादि सबध, यथासभव लक्षणा के शरीर होते हैं।

(सारांश यह कि लाक्षणिक अर्थ का शब्द के मुख्य अर्थ के साथ जो सबंध हो उसका नाम ही लक्षणा है, क्योंकि वह सबध ही मुख्यार्थ के वाचक पद द्वारा लक्ष्य अर्थ के प्रतिपादन किये जाने का हेतु होता है।)

लक्षणा के भेद

लक्षणा प्रथमतः दो प्रकार की है—निरूढा और प्रयोजनवती। उनमें से भी प्रयोजनवती (प्रथमतः) दो प्रकार की है—गौणी और

शुद्धा। इन दो भेदो में से गौणी दो प्रकार की है—सारोपा और साध्यवसाना, और शुद्धा चार प्रकार की है—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा और साध्यवसाना। सो इस तरह प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद होते हैं (दो गौणी के और चार शुद्धा के)।

निरूढा लक्षणा

अच्छा, अब आप पहले निरूढा लक्षणा को लीजिए। निरूढा लक्षणा के उदाहरण हैं—अनुकूल, प्रतिकूल, अनुलोम, प्रतिलोम और लावण्य आदि, तथा 'नील' आदि धर्म का धर्मी (गुण की गुणी) में लक्षणा के उदाहरण हैं।

(उनमें से, दृष्टांत के तौर पर, पहले, 'अनुकूल' शब्द को लीजिए।) 'अनुकूल' शब्द का मुख्य अर्थ है 'किनारे का अनुगामी होना', पर जब हम कहे कि 'यह हमारे अनुकूल है' तब उस शब्द का मुख्य अर्थ तो बन नहीं सकता कारण, हम कोई नदी तो हैं नहीं कि वह पदार्थ हमारे किनारे का अनुगामी हो। सो मुख्य अर्थ का बाध होने के कारण और अनादि काल से इस तरह का प्रयोग चला आ रहा है—इस रूढि के अधीन होकर यह मानना पड़ता है कि—'अनुकूल' शब्द के मुख्य अर्थ (किनारे का अनुगामी होना) और अनुगुण के अर्थ मे 'एक वस्तु की तरफ झुकना' रूपी जो सादृश्य संबंध है उससे 'अनुकूल' शब्द द्वारा 'अनुगुण' अर्थ लक्षित होता है—अर्थात् पूर्वोक्त वाक्य मे 'अनुकूल' शब्द का सादृश्य-रूप लक्षणा-द्वारा यह अर्थ स्वीकार करना पड़ता है कि—वह पदार्थ हमारे गुणो का अनुगामी है। यही बात अन्य उदाहरणो मे भी समझो।)

यह तो हुई सादृश्य संबंध से एक अर्थ के अन्य अर्थ मे लक्षित होने की बात। अब अन्य संबंध से लक्षणा की बात लीजिए। 'नील' आदि पदो को गुण (रंग) और द्रव्य (घड़ा वगैरह) दोनो का वाचक मानने की अपेक्षा केवल गुण-वाचक मानने में लाघव है, सो

'नील' शब्द का शक्यतावच्छेदक होती है गुण मे रहनेवाली जाति। इस कारण 'नीला घड़ा' इस वाक्य मे 'नीला' और 'घड़ा' का समानाधिकरणता से (अर्थात् विशेषण-विशेष्य के रूप मे) अन्वय नही बन सकता, क्योकि 'नीला' है गुण और 'घड़ा' है द्रव्य, ये दोनो विशेषण-विशेष्य के रूप मे अभिन्न कैसे हो सकते हैं? सो गुणरूपी मुख्य अर्थ (रग) का जो गुणी (घडे) के साथ समवाय* सबध है, उसके द्वारा 'नीला' आदि (गुणवाचक) शब्दो से गुणवान् (नीले रगवाला आदि) पदार्थ लक्षित होते हैं।

निरूढ लक्षणा के भेद

सो इस तरह 'पहले समूह' ('अनुकूल' आदि) मे सादृश्य-सबंध के रूप मे और 'दूसरे समूह' ('नीला' आदि) मे सादृश्य से भिन्न (समवाय आदि) सबध के रूप मे लक्षणा की प्रवृत्ति होने के कारण विद्वान् लोग निरूढ लक्षणा मे भी 'गौणी' और 'शुद्धा' इस तरह दो भेद कहते हैं। (तात्पर्य यह कि निरूढ लक्षणा के दो भेद हैं— 'गौणी निरूढ लक्षणा' और 'शुद्धा निरूढ लक्षणा'। जहाँ सादृश्य-सबध हो वहाँ पहली और जहाँ अन्य कोई सबध हो वहाँ दूसरी होती है।)

प्रयोजनवती लक्षणा

(प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद पहले बताए जा चुके हैं। उनमें से 'शुद्धा प्रयोजनवती' के दो भेदो—जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था—के उदाहरण तो ध्वनि-प्रकरण मे दे आए हैं। रहे चार

---

* ऐसे पदार्थ, जो हैं तो दो, पर मिले ही दिखाई देते हैं—कभी जुदे-जुदे नहीं देखे जाते, जैसे गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान्, इनमें 'समवाय' नाम का संबंध माना जाता है।

भेद, गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना और शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना। इनके विषय मे इतनी बात तो उपर्युक्त रीत्या समझ मे आ ही जाती है कि—लक्षणा जब सादृश्य-संबध के रूप मे प्रवृत्त होती है तब गौणी कहलाती है ओर जब अन्य किसी सबध के रूप मे प्रवृत्त होती है तब शुद्धा। अतः अब केवल सारोपा और साध्यवसाना के विषय मे ही विचार अवशिष्ट रह जाता हे।)

आरोप और अध्यवसान

विषय (जिस पर आरोप किया जाता है वह, जैसे 'मुख' आदि) और विषयी (जिसका आरोप किया जाता है वह, जैसे चद्र आदि) दोनो का अलग-अलग निर्देश करके किया जानेवाला अभेद 'आरोप' कहलाता है और विपय को अलग न दिखाकर उसके साथ किया जानेवाला विषयी का अभेद 'अध्यवसान'* कहलाता है।

---

* अध्यवसान का यह लक्षण ठीक नहीं प्रतीत होता। कारण, यदि केवल विषय के पृथक् निर्देश के अभाव में ही साध्यवसाना लक्षणा मानी जाय तो पूर्वोक्त "मृद्वीका रसिता..." आदि में अतिशयोक्ति का व्यग्य कहना विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि वहाँ विषयी के पृथक् निर्देश का अभाव है, विषय के पृथक् निर्देश का नही। भगवन्नाम विषय है और योग-सिद्धि विषयी। अत हमारी समझ से अध्यवसान का लक्षण यह होना चाहिए कि—"विपय और विपयी दोनो में से एक के निर्दिष्ट होने पर अन्य का उसके साथ अभेद अध्यवसान कहलाता है।" (यही बात काव्य-प्रकाश के लक्षग और उदाहरण में भी है।)

—अनुवादक।

सारोपा और साध्यवसाना

आरोपवाली लक्षणा—अर्थात् जहाँ विषय और विषयी पृथक् पृथक् वर्णित हो वह—**सारोपा** कहलाती है और अध्यवसानवाली—अर्थात् जहाँ विषयी द्वारा ही विषय का भी काम चला लिया गया हो वह—**साध्यवसाना लक्षणा** कहलाती है। इस तरह "**मुखं चंद्रः** (मुख चद्र)" आदि गौणी सारोपा लक्षणा के और "**पुरेऽस्मिन् सौधशिखरे चन्द्रराजी विराजते** (इहिं पुर सौधन के शिखर राजत हिमकर-पाँति)" इत्यादि गौणी साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण होते हैं, क्योकि इन दोनो स्थानो पर लक्षणा सादृश्य-सबध के रूप मे आई है।

["घी जीवन है" यह शुद्धा सारोपा लक्षणा का और (घी के स्थान पर केवल) "जीवन है" शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है, क्योकि घी और जीवन मे सादृश्य-सबध नहीं, किन्तु कार्य-कारण-भाव सबध है। इसी तरह शुद्धा के भेदो मे अन्य सबधो के उदाहरण भी तर्कित किए जा सकते हैं।]

गौणी सारोपा लक्षणा का शाब्दबोध

गौणी सारोपा लक्षणा में—अर्थात् 'मुख-चद्र' आदि (रूपक) मे—विषयिवाचक चद्र आदि शब्दो से लक्षणा द्वारा, 'चंद्र आदि के सदृश' इस आकार मे अर्थों की उपस्थिति होती है। फिर उन अर्थों का, अभेद सबध द्वारा, 'मुख' आदि (विषयवाचक) शब्दो द्वारा उपस्थित करवाए हुए 'मुखत्व' (मुख्य अर्थ के अवच्छेदक जातिरूप धर्म) आदि से युक्त मुख आदि अर्थों के साथ (अभेद सबध द्वारा) अन्वय होता है। (तात्पर्य यह कि—'मुख-चद्र' इसका पूरा अर्थ है 'चद्र के सदृश (जो पदार्थ है उस) से अभिन्न मुख', जिसे साधारण शब्दो मे 'चद्र के सदृश मुख' कहा जा सकता है।)

आप कहेंगे—यहा 'चद्र' शब्द का अर्थ 'चद्र के सदृश' क्यो किया जाता है, 'चद्र की समानता' क्यों नहीं किया जाता—अर्थात् 'चद्र' शब्द का सीधा अर्थ 'चद्र की समानता'-रूप-धर्म न करके 'चद्र के समान' (जिसका अर्थ है चद्र की समानता से युक्त) अर्थ करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि धर्ममात्र में लक्षणा करने से काम चल जाय तो धर्मी तक दौड़ने में गौरव है। तो इसका उत्तर यह है कि—'समानता (सादृश्य)' आदि धर्मों के साथ 'मुख' आदि धर्मियो का अन्वय नहीं हो सकता। आप कहेंगे—क्यों नही हो सकता ? जिस तरह 'चद्र के सदृश मुख' यह अर्थ मानने पर 'चद्र' शब्द के अर्थ 'चद्र के सदृश' के साथ 'मुख' का अभेद सबध द्वारा अन्वय होता है, उसी तरह 'समानता' के साथ 'वैशिष्ट्य (युक्त होना)' सबध द्वारा अन्वय हो जायगा। (अर्थात् जैसे आप वहाँ 'चद्र के सदृश से अभिन्न मुख' यह अर्थ करते हैं, वैसे 'चद्र की समानता से युक्त मुख' यह अर्थ हो सकता है) इसमें बाधा क्या हुई ? तो इसका उत्तर यह है कि—दो प्रातिपदिकार्थों का विशेष्य विशेषण होना अभेद के अतिरिक्त अन्य किसी सबध द्वारा नहीं बन पाता—अर्थात् विशेष्य विशेषण होने के लिये प्रातिपदिकार्थों मे अभेद सबध ही होना चाहिए, ऐसा नियम है और बिना विशेषण विशेष्य माने दोनो पदो (मुख और चद्र) मे समान विभक्ति हो नही सकती। अत. यह सिद्ध हुआ कि 'मुख चद्र' (इस रूपक) का अर्थ 'चद्र के सदृश से अभिन्न मुख' (और यदि साधारण शब्दो मे कहो तो 'चद्र के समान मुख') यह होता है।

उपमा और रूपक मे क्या भेद है ?

पूर्वपक्ष

आप कहेंगे—यदि 'मुख चद्र' इस रूपक में भी 'चद्र के समान मुख' यह अर्थ होता है और 'चद्र-समान मुख' इस उपमा में भी वही

अर्थ, तब इन दोना में कुछ विलक्षणता तो हुई नहीं, फिर 'चद्र-समान मुख' इस उपमा से 'मुखचद्र' इस रूपक मे भेद कैसे है ? अर्थात् उपमा और रूपक को क्यों भिन्न भिन्न दो अलकार मानते हैं—एक ही क्यो नही मान लेते ? हम कहेगे—बोध मे विलक्षणता हो सकती है। कारण, जब 'मुख चद्र' यो बोलते हैं तब 'चद्र' शब्द का जो 'चद्र के समान' अर्थ होता है वह एक पद ('चद्र') का अर्थ है, अतः वहाँ 'चद्र' और 'समान' इन दो पदार्थों का सबध ससर्ग (दो पदो के अर्थों को परस्पर जोड़नेवाले सबध) रूप से भासित नहीं होता, क्योंकि ससर्गरूप मे भिन्न-भिन्न दो पदो के अर्थों के सबध का ही भान हो सकता है। और जब 'चद्र-समान मुख' इस तरह 'समान' शब्द का पृथक् प्रयोग करते हैं तो 'चद्र' और 'समान' इन अर्थों के भिन्न भिन्न दो पदो द्वारा प्रतिपादित होने के कारण उनका सबध ससर्गरूप से भासित होता है। तात्पर्य यह कि—रूपक मे 'चद्र' आदि का 'समान' के साथ सबध ससर्गरूप मे भासित नही होता और उपमा मे वह ससर्गरूप से भासित होता है, अतः उपमा और रूपक के बोध मे विलक्षणता हो जाती है। तो आप कहेगे—यह ठीक नही। कारण, बोध मे विलक्षणता हो जाने मात्र से उपमा और रूपक का भिन्न भिन्न अलकार होना सिद्ध नहीं हो सकता। अन्यथा **'मुखं-चद्र इव**—चाँद सा मुख' इस जगह भी **'चंद्रसदृशं मुखम्**—चद्र-समान मुख' इस उपमालकार से भिन्न कोई अन्य अलकार मानना पडेगा, क्योंकि बोध की वैसी विलक्षणता तो यहाँ भी है। (देखिए उपमालकार मे 'मुख चन्द्र इव' और 'चन्द्रसदृश मुखम्' का शाब्दबोध) अतः बोध के विलक्षण हो जाने मात्र स पृथक् अलकार मानना उपपत्ति-रहित है।

उत्तरपक्ष

प्राचीनो के मत

प्रथम मत

इस विषय मे कुछ लोगो का कथन है कि—यद्यपि रूपक (मुख-चद्र) की उपमा (चद्र-सा मुख) से स्वरूपज्ञान रूप अश—'चद्र के समान मुख' इत्यादि—मे विलक्षणता नहीं है, तथापि लक्षणा का प्रयोजन-रूप जो ताद्रूप्य (अभेद) का बोधरूपी अश है, उसे लेकर विलक्षणता मे कोई बाधा नही। और 'ताद्रूप्य के बोध' का अर्थ है विषय अर्थात् मुख आदि मे विषयितावच्छेदक अर्थात् चन्द्रत्व आदि का बोध। (तात्पर्य यह कि अततोगत्वा यद्यपि उपमा और रूपक दोनो का स्वरूपज्ञान एक सा ही होता है तथापि उपमा मे वाचक-पद ('इव' आदि) द्वारा सादृश्य का निरूपण होता है और रूपक में लाक्षणिक पद ('चद्र' आदि) द्वारा। और रूढि के अतिरिक्त लक्षणा बिना प्रयोजन के होती नहीं—यह नियम है, तदनुसार रूपक मे लक्षणा का प्रयोजन होता है 'अभेद-ज्ञान' और उपमा में वह हो नहीं सकता, क्योंकि जब लक्षणा ही नहीं है तो प्रयोजन किसका हो। अतः यह सिद्ध हुआ कि—उपमा में केवल सादृश्य का ही बोध होता है और रूपक में अततोगत्वा, लक्षणा के प्रयोजन रूप में व्यजना द्वारा, अभेद का बोध होता है। यह है उपमा और रूपक के भिन्न-भिन्न अलकार होने का बीज।)

आप कहेंगे—लक्षणा द्वारा होनेवाले भी तत्सदृश (चद्र आदि के सदृश) के बोध से ताद्रूप्य (चद्र आदि के अभेद) की प्रतीति होगी कैसे? ऐसी प्रतीति के लिये कोई उपाय तो है नहीं। दूसरे (सादृश्य

के स्थल में) दोनो पदार्थों (मुख और चद्र) के भेद का ज्ञान होने के कारण अभेद-ज्ञान मे रुकावट भी आ जाती है, अन्यथा 'चद्र समान मुख' इस स्थान पर भी ताद्रूप्य की प्रतीति होने लगेगी। इसका उत्तर यह है कि—जिस प्रकार श्लेष के स्थल मे (अनेक अर्थों के लिये) एक शब्द का ग्रहण होने के कारण उठी हुई व्यजना (उन दो अर्थों के सादृश्य-ज्ञान अथवा अभेद-ज्ञान का) उपाय मानी जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी (चद्र और चद्र-सदृश दो अर्थों के लिये) एक (चद्र) पद के ग्रहण द्वारा उत्थित व्यजना को उन दोनो के अभेद-ज्ञान का उपाय मान लिया जा सकता है। रही रुकावट की बात, सो व्यजना द्वारा होनेवाले बोध मे बाधका ज्ञान रुकावट नहीं डाल सकता। अतः आपकी शका व्यर्थ है।

आप कहेंगे—यह सब ठीक। पर यहाँ एक पद (चंद्र) द्वारा गृहीत होते हैं 'चद्र' और 'चद्रसदृश' ये दो अर्थ; अतः पूर्वोक्त रीत्या 'चद्रसदृश' में चद्र का अभेद भले ही प्रतीत हो जाय, पर (मुख्य शब्द के वाच्य) 'मुखत्व से युक्त मुख' मे चद्र का अभेद कैसे प्रतीत हो सकता है? क्योंकि मुख पदार्थ तो चद्र शब्द द्वारा गृहीत होता नही, और अनुभव-सिद्ध तो है '**वक्त्रे चन्द्रमसि स्थिते यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते**—अर्थात् मुख चद्र के विद्यमान रहते जो यह दूसरा चन्द्रमा उदय हो रहा है" इत्यादि मे विषय मे विषयी के ताद्रूप्य की प्रीतति। सो व्यजना द्वारा चद्र और चद्र-सदृश का अभेद मान लेने पर भी विषय और विषयी के अभेद की प्रतीति तो सिद्ध हो सकी नहीं। हम कहते हैं—यह सच है, पर आप यह सोचिए कि—व्यजना द्वारा चद्र-सदृश मे जब चंद्र का ताद्रूप्य सिद्ध हो जायगा, तब (शाब्दबोध के नियमानुसार) चंद्र-सदृश और मुख के अभिन्न होने के कारण चंद्र-सदृश से अभिन्न मुख के साथ भी चद्र का

अभेद सहज ही समझा जा सकता है, क्योकि "जो जिसके अभिन्न से अभिन्न होता है वह उससे भी अभिन्न होता है" यह बात न्याय-सिद्ध है; अत. विषय में भी विषयी के तादूप्य की सिद्धि हो जाती है। सो कोई गड़बड़ नहीं।

(इस मत का साराश यह है कि—उपमा और रूपक के स्वरूप-ज्ञान मे यद्यपि भेद नहीं है, तथापि लक्षणा के प्रयोजन रूप में जो विषय और विषयी का अभेद-ज्ञान होता है, उसे लेकर इन दोनों में परस्पर भेद है, क्योकि रूपक में अभेद-ज्ञान होता है और उपमा मे नहीं।)

द्वितीय मत

(पर दूसरे विद्वान् कहते हैं कि—उपमा और रूपक में केवल लक्षणा के प्रयोजनरूप अभेदज्ञान को लेकर ही भेद नहीं है, किन्तु स्वरूप ज्ञान को लेकर भी है। सुनिए—)

'चद्र' आदि (विषयवाचक) पदा से, लक्षणा द्वारा, मुखादिक पदार्थों की उपस्थिति यद्यपि 'चद्र-सदृशत्व' रूप से ही होती है—अर्थात् हमे लक्षणा द्वारा 'चद्र' शब्द का अर्थ 'चद्र सदृश' ही प्रतीत होता है, मुख नही; तथापि मुख-आदि (विषयवाचक) पदो से उप-स्थित करवाए हुए 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि पदार्थों के साथ जो, अभेद सबध द्वारा, अन्वय-ज्ञान होता है, वह चद्रत्वरूप से ही होता है 'चद्र-सदृशत्व' रूप से नहीं। (साराश यह कि—मुखचद्र इस वाक्य के अर्थ की उपस्थिति 'चद्र-सदृश मुख' इस रूप मे होने पर भी अन्वय-ज्ञान 'चद्र से अभिन्न मुख' इसी रूप मे होता है। अर्थात् ऐसी जगह अर्थ की उपस्थिति अन्यरूप से होती है और अन्वय-ज्ञान अन्य रूप से।)

आप कहेंगे—ऐसा मानने पर तो, प्राचीनों के मत से, जो पहले 'मुख चद्र' का 'चद्र-सदृश से अभिन्न मुख' यह शाब्द-बोध लिखा है, वह बिगड़ जायगा और यह नियम भी बिगड जायगा कि —पदार्थ की उपस्थिति और शाब्द-बोध दोनों का प्रकार (विशेषण) एक ही होता है।

आपकी इस शङ्का के समाधान के लिये दो बातो की कल्पना की जाती है। एक तो यह कि "उन-उन पदों ("चद्र' आदि) की लक्षणा का ज्ञान, लक्ष्य पदार्थो ('चद्र-सदृश आदि) के, ऐसे अन्वय-ज्ञान का कारण होता है, जिसमे उन उन पदो के शक्यतावच्छेदक ('चद्रत्व' आदि) विशेषण-रूप से रहते हैं।" (अर्थात् यह नियम है कि 'चद्र' आदि लाक्षणिक पदो के अर्थों ('चद्र-सदृश' आदि) के अन्वय बोध मे 'चद्र' आदि का शक्यतावच्छेदक 'चद्रत्व' आदि धर्म प्रविष्ट रहता है।) और दूसरी यह कि—"पदार्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध दोनो का आकार समान होना चाहिए, इस नियम को लाक्षणिक ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञानो के विषय मे मानना चाहिए; क्योंकि लाक्षणिक ज्ञान की अन्य ज्ञानों से विलक्षणता अनुभव-सिद्ध है।" इन दोनो नियमो के मानने से ही "गंगा मे गाँव है" इस पूर्वोक्त उदाहरण मे 'गगा' पद के लक्ष्यार्थ—तटत्व रूप से भी उपस्थित तट—का 'गगात्व' रूप से अन्वय-बोध, एव उस 'गगात्व' को निमित्त मानकर होनवाला शीतलता, पवित्रता आदि का बोध सगत हो सकता है। (अन्यथा यदि लाक्षणिक गंगा पद के अर्थ का शाब्दबोध केवल तट-रूप से ही हो तो उसके द्वारा शीतलता, पवित्रता आदि कैसे सिद्ध हो सकेंगी; क्योंकि तट में तो वे बातें हैं नही। अतः आपको उपर्युक्त दोनों नियम अवश्य मानने पड़ेंगे।)

प्रकृत उदाहरण 'मुख-चद्र' मे इसका फल है—विषय (मुख आदि) मे विषयी (चद्रादिक) में रहनेवाले असाधारण गुणों (कान्ति आदि)

से युक्त होने की प्रतीति। (अर्थात् इस तरह मानने से लक्षणा के प्रयोजन रूप मे चद्रादिक के असाधारण गुणों की मुखादिक में प्रतीति हो सकती है।) यदि ऐसा न मानो तो, बिना 'चद्रत्व' की प्रतीति के आप मुख में उन गुणो से युक्त होने का ज्ञान सिद्ध नही कर सकते, जो कि चद्रत्व मे नियत हैं—चद्रत्व के बिना कहीं नहीं मिलते। आप कहेगे—ऐसा मानने पर, प्राचीनो ने जो ताद्रूप्य-ज्ञान को लक्षणा का प्रयोजन माना है वह कैसे सगत हो सकता है ? क्योंकि आप तो 'उपमान के असाधारण गुणो से युक्त होने' को लक्षणा का फल मान रहे हैं। तो इसका उत्तर यह है कि—प्राचीनो ने 'ताद्रूप्य' पद से 'उपमान के असाधारण गुणो से युक्त होने' को ही कहा है—उनको उस पद का यही अर्थ अभिप्रेत है।

(इस मत का साराश यह है कि—रूपक मे 'मुख-चद्र' की पदार्थोपस्थिति 'चंद्र-सदृश मुख' यह होने पर भी शाब्दबोध का स्वरूप 'चद्र-रूप मुख' यह होता है और उपमा मे पदार्थोपस्थिति और शाब्दबोध दोनो 'चद्र-सदृश मुख' इसी रूप मे होते हैं और प्रयोजनज्ञान द्वारा होनेवाला भेद तो पहले मत मे लिख ही दिया गया है।)

सो इस तरह उपमा से रूपक का स्वरूप-बोधकृत और प्रयोजन रूपमे प्रतीत बोधकृत दोनो प्रकार का भेद स्पष्ट ही है।

तृतीय मत

तीसरे विद्वान् कहते हैं कि ये दानो ही बाते गड़बड हैं। बात असली यह है कि—उपमा का जीवनदाता है भेदमिश्रित साहश्य और गौणी सारोपा लक्षणा—अर्थात् रूपक—का जीवनदाता है भेद-रहित साहश्य। अर्थात् उपमा मे बोध होता है 'चद्र से भिन्न और चद्र के सदृश' यह, और रूपक मे होता है केवल 'चद्र के सदृश' यही। सो इस तरह स्पष्ट भेद दिखाई देते हुए प्रयोजन द्वारा होनेवाले

विलक्षणता तक दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। और इस पक्ष मे, 'जिसके अदर भेद रहता है उस साहश्य की प्रतीति का प्रयोजन ताद्रूप्य (अभेद) की प्रतीति कैसे हो सकती है (क्योंकि भेद और अभेद परस्पर विरोधी हैं)' इस गड़बड़ के हटाने के लिये परिश्रम भी नहीं करना पड़ता; अतः यह भी हमारे लिये अनुकूल है।

(कहने का साराश यह कि—साहश्य दो प्रकार का है, एक जिसमें भेद रहता है वह और दूसरा जिसमे भेद तिरोहित हो जाता है वह। उनमें से भेदवाला साहश्य उपमा का मूल है और अभेदवाला रूपक का। अतः दोना जगह साहश्य रहने पर भी उन साहश्यो के भिन्न-भिन्न होने के कारण अलकारों का भेद हो जाता है।)

सो इस तरह प्राचीनों का अभिप्राय मतभेदानुसार वर्णन कर दिया गया है।

नवीनों का मत

नवीन विद्वानो का तो कहना है कि—'मुख-चद्र है' 'ग्रामीण (पुरुष) बैल है' इत्यादिक प्रयोगो मे, 'चद्र' आदि पदार्थों का 'मुख' आदि के साथ, विना लक्षणा के ही, अभेद सबध द्वारा, अन्वय हो सकता है—वहाँ बाधा क्या है कि जिसके लिये लक्षणा की जाय; अतः यहाँ न लक्षणा की आवश्यकता है न उससे प्रतिपादित साहश्य की।

आप कहेंगे—भला, मुख का चद्र होना और ग्रामीण (पुरुष) का बैल होना सवथा बाधित है—सरासर विरुद्ध है, फिर वहाँ अभेद सबध द्वारा अन्वयज्ञान होगा कैसे? इसका उत्तर यह है कि—बाधा का निश्चय होने से जो-जो ज्ञान रुक जाया करते हैं उनके अवच्छेदक धर्म की कोटि में, जिस तरह 'आहार्य (बाधित समझते हुए कल्पित) ज्ञान से भिन्न' इतनी बात प्रविष्ट की जाती है, क्योकि आहार्य-ज्ञान की बाधा के निश्चय से रुकावट नहीं होती उसी तरह 'शाब्द-

बोध से भिन्न' यह बात भी प्रविष्ट कर दी जानी चाहिए। (अर्थात् यह माना जाना चाहिए कि आहार्य-ज्ञान की तरह शाब्द-बोध में भी बाधा का निश्चय रुकावट नहीं डाल सकता।) अतएव **"अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि**—अर्थात् शब्द अत्यन्त असत्—बिलकुल झूठे—पदार्थ का भी बोध करवा देता है" यह प्राचीनो का कथन सगत हो सकता है।

आप कहेगे—यदि ऐसा माना जाय तो 'आग से सींचता है' इस वाक्य से भी शाब्दबोध होने लगेगा। तो इसका उत्तर यह है कि—इस जगह योग्यता के ज्ञान का अभाव है—सींचे जाने की योग्यता का आग मे होना हमारी समझ मे नहीं आता, क्योकि 'सींचना' किसी तरल पदार्थ का हो सकता है, आग-आदि पदार्थों का नहीं। अतः ऐसी जगह शाब्द-बोध नही होता। परन्तु 'मुख चद्र' और 'ग्रामीण बैल' इत्यादि को ता हम अभाष्ट चमत्कार के सिद्ध करनेवाले समझते हैं—हमे बोध है कि ऐसे प्रयोगो मे एक विशेष प्रकार का चमत्कार है। अतः ऐसे स्थलो पर, इस समझ के वशीभूत इच्छा के विद्यमान होने से, योग्यता के आहार्य (बाधित होते हुए भी कल्पित) ज्ञान का साम्राज्य हो जाता है—अर्थात् अपने अभीष्ट-चमत्कार की सिद्धि के लिये हम योग्यता के आहार्य-ज्ञान के अधिकार मे आकर वास्तविक ज्ञान की परवा नही करते। सो बाधा कुछ रुकावट नहीं डालती। अतएव प्राचीन विद्वानो का योग्यताज्ञान को शाब्द-बोध मे कारण बतलाना सगत हो जाता है, क्योकि यहाँ योग्यता का आहार्यज्ञान है।

अथवा आहार्य योग्यता-ज्ञान मानने की अपेक्षा भी सीधा रास्ता यह है कि—'मुख-चद्र' आदि स्थलो मे अभेद द्वारा अन्वय-ज्ञान को ही आहार्य मान लिया जाना चाहिए अर्थात् ऐसी जगह बाधित होने पर भी इच्छया अन्वय-ज्ञान कर लिया जाता है। ऐसा करने से जिन

ज्ञानो मे बाधा का निश्चय रुकावट डालता है, न तो उनकी श्रेणा मे 'शाब्द-बोध से भिन्न होना' अपेक्षित रहता है और न योग्यता ज्ञान को शाब्द-बोध का कारण मानना—भले ही ये दोनो बातें न मानी जायॅ। एव 'आहार्य-बोध केवल प्रत्यक्ष ही होता है' इस नियम की भी कोई आवश्यकता नही, क्योंकि उस ज्ञान को शब्दजन्य मानने मे भी कोई बाधा नही है। (सो मुख-चद्र' आदि मे बिना लक्षणा के ही 'चद्र से अभिन्न मुख' यह अर्थ हो सकता है, अतः लक्षणा मानना अनावश्यक है।)

विचारने से यह बात उचित भी प्रतीत होती है। देखिए, आपके अभीष्ट 'मुख-चद्र' आदि—सारोप लक्षणा के उदाहरण—मे, आपको, अवश्यमेव दो वाच्यार्थों (मुख और चद्र) का ही अभेदान्वय स्वीकार करना पडेगा, न कि वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चद्र-सदृश) का। क्योंकि आप यदि वाच्य और लक्ष्य का अभेदान्वय मानने लगे तो प्राचीनो ने—

"राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्—अर्थात् राजनारायण आपका लक्ष्मी दृढ आलिगन कर रही है—वह आपको कभी नहीं छोड़ती।"

इस जगह 'राजनारायण' शब्द में रूपक सिद्ध करने के लिये जो यह अनुपपत्ति बताई है कि—"यदि यहाँ रूपक न मानो तो राजा के साथ लक्ष्मी का आलिंगन नही बन सकता, क्योकि लक्ष्मी के आलिंगन के लिये (राजा को) नारायण से अभिन्न होने की आवश्यकता है, न कि नारायण के सदृश होने की।" और इसी तरह—

'पदाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः—अर्थात् जो, नूपुरो के सुदर शब्द से चित्त चुरा लेनेवाला है वह अम्बिका का चरण-कमल आप लोगो के विजय के लिए हो—आपको विजय प्रदान करे।"

इस जगह यह अनुपपत्ति बताई है कि यहाँ यदि 'चरण-कमल' का अर्थ 'कमल के समान चरण' न लिया जाय—अर्थात् उपमा न मानकर रूपक मान लिया जाय—तो 'नूपुरो के सुदर शब्द से चित्त चुरा लेने-वाला' यह 'चरण-कमल' का विशेषण नहीं बन सकता, क्योंकि नूपुर पैर मे पहने जाते हैं, कमल मे नही।

कहने का तात्पर्य यह कि—ऐसे ऐसे स्थलो मे उपमा और रूपक के निर्णय के लिये जो अनुपपत्ति लिखी गई है, वह सर्वथा विरुद्ध हो जायगी। कारण, लक्ष्य अर्थ तो उपमा और रूपक दोनो मे वही 'तत्सदृश' (चंद्र-सदृश आदि) होता है। ऐसी स्थिति में पहले पद्य मे उपमा की तरह रूपक के स्वीकार करने पर भी बाधक (लक्ष्मी द्वारा आलिगन न किया जा सकना) समान है, अतः बाधक को रूपक का निर्णायक बताना असगत हो जाता है। इसी तरह दूसरे पद्य मे रूपक स्वीकार कर लेने पर भी (आपके हिसाब से 'पादाम्बुज' का अर्थ 'कमल के सदृश चरण' है, अत. कोई बाधक न रहने के कारण 'नूपुरो के सुदर शब्द' का रूपक का निवर्त्तक बताना नही बन सकता। (सो आपको विवश होकर यही मानना पडेगा कि प्राचीनो की रीति से भी वाच्य अर्थो (चद्र और मुख) का ही अभेदान्वय होता है वाच्य (मुख) और लक्ष्य (चद्र-सदृश) का नहीं, अन्यथा उपर्युक्त अनुप-पत्तियाँ शिथिल हो जायँगी।)

आप कहेंगे—(राज-नारायण आदि दृष्टान्तो द्वारा) 'मुख-चद्र' आदि समास के स्थल मे, कही, पूर्वोक्त रीति से भले ही बिना लक्षणा के बोध की सिद्धि मान ली जाय, पर जहाँ दोनो शब्दो का पृथक्-पृथक् प्रयोग होगा, समास नहीं होगा, वहाँ तो लक्षणा मानने मे कोई बाधक है नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त अनुपपत्तियाँ समास-स्थल मे ही दिखाई गई हैं। तो इसका उत्तर यह है कि "**कृपया सुधया सिञ्च हरे मा**

तापमूच्छितम्—हे हरे ! (सासारिक-) ताप से मूर्च्छित मुझे कृपा (-रूपी) सुधा से सीन्चिए।" इत्यादि प्रयोगो मे, बिना समास के भी, वही अड़चन उपस्थित हो जाती है, क्योंकि सीचा जा सकता है 'सुधा' से, न कि कृपा से, कृपा कुछ पानी की तरह तरल तो है नही। सो बिना समास के भी आपको वाच्य-अर्थों का ही अभेदान्वय मानना पडेगा, वाच्य और लक्ष्य का नही, क्योंकि जब तक कृपा-आदि को सुधा आदि से अभिन्न न माना जाय तब तक उसका सीचने के साथ अन्वय नही हो सकता।

यदि आप कहे कि—ऐसी जगह 'सींचने' में भी लक्षणा द्वारा अध्यवसान मानिए और तब 'सीचने' को उपमानरूप समझकर उसके द्वारा उपमेय ('करने') को निगीर्ण समझिए—अर्थात् जैसे अतिशयोक्ति मे 'चद्र' शब्द से 'चद्र और मुख' ये दोनों अर्थ गृहीत होते हैं, वैसे यहाँ भी 'सीचने' शब्द से 'सीचने' और 'करने' दोनो अर्थों का ग्रहण है यह मान लीजिए। इस तरह मानने से पूर्वोक्त पद्य का अर्थ होगा कि—'हे हरे! आप ताप से मूर्छित मेरे ऊपर सुधा से सींचने के समान कृपा करिए'। अतः लक्षणा मानने पर भी बिना समास के स्थलों मे कोई अड़चन नही। तो इसका उत्तर यह है कि—उत्प्रेक्षादि एकाध अलकार के अतिरिक्त अतिशयोक्ति, अपह्नुति आदि अन्य सब अलकारों में जिस तरह आहार्यज्ञान से ही काम बन जाता है, उसी तरह यहाँ भी आहार्य-ज्ञान से ही काम बन जाने पर 'सींचने' मे लक्षणा मानने के लिये कोई कारण नही और लक्षणा मानना अनुभव से विरुद्ध भी है।

इतने पर भी यदि आपको हमारे इस अनुभव के मानने मे कोई आपत्ति हो तो हम आपसे एक दूसरी बात पूछते हैं। सुनिए। प्राचीनों का सिद्धात है कि—रूपक में उपमान-वाचक चद्र आदि पद की 'उपमान के सदृश' अर्थ में लक्षणा होती है—अर्थात् 'चद्र' का 'चद्र सदृश' अर्थ होता है।

तो ऐसी दशा मे लक्ष्य अर्थ ('चद्रसदृश' आदि) का अवच्छेदक धर्म हुआ 'सादृश्य'। वह सादृश्य समानधर्मरूप होता है। अब यह कहिए कि—वह समानधर्म लक्ष्य अर्थ के भाग में 'सुदरता' आदि विशेषरूप से प्रतीत होता है अथवा सामान्य रूप से—अर्थात् केवल सादृश्य के रूप मे ?

यदि आप कहे कि—विशेष रूप से प्रतीत होता है। तब तो 'सुदर मुखचद्र' इत्यादि में पुनरुक्ति हो जायगी, क्योंकि जब आप 'सुदरता' को ही लक्ष्य अर्थ का अवच्छेदक मानते हैं तब 'चद्र के समान सुंदर मुख' इतना अर्थ तो 'मुखचद्र' का ही हो गया, फिर यह मुख का विशेषण 'सुदर' शब्द निरर्थक है। आप कहेंगे ऐसी जगह—जहाँ 'सुदरता' आदि समान धर्म का स्पष्ट शब्दो मे ग्रहण हो वहाँ, उस धर्म से भिन्न धर्म को ही लक्ष्य अर्थ के अवच्छेदक सादृश्य के रूप मे मानेंगे—अर्थात् जिस धर्म (सुदरता आदि) का स्पष्ट शब्दो में ग्रहण होगा उसे छोड़कर अन्य धर्म—'गौरता' आदि—को लक्ष्यतावच्छेदक मानेंगे। तात्पर्य यह कि 'सुंदर मुखचद्र' का अर्थ 'चाँद सा सुदर सुदर मुख' न मानकर 'चाँद सा गोरा सुदर मुख' इत्यादि मानेंगे, तो हम कहते हैं—यह अनुभव से विरुद्ध है।

इस अनुभव के विषय मे भी आप कुछ आनाकानी करें तब भी आपको इस बात में तो कोई आपत्ति हो नहीं सकती कि—

"अङ्कितान्यक्षसंघातैः सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणां शरीराणि कमलानि न संशयः॥

इसमे कोई सदेह नहीं कि देहधारियो के देह कमल हैं: क्योंकि ये भी 'अक्षो' (एकत्र—इद्रियो, अन्यत्र—कमलगट्टो) के समूहो से चिह्नित हैं और वे भी, और ये भी 'सरोग' (एकत्र—रोगो से युक्त, अन्यत्र—सरोवर मे रहनेवाले) हैं और वे भी।"

इत्यादिक उदाहरणो मे श्लेष के सहारे 'अक्ष' और 'सरोग' शब्दो के भिन्न-भिन्न दो अर्थों का अभेद मानकर एकरूप समझे हुए 'अक्ष-समूहो से चिह्नित होने' और 'सरोग होने' के अतिरिक्त (शरीरो और कमलो मे) अन्य किसी समान धर्म की सर्वथा स्फूर्ति नहीं होती। (अर्थात् 'सुदर मुखचद्र' मे तो आप गौरता आदि किसी अन्य विशेष धर्म को ही सादृश्य रूप मान लेंगे, पर ऐसे स्थलो मे तो शरीर आदि उपमेय और कमल आदि उपमान में एक समान धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई समान धर्म प्रतीत ही नहीं होता। यदि आप उसे लक्ष्यता-वच्छेदक धर्म न माने तो दूसरा समान धर्म लावेंगे कहाँ से ? और यदि लक्ष्यतावच्छेदक माने तो पुनरुक्ति हुए बिना न रहेगी। अतः लक्ष्यता-वच्छेदक सादृश्य की प्रतीति विशेष धर्म के रूपमें मानना अनुचित है।)

अब यदि आप कहे कि—हम सादृश्य की विशेष रूप से प्रतीति नही मानते, किंतु सामान्य रूप से—अर्थात् केवल सादृश्य के रूप मे—मानते हैं, ता यह भी नहीं बन सकता। यह नियम है कि—जिस तरह लाक्षणिक पद से लक्ष्य अर्थ प्रतीत होता है उसी तरह लक्ष्यतावछेदक धर्म भी प्रतीत होता है। सो लक्ष्यतावच्छेदक—सादृश्य—के शब्द द्वारा गृहीत होने के कारण रूपक के स्थल में उपमा होने लगेगी। यदि आप कहें कि—जहाँ सादृश्य वाच्य होता है वहीं उपमा होती है, अन्यत्र–अर्थात् लक्ष्य होने पर—नहीं, तो यह भी उचित नहीं। क्योंकि यदि ऐसा मानोगे तो "**नलिनप्रतिपक्षमाननम्** (कमल का शत्रु मुख)" इत्यादिक मे भी उपमा न हो सकेगी। कारण, वहाँ भी सादृश्य 'प्रतिपक्षशत्रु' शब्द का वाच्य नहीं, किंतु लक्ष्य है। और ऐसी जगह मानते हैं सभी विद्वान् उपमा।

अतः सिद्ध हुआ कि आप रूपक में सादृश्य का प्रतीत होना सामान्य अथवा विशेष किसी भी रूप से सिद्ध नहीं कर सकते।

अच्छा, अब एक बात और सुनिए—

"विद्वन्मानसहंस, वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते,
दुर्गामार्गणनीललोहित, समित्स्वीकारवैश्वानर ।
सत्यप्रीतिविधानदक्ष, विजयप्राग्भावभीम, प्रभो,
साम्राज्यं वरवीर, वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥

हे विद्वानों के हृदयरूपी मानसरोवर के हंसरूप—अर्थात् उसमें सर्वदा विहार करनेवाले, हे वैरियो की लक्ष्मी की न्यूनतारूपी कमलों के विकास के लिये सूर्यरूप, हे (युद्ध के लिये) किला न ढूँढने रूपी पार्वती के ढूँढने मे शिवरूप, हे युद्धरूपी समिधा के स्वीकार करने में अग्निरूप, हे सत्यप्रेमरूपी सती (महादेवजी की प्रथम पत्नी) की अप्रीति करने के लिये दक्षरूप, हे शत्रुओ के पराजयरूपी अर्जुन से पहले उत्पन्न होने मे भीम (भीमसेन + भयकर) रूप, वीरश्रेष्ठ राजन् ! आप ब्रह्माजी के सौ वर्षों तक उन्नतरूपेण साम्राज्य करते रहिए।"

ऐसी जगह 'विद्वन्मानसहस' इत्यादिक पदो में आए हुए श्लिष्ट-परपरित रुपक मे श्लेषमूलक अभेद मान लेने से—अर्थात् 'हृदय' आदि और 'मानसरोवर' आदि को एक शब्द ('मानस' आदि) द्वारा गृहीत होने के कारण एक मान लेने से—'राजा' और 'हस' दोनो की 'मानसवासी होना'-रूपी समानता सिद्ध होने पर, राजा में, सदृश-लक्षणा (गौणी)-मूलक हस के रूपक की सिद्धि होती है। अर्थात् जब 'मानस' शब्द के दोनो अर्थों को अभिन्न माना जाय तभी राजा को 'हस' रूप कहा जा सकता है, और जब राजा मे हसरूपता सिद्ध हो जाय तब (एक शब्द द्वारा) 'सरोवर' और 'मन' रूपी दो अर्थों का कथन जिसका परिचायक है वह 'श्लेष' सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि—जब 'मानस' शब्द के दो अर्थ किए जायँ तब राजा हसरूप कहा जा सकता है और जब राजा को हसरूप माना जाय तब 'मानस' शब्द

के दो अर्थ किए जा सकते हैं, अन्यथा नही। सो यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। बात यह है कि—जब तक रूपक (राजा का हंस-रूपता) की स्फूर्ति नहीं होगी तब तक 'मानस' शब्द के 'सरोवर' रूपी अर्थ मे भी वक्ता का तात्पर्य है—इस बात को समझाने के लिये कोई प्रमाण सामने नहीं आता। पर जब रूपक की स्फूर्ति हो जाती है तब उसके सिद्ध करनेवाले सादृश्य की अन्य किसी प्रकार सिद्धि न हो सकने के कारण, अन्यथानुपपत्ति-रूपी प्रमाण से, जिसका फल है दोनों अर्थों का अभेद-ज्ञान और जिसका रूप है दोनो अर्थों का प्रतिपादन, वह, श्लेष सिद्ध होता है। अर्थात् ऐसे स्थानों में श्लेष तभी सिद्ध हो सकता है जब कि पहले रूपक सिद्ध हो चुके।

अतः यह सिद्ध हुआ कि रूपक के स्थल मे वाच्य-अर्थों के अभेदान्वय की पद्धति ही सुंदर है, सदृशलक्षणा मानना नही।

और जो यह कहा जाता है कि—रूपक मे सदृश-लक्षणा का फल ताद्रूप्य का बोध है सो भी हृदयंगम नही। कारण, यदि ऐसा ही हो तो 'तत्सदृश (उसके सदृश)' इस शब्द से सादृश्य का बोध होने पर भी ताद्रूप्य का बोध होने लगेगा।

सो अंततोगत्वा यही सिद्ध होता है कि रूपक मे वाच्यार्थों का अभेद मानना ही उचित है। सदृश-लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

नवीनों के मत का खंडन

इस नवीनों के मत के विषय मे निम्न-लिखित विचार किया जाता है—

सबसे पहले तो नवीनों की तरफ से यह कहा जाता है कि—"दो प्रातिपदिकार्थों (मुख आदि और चंद्र आदि) के अभेदान्वय के ज्ञान से ही काम चल जाता है, अतः रूपक मे लक्षणा नहीं है" इस विषय म हमारा यह कहना है कि—किसी चमत्कारयुक्त साधारण (आह्लाद-

कता आदि) धर्म की उपस्थिति न होने की दशा में जिस तरह उपमालकार या तो सिद्ध ही नही होता और यदि किसी तरह सिद्ध हो गया तो उसमे चमत्कार नही होता, ठीक वही हाल रूपकालकार का भी है—उसकी सिद्धि के लिये भी किसी चमत्कारी साधारण धर्म की आवश्यकता रहती है, यह बात सभी सहृदयो की मानी हुई है। यदि ऐसा न हो तो "भारतं नाकमण्डलम्—अर्थात् भारत (महाभारत अथवा भारतवर्ष) स्वर्गप्रदेश है" और "नगरविधुमण्डलम्—अर्थात् नगर चद्रमा का बिब है" इत्यादि वाक्यो के सुनने के अनतर लोगो का रूपक का बोध जागरित नही होता—वे कह देते हैं कि 'भाइ, यह तो तुम्हारा रूपक बना नहीं'। पर इन्ही पूर्वोक्त वाक्यो के साथ जब हम, यथाक्रम, सुपर्वालंकृत (स्वर्ग के पक्ष मे—देवताओ, भारत (महाभारत) के पक्ष मे सुन्दर पर्व आदि, सभा, वन, विराट आदि से और भारतवर्ष के पक्ष मे सुन्दर पर्वो—त्योहारो—से सुशोभित)" और "सकलकल (चद्रमा के पक्ष मे—सब कलाओ, नगर के पक्ष मे सब कलाओं अथवा कोलाहल से युक्त)" ये शब्द जोड़ दें तो सबको रूपक का बोध हो जाता है—वे कह उठते हैं कि 'हॉ अब रूपक बन गया।' यह बात क्यो होती है ? अतः यह सिद्ध होता है कि 'साधारणधर्म' की उपस्थिति होने पर ही रूपक सिद्ध होता है अथवा रूपक मे चमत्कार आता है, अन्यथा नही।

यही बात 'मुखचद्र' आदि प्रसिद्ध उदाहरण मे भी है—वहॉ भी साधारण धर्म (आह्लादकता आदि) की उपस्थिति होने पर ही रूपक का बोध जागरित होता है। हॉ इतनी विशेषता अवश्य है कि प्रसिद्ध उदाहरण मे साधरण धर्म प्रसिद्ध होने के कारण अपने बोधक शब्द के श्रवण की अपेक्षा नहीं रखता—अर्थात् 'मुखचद्र' आदि में साधारण धर्म का बोधक शब्द रहे या न रहे, प्रसिद्ध होने के कारण साधारण धर्म का बोध अपने-आप हो जाता है, पर अप्रसिद्ध उदाहरणों में वह धर्म अप्रसिद्ध होने के कारण अपने बोधक शब्द के श्रवण की अपेक्षा

रखता है—अर्थात् वहाँ साधारण धर्म का बोधक शब्द अवश्य आना चाहिए।

ऐसी अवस्था में हम आपसे पूछते हैं कि—'साधारण धर्म से युक्त होना'-रूपी सादृश्य यदि रूपक के मध्य में प्रवेश न करे, तब किसी विशेष प्रकार के धर्म की उपस्थिति न होने की दशा में रूपक क्यों नहीं पूरा होता अथवा चमत्कार क्यों नहीं उत्पन्न कर सकता? ऐसी जगह उपमान और उपमेय में, किसी दूसरे (सादृश्य आदि) की अपेक्षा किए बिना ही पूर्ण हो जानेवाले, (आपके माने हुए) आहार्य अभेद-ज्ञान का तो साम्राज्य रहता है—उसमें तो कोई बाधा है नहीं, फिर अपूर्णता क्यों?

यदि आप यह कहना चाहें कि—दो पदार्थों के आहार्य अभेदज्ञान में अथवा उसके चमत्कार में किसी साधारण धर्म का ज्ञान प्रयोजक रहता है—अर्थात् साधारणधर्म के होने पर ही अभेद-ज्ञान होता है, तो यह कह नहीं सकते, क्योंकि—

"यद्यनुष्णो भवेद्वह्निर्यद्यशीतं भवेज्जलम्।
मन्ये दृढव्रतो रामस्तदा स्यादप्यसत्यवाक्॥

अर्थात् यदि आग उष्णता-रहित हो जाय और यदि जल शीतलता-रहित हो जाय तो, संभावना करता हूँ कि, सत्य-प्रतिज्ञ राम मिथ्याभाषी हो भी जायँ।"

इत्यादिक स्थलों में साधारण धर्म का बोध न होने पर भी आग में 'उष्णता-रहित होने' आदि के अभेद की प्रतीति हो जाती है।

आप कहेंगे—उपमान और उपमेय के स्थल में ही यह नवीन विशेषता है कि वहाँ आहार्य अभेद-ज्ञान में भी किसी साधारण धर्म की प्रयोजकता अपेक्षित है, तो इसका उत्तर यह है कि इस तरह की विशेषता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं, क्या कारण कि ऐसी विशेषता

मानी जाय ? यदि आप कहें कि मुख और चद्र में अभेद-ज्ञान बिना साधारणधर्म को प्रयोजक माने हा नहीं सकता, अतः ऐसा मानना पड़ता है, ता यह भी उचित नहीं। क्योकि 'मुख यदि चद्रमा होता तो पृथ्वी पर नहीं रह सकता' इत्यादिक स्थलों में, साधारण धर्म (आह्लादकता आदि) की अनुपस्थिति की दशा मे भी आहार्य अभेद ज्ञान स्वीकार किया जाता है। (अन्यथा मुख और चद्र का अन्वय ही न हो सकेगा, क्याकि दो प्रातिपदिकार्थों में अभेद से अतिरिक्त अन्य किसी सबध द्वारा अन्वय नही होता, यह नियम है। अतः यह सिद्ध हुआ कि—'मुखचंद्र' आदि में भी, साधारण धर्म की उपस्थिति के बिना भी, अभेद-ज्ञान हो सकता है, पर सादृश्य-ज्ञान के अभाव मे केवल अभेदज्ञान से रूपक सिद्ध न होने के कारण रूपक की सिद्धि में अपेक्षित सादृश्य के बोध के लिये लक्षणा का मानना आवश्यक है।)

आप कहेंगे—यदि रूपक की प्रतीति में उपमान का अभेद न आता हो—अर्थात् बिना उपमान और उपमेय के अभेद-ज्ञान के ही रूपक बन जाता हो ता **"सिंहेन सदृशो नायं किंतु सिंहो नराधिप.**—अर्थात् यह राजा सिंह के सदृश नही, किन्तु सिंह है" इत्यादि में निषेध किए जानेवाले (सिंह के सादृश्य) और विधान किए जानेवाले (सिंहत्व) दोनों की असंगति होगी—अर्थात् सिंह के समान होने का निषेध और सिंह होने का विधान दोनों न बन सकेंगे, क्योकि लक्षणा करने पर तो 'सिंह' का अर्थ भी 'सिंह के समान' ही होगा। तो इसका उत्तर यह है कि—अभी थोडा पहले ही प्राचीनो के भी (अन्तिम) दो मतो मे रूपक में तादूप्य (अभेद) के ज्ञान का स्वीकार प्रतिपादित किया जा चुका है।

यदि आप कहें कि—प्राचीनों के मत के अनुसार तो, पूर्वोक्त पद्य में सिंह शब्द के लाक्षणिक होने के कारण, विधेयकोटि—अर्थात् 'किंतु सिंह

है' इस भाग—में सादृश्य भी प्रविष्ट है, अर्थात् इस 'सिंह' शब्द का अर्थ भी 'सिंहके सदृश' ही होता है, अतः फिर भी निषेध—'सिंह के सदृश नहीं है'—की अनुपपत्ति ज्यों-की-त्यों रह जाती है। (तात्पर्य यह कि—'सिंह' शब्द में लक्षणा मानने से, पूर्वोक्त पद्य का अर्थ 'सिंह के सदृश नहीं है किंतु सिंह के सदृश है' होगा, जो कि सर्वथा अनुपपन्न है।) तो इसका उत्तर यह है कि—यहाँ, जिसका स्वरूप 'भेद-मिश्रित सादृश्य' है उस उपमा का ही निषेध है और भेद-रहित सादृश्य के रूप में लक्षित होनेवाले रूपक का विधान है। (साराश यह कि—ऐसे स्थलों में भेदमिश्रित सादृश्य का निषेध और भेद रहित सादृश्य का विधान होने के कारण किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं।)

यह तो हुई सादृश्य के बिना काम न चलने की बात। अब आप अपनी दूसरी बात लीजिए। आपने प्रथमत. यह दोष दिया है कि—रूपक में लक्षणा स्वीकार करने पर प्राचीनों का "राजनारायणम्०" इस जगह 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' का उपमा का बाधक और रूपक का निर्णायक मानना, एवं "पादाम्बुजम्०" इस जगह 'सुंदर नूपुरों से निनादित होन' को रूपक का बाधक और उपमा का निर्णायक मानना, विरुद्ध हो जायगा। सो यह भी नहीं।

कारण, पहले (प्राचीनों के द्वितीय मत में) यह सिद्ध किया जा चुका है कि—रूपक में 'चंद्रसदृश' आदि की प्रतीति 'चंद्रत्व' आदि के रूप से होती है। अतः 'राजनारायणम्' इत्यादि में* विशेषणसमास के अधीन रूपक के स्वीकार करने पर उत्तरपदार्थ (नारायण) के प्रधान होने के कारण नारायणसदृश की भी नारायणत्व के रूप से हो

* "मयूरव्यंसकादयश्च" (२।१।७१) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा किया जानेवाला समास 'विशेषण समास' कहलाता है।

प्रतीति होती है। इस कारण 'राजनारायणम्' को 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' का कर्म मानने मे किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं रहती। और यदि 'राजनारायणम्' में, *उपमित-समास के अधीन, उपमा का स्वीकार किया जाय तो पूर्व पदार्थ 'राजा' के प्रधान होने के कारण उसको राजत्व के रूप से ही प्रतीति होगी, अतः वह 'लक्ष्मी द्वारा किए जानेवाले आलिंगन' का कर्म नहीं बन सकता। इसी तरह "पादाम्बुजम्०" इत्यादि मे भी जो रूपक का स्वीकार किया जाय तो उत्तरपदार्थ प्रधान हो जायगा, अतः 'अबुज-सदृश' की भी 'अबुजत्व' रूप से ही प्रतीत होगी, और तब वहाँ 'सुदर नूपुरो के निनादो से मनोहर होना' नही बन सकेगा। पर उपमित-समास के अधीन उपमा मानने पर तो प्रधान 'चरण' की 'चरणत्व' के रूप मे ही प्रतीति होगी, 'अतः सुदर नूपुरो के निनादो से मनोहर होने' के सिद्ध होने मे कोई बाधा नही।

(साराश यह कि—रूपक विशेषण-समास के अधीन होता है और उसमे अतिम पद के अर्थ की प्रधानता रहती है। सो इस तरह 'राजनारायण' शब्द मे नारायण शब्द का अर्थ प्रधान हो जाता है और ऐसा होने पर ही 'लक्ष्मी द्वारा आलिंगन' बन सकता है, 'राजा' पद के अर्थ के प्रधान होने पर नही। अत. पूर्वोक्त 'आलिंगन के कर्म' होने को उपमा का बाधक और रूपक का निर्णायक मानना उचित ही है। इसी प्रकार उपमा उपमित समास के अधीन होती है और उसमे पूर्व-पद के अर्थ की प्रधानता रहती है। इस तरह 'पादाबुज' शब्द मे 'पाद' शब्द का अर्थ प्रधान हो जाता है और ऐसा होने पर ही उसकी

---

* 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (२।१।५६) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा होनेवाला समास, 'उपमित-समास' कहलाता है।

'सुदर नूपुरो के निनादो से मनोहर होना' बन सकता है, 'अबुज' पद के अथ के प्रधान होने पर नहीं। अतः 'निनादो से मनोहर होने' को रूपक का बाधक मानना और उपमा का निर्णायक मानना भी उचित है। सो प्राचीनों के मत मे कोई दोष नहीं।)

आप कहेंगे—'उपमित समास' में पूर्वपद के अर्थ चरण-आदि की चरणत्व आदि के रूप मे ही प्रतीति होती है' यह कथन उचित नहीं, क्योंकि जिस तरह "वक्त्रे चद्रमसि स्थिते यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते" इस पूर्वोक्त रूपक में, 'चद्र-सदृश' में 'चद्र' का ताद्रूप्य मान लेने पर, 'चद्रसदृश' के साथ मुख का अभेदान्वय होने के कारण, मुख में भी चद्र का ताद्रूप्य आप स्वीकार कर चुके हैं, उसी प्रकार यहाँ भी 'अम्बुजसदृश' मे 'चरण' का अभेदान्वय होने के कारण 'चरण' में भी 'अबुजताद्रूप्य' हो जाना चाहिए। और ऐसी दशा में वह अनुपपत्ति फिर ज्यों-की-त्यो रह जाती है। तो यह शंका उचित नहीं, क्योंकि आगे इस बात का प्रतिपादन किया जानेवाला है कि—उपमितसमास मे भेदमिश्रित सादृश्य लक्ष्य पदार्थ की कोटि मे प्रविष्ट रहता है, पर विशेषण समास म सादृश्य भेद-रहित होता है। अतः दोनों समासो मे लक्षणा के समान रूप मे होने पर भी उपमा और रूपक मे विलक्षणता हो जाती है।

अच्छा, अब तीसरी बात लीजिए। आपका तीसरा दोष यह है कि—लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य विशेष रूप (सुंदरता आदि) से तो प्रतीत नही हो सकना, क्योंकि ऐसा मानने से 'सुंदर-मुखचद्र' इत्यादि मे पुनरुक्ति हो जायगी, अतः सादृश्य की प्रतीति सामान्य रूप से माननी पडेगी, और ऐसा मानने पर सादृश्य के शब्द द्वारा गृहीत होने के कारण ऐसे स्थलों में उपमा होने लगेगी, रूपक नहीं हो सकेगा। सो यह भी उचित नहीं। कारण, रूपक में लक्ष्य अर्थ भेद स अमिश्रित साद-

श्य से युक्त होता है, अतः ऐसी जगह उपमा का निर्देश नहीं हो सकता, क्योंकि "साहश्यमुपमा भेदे—अर्थात् भेद रहते हुए जो साहश्य होता है उसे उपमा कहा जाता है" यह प्राचीनों का सिद्धांत है।

आप कहेंगे—जब भेद से मिश्रित और अमिश्रित दोनों प्रकार का साहश्य लक्षणा द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है, तब भेद से मिश्रित अथवा अमिश्रित साहश्य से युक्त अर्थों में से किसी के भी विषय में प्रयोग करना तो केवल वक्ता की इच्छा के अधीन रहा। ऐसी दशा में जहाँ वक्ता 'मुखचंद्र' इस वाक्य में 'चंद्र' शब्द का 'भेद-मिश्रित साहश्य से युक्त' अर्थ में प्रयोग करे—अर्थात् वक्ता जब यह कहे कि हमने तो यहाँ भेद-घटित साहश्य के विषय में प्रयोग किया है—तब 'मुखचंद्र' में उपमालंकार माने बिना गुजारा नहीं। सो यह आपत्ति पुनः ज्यों-की-त्यों रही। तो इसका उत्तर यह है कि—भेद-घटित साहश्य के प्रतिपादन की इच्छा होने के समय, शब्द का, 'भेद-घटित साहश्य से युक्त अर्थ' के विषय में लक्षणा द्वारा प्रयोग विरुद्ध है—अर्थात् भेद-घटित साहश्य के लिये लाक्षणिक शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि लक्षणा ताद्रूप्य के प्रतिपादन की इच्छा के अधीन है—अर्थात् जब ताद्रूप्य का प्रतिपादन करना हो तभी लक्षणा की जा सकती है, अन्यथा नहीं। कारण, किसी प्रयोजन के उद्देश्य बिना, शिष्ट पुरुष, निरूढा के अतिरिक्त लक्षणा द्वारा अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते। अर्थात् निरूढा के सिवाय अन्य सब लक्षणाओं में प्रयोजन होना अत्यावश्यक है और यहाँ ताद्रूप्य के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन है नहीं, अतः लाक्षणिक प्रयोग भेदमिश्रित साहश्य के विषय में हो ही नहीं सकता। यदि आप कहें कि—यहाँ हम भेद और ताद्रूप्य (अभेद) दोनों मानेंगे तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि भेद और ताद्रूप्य दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, वे एक साथ ज्ञाता की बुद्धि में आरूढ नहीं हो सकते। अतः ऐसा मानना असंगत है।

आप कहेंगे—'पुरुषव्याघ्र' इत्यादि उपमित समास मे उत्तरपद (व्याघ्र आदि) की अपने अर्थ के सदृश (अर्थात् व्याघ्रसदृश आदि) अर्थ मे लक्षणा ही माननी पड़ेगी, अन्यथा समास मे कोई सादृश्य-बोधक शब्द न होने के कारण सादृश्य का बोध न हो सकेगा। यदि कहो कि—'पुरुषव्याघ्र' का विग्रह* 'व्याघ्र इव पुरुषः—'व्याघ्र सा पुरुष' होता है, अतः विग्रह मे आया हुआ 'इव' शब्द सादृश्य का बोधक हो जायगा तो यह बन नहीं सकता, क्योंकि समास ('पुरुष-व्याघ्र') में 'इव' शब्द का सबंध नहीं है, वहाँ तो 'पुरुष' और 'व्याघ्र' दो ही शब्द हैं, 'इव' शब्द का कहीं पता नहीं। इतने पर भी यदि 'इव' का सबंध माने तो उसके हटाने का कोइ उपाय नहीं, कारण, उसका हटानेवाला कोई शास्त्र (सूत्र आदि) है नहीं। यदि कहो कि—समास मे 'इव' शब्द नहीं है तो न सही, विग्रहवाक्य 'व्याघ्र इव पुरुषः' में तो 'इव' शब्द है। तो यह कुछ नहीं, क्योंकि विग्रहवाक्य का 'इव' शब्द विग्रहवाक्य को उपमा का प्रतिपादक बना सकता है, दूसरे वाक्य (अर्थात् समास) को नहीं। अब कहो कि यदि ऐसा ही है तो 'पुरुष-व्याघ्र' आदि समास मे भले ही सादृश्य का बोध न रहे, तो यह भी कह नहीं सकते। कारण, ऐसी दशा मे 'व्याघ्र इव पुरुषः' यह विग्रह न हो सकेगा, क्योंकि जिस वाक्य (पुरुषव्याघ्र) का विवरण किया जा रहा है उसके शब्दों से जिस अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता उसका विवरण मे होना उचित नहीं—जो बात मूल मे नहीं उसे व्याख्या मे लावेंगे कहाँ से ? अतः इस विग्रहवाक्य के अनुसार 'पुरुषव्याघ्र' आदि उपमित समासवाले शब्दों में लक्षणा ही मानना पड़ेगी।

अब यदि कहा जाय कि जब लक्षणा माना जायगी तो पूर्वोक्त-रीत्या लक्षणा का प्रयोजनरूप ताद्रूप्य (अभेद) स्वीकार करना पड़ेगा।

---

* समास-आदि का अर्थ समझानेवाले वाक्य को विग्रह कहते हैं।

फिर प्राचीनों ने 'पुरुषव्याघ्र' आदि में रूपक न मानकर द्विलुप्ता (धर्मवाचकलुप्ता) उपमा कैसे कह डाली ? यदि बिना ताद्रूप्यरूपी प्रयोजन के लक्षणा होती ही नहीं तो यह क्या गड़बड़ है ?

इसका उत्तर यह है कि—उपमित समास की 'भेद-मिश्रित उपमान के सादृश्य से युक्त उपमेय' में शक्ति स्वीकार कर ली जायगी—अर्थात् 'पुरुषव्याघ्र' इस पूरे शब्द का वाच्य अर्थ 'व्याघ्र से भिन्न और व्याघ्र के सदृश पुरुष' यह होता है—उसमें लक्षणा है ही नहीं। अथवा, यह स्वीकार कर लिया जायगा कि—उपमितसमास के उपमानवाचक शब्द का—'भेदमिश्रित सादृश्य से युक्त' में निरूढ लक्षणा है—अर्थात् उपमित समास के उत्तर पद में आए हुए 'व्याघ्र' आदि शब्दों का अर्थ, निरूढ लक्षणा द्वारा, 'व्याघ्र से भिन्न और व्याघ्र के सदृश' होता है। तात्पर्य यह कि—यदि शक्ति न मानो तो केवल उपमितसमास में ही निरूढ लक्षणा है, अन्यत्र कहीं नहीं, अतः अन्यत्र ताद्रूप्यरूपी प्रयोजन के स्वीकार किए बिना निर्वाह नहीं।

जो लोग 'इव' आदि निपातों को (सादृश्य के) द्योतक मानते हैं (वाचक नहीं) उनके मत से, यही बात 'मुखं चंद्र इव' इत्यादि वाक्यों में और वाचकलुप्ता उपमा में मानी जानी चाहिए। (अर्थात् उन लोगों के हिसाब से या तो 'चंद्र इव' आदि समुदाय की 'चंद्रभिन्न चंद्रसदृश' आदि अर्थों में शक्ति है अथवा 'चंद्र' आदि शब्दों की पूर्वोक्त अर्थ में निरूढा लक्षणा है।)

आप कहेंगे—ऐसी दशा में उपमानवाचक शब्द ही सादृश्य का भी वाचक (शक्ति या लक्षणा से प्रतिपादक) हो गया; फिर 'पुरुष-व्याघ्र' आदि में वाचक का लोप कैसे माना जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि—ऐसे प्रयोगों में उपमानादिक से भिन्न केवल 'सादृश्य' अथवा 'सादृश्य से युक्त' का प्रतिपादक कोई शब्द नहीं है, अतः वाचक

का लोप माना जाता है। अर्थात् उपमानवाचक शब्द से सादृश्य की प्रतीति होने पर सादृश्यवाचक की सत्ता नहीं समझी जाती, उसके लिये केवल 'सादृश्य' या 'सादृश्य से युक्त' के वाचक (अर्थात् 'इव' आदि अथवा 'सदृश' आदि) शब्द का पृथक् प्रयोग अपेक्षित है। सो यहाँ उपमान से भिन्न कोई ऐसा शब्द न होने क कारण वाचक का लोप मानने मे कोई वाधा नही।

रही आपकी चौथी बात कि—'विद्वन्मानसहस' इत्यादिक प्रयोगो में अन्योन्याश्रय दोष होगा। सो उस दोष का परिहार हम रूपकालकार के प्रकरण मे करेंगे।

अब केवल आपका पाँचवाँ दोष बच रहता है। जो यह है कि—रूपक मे ताद्रूप्यज्ञान को सदृश-लक्षणा का प्रयोजन मानना उचित नहीं, क्योकि यदि ऐसा करोगे तो 'तत्सदृश' इस शब्द से उत्पन्न बोध के अनतर भी ताद्रूप्यज्ञान होने लगेगा। सो यह कुछ है नहीं। कारण, 'तत्सदृश' शब्द मे लक्षणा नहीं है, अतः वहाँ ताद्रूप्यज्ञान होने की बात ही नहीं। "ताद्रूप्यज्ञान लक्षणा का प्रयोजन है" यह प्राचीनो का सिद्धात है, न कि 'सादृश्यज्ञान का प्रयोजन है' यह। अतः आपके ये सब दूषण व्यर्थ हैं।

'महाभाष्य' आदि ग्रंथ भी प्राचीनो के सिद्धात के ही अनुकूल हैं। यदि नवीनों का सिद्धात माना जाय तो उन सब ग्रथों में बड़ी गड़बड़ हो जायगी। अतः प्राचीनों का सिद्धांत ही उत्तम है। यह है इस सब का सक्षेप।

गौणी साध्यवसाना लक्षणा का विचार

साध्यवसाना के विषय में विद्वानों के विचार तीन प्रकार के हैं—

१—कितने ही विद्वानो का कथन है कि—"पुरेऽस्मिन् सौध-शिखरे चद्रराजी विराजते—अर्थात् इस पुर के महलों की छत पर

चद्रमाओ की पंक्ति विराजमान हो रही है" इत्यादिक में लक्षणा द्वारा, यद्यपि 'मुख' आदि (लक्ष्य अर्थ) की उपस्थिति 'मुखत्व' आदि द्वारा—अर्थात् लक्ष्यअर्थ के वास्तविक स्वरूप में—होती है (तात्पर्य यह कि मुखरूप लक्ष्य अर्थ की उपस्थिति में चंद्रत्व का कुछ भी संबध नहीं रहता), तथापि शाब्दबोध 'चंद्रत्व' आदि मुख्यार्थतावच्छेदक धर्म से ही होता है । (साराश यह कि—ऐसे स्थलो में 'चद्र' आदि शब्दों का लक्ष्य अर्थ वस्तुतः मुख त्वादिक धर्म से युक्त मुख आदि के रूप में ही होता है, उसमे 'चद्रत्व' आदि धर्म का भान नहीं रहता, किंतु शब्द-द्वारा जो बोध होता है वह 'चद्रत्व से युक्त मुख' का होता है। कारण, हम पहले लिख चुके हैं कि यद्यपि शब्द का बोध और अर्थ की उपस्थिति दोनो एक ही तरह के होने चाहिए—यह नियम है, तथापि लाक्षणिक ज्ञान के विषय मे यह नियम प्रवृत्त नहीं होता ।) और इसका कारण है लक्षणा के ज्ञान का ही प्रभाव—अर्थात् लक्षणा के ज्ञान में कुछ ऐसा प्रभाव है कि वह शब्दजन्य बोध और अर्थ की उपस्थिति दोनों को भिन्न-भिन्न बना देता है ।

(इस मत का साराश यह है कि—गौणी साध्यवसाना लक्षणा मे 'चद्र' आदि शब्दो के अर्थ की उपस्थिति वास्तव मे 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि के रूप मे होने पर भी शब्द-बोध होता है 'चद्रत्व से युक्त मुख' आदि ।)

२—पर जो विद्वान् लक्षणा में भी इस नियम को मानते हैं कि 'अर्थ की उपस्थिति और शाब्दबोध एक प्रकार के होने चाहिए' उनका कथन है कि—जब लक्षणा द्वारा 'मुखत्व से युक्त मुख' आदि का शाब्दबोध हो चुकता है तब, एक (केवल 'चंद्र') शब्द स (दो अर्थों—'मुख' और 'चंद्र'—के) ग्रहण करने के कारण उत्पन्न हुई व्यंजना द्वारा मुखादिक का 'चंद्रत्व' आदि के रूप से बोध होता है ।

(सारांश यह कि--साध्यवसाना के स्थल में लक्षणा तो 'चंद्र' आदि शब्दों का केवल 'मुख' आदि अर्थ बताकर दूर हो जाती है। फिर उस एक (चंद्र) शब्द से 'चंद्र' और 'मुख' दो अर्थों का ग्रहण होने के कारण (क्योंकि अभिधा द्वारा चंद्र शब्द का अर्थ 'चंद्र' होता है और लक्षणा द्वारा 'मुख') व्यंजना का आविर्भाव होता है और वह 'चंद्रत्व' के रूप में मुख का बोध करवाती है--अर्थात् प्रथमतः 'चंद्र' शब्द का बोध 'मुख' के रूप में होने पर भी व्यंजना द्वारा 'चंद्रत्व से युक्त मुख' यह बोध होता है।)

इन दोनों मतों में 'मुख' आदि में 'चंद्रत्व' के बोध की सामग्री मुख आदि के अपने धर्म 'मुखत्व' आदि की प्रतीति का निवारण नहीं करती--अर्थात् 'चंद्र' शब्द के लाक्षणिक अर्थ 'मुख' आदि में 'चंद्रत्व' और 'मुखत्व' दोनों धर्मों का बोध होता है--वे एक दूसरे का उपमर्द नहीं करते। (सो इस तरह यह सिद्ध हुआ कि--एक ही धर्मी में 'चंद्रत्व' आदि--मुख्यार्थतावच्छेदक--और 'मुखत्व' आदि--लक्ष्यार्थतावच्छेदक--दोनों धर्मों का साक्षात् प्रतीत होना ही सारोपा से साध्यवसाना को भिन्न बनाता है। तात्पर्य यह है कि--यद्यपि सारोपा में भी चंद्रत्व और मुखत्व दोनों धर्मों का भान होता है तथापि वहाँ 'चंद्रत्व' का पहले 'चंद्र-सदृश' के रूप में भान होता है (क्योंकि 'चंद्र' शब्द का लक्ष्य अर्थ चंद्रसदृश होता है 'मुख' नहीं), और तब उसके द्वारा मुख में चंद्रत्व का भान होता है (अर्थात् सारोपा में 'चंद्रसदृश से अभिन्न मुख' यह शाब्दबोध होता है)। पर साध्यवसाना में बीच में किसी सदृश-वदृश का बखेड़ा न रहकर सीधा 'मुख' में ही चंद्रत्व का भान हो जाता है अर्थात् 'चन्द्रत्वावच्छिन्नमुख' यह शाब्दबोध होता है।)

३--इन दोनों के अतिरिक्त अन्य विद्वानों का कहना है कि--विरुद्ध धर्म ('चंद्रत्व' आदि) के भान की सामग्री से अपने धर्म

('मुखत्व' आदि) का भान निवृत्त होता ही है। कारण, हमारा अनुभव है कि—शुक्ति (सीप) में रजतत्व (चाँदीपन) के भान की सामग्री के समय शुक्तित्व का बोध नही होता, यदि विरुद्धधर्म का भान होने पर भी स्वधर्म का बोध होता रहता तो फिर हमे सीप में शुक्तित्व और रजतत्व दोनों धर्म क्यों नही दिखाई देते। अतः पूर्वोक्त दोनो मतों मे यह मानना अप्रामाणिक है कि—साध्यवसाना मे एक ही धर्मी मे परस्पर विरोधी दो धर्मों (चंद्रत्व और मुखत्व) का भान होता है।

(इस मत का सारांश यह है कि—'चद्रराजी विराजते' इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण मे केवल 'चद्रत्व' धर्म से अवच्छिन्न मुख की प्रतीति होती है, मुख मे मुखत्व की प्रतीति नहीं होती।)

इस मत में सारोपा से साध्यवसाना का यह भेद है कि—सारोपा में मुखादिक में लक्ष्यतावच्छेदक (आह्लादकता आदि साधारण धर्म) की प्रतीति होती है और साध्यवसाना मे वह नहीं होती—मुख मे सीधा 'चंद्रत्व' प्रतीत हो जाता है।

पूर्वोक्त दो मत ठीक हैं या यह मत ?

पर असली बात तो यह है कि—साध्यवसाना में लक्ष्यतावच्छेदक (आह्लादकता आदि) धर्म के भान मे यदि सहृदयों का हृदय प्रमाण है—अर्थात् सहृदयों को यदि साध्यवसाना मे भी 'आह्लादकता' आदि की प्रतीति होती है तब तो उसके निवारण के लिये कारण की कल्पना अनुचित ही है; क्योंकि अनुभवसिद्ध बात को कोई भी हटा नहीं सकता। रही सीप में चाँदी की प्रतीति के स्थल की बात। सो वहाँ सामने की वस्तु जब शुक्तित्व के रूप में दिखाई देगी तो उसमें रजतत्व का भान सर्वथा ही विरुद्ध है—यदि शुक्तित्व का बोध हो जाय तो रजतत्व का बोध रह ही नहीं सकता, अतः रजतत्व की प्रतीति के समय शुक्तित्व के भान का निवृत्त हो जाना आवश्यक है। पर यहाँ वैसी

बात नहीं है, क्योंकि यहाँ दोनो धर्मों की प्रतीति हो सकती है—इस बात को सभी मानेंगे कि रूपकातिशयोक्ति में भी मुख आदि मे आह्लादकता आदि (लक्ष्यतावच्छेदक) धर्मों की प्रतीति होती है। हाँ, यदि यह बात प्रामाणिक न हो—यदि आपका साथी ही कोई आ मिले और कह दे कि हमे तो आह्लादकता आदि की प्रतीति नही होती तो वैसी कल्पना उचित ही है। (अर्थात् ऐसी दशा मे हम क्या कहे, आप वैसे मानिए। हमारा हृदय तो आपका यह तीसरा मत मानने को तयार है नही।)

———

'हिंदी-रसगंगाधर' में आए हुए पद्यों की सूची

१

संस्कृत-पद्य

२

हिंदी-पद्य

शुद्धि-पत्र

पृ०—पं०	अशुद्ध	शुद्ध
६—१५	च्चिससे	जिससे
१६—१४	अलकार	अलंकार
२०— ८	सुदर	सुदर
२०—२०	किंवदती	किवदंती
२५—२२	अतिम	अतिम
२६— १	वाच्यसिद्धिपंग	वाच्यसिद्ध्यंग
३०—१७	सलक्ष्यक्रम	संलक्ष्यक्रम
३२—२१	कुगडङ्ग	कुडङ्ग
३३—१२	को	के
३८— ५	उसके	उनके
४१— ७	ध्वनित	ध्वनि
४८— १	पतङ्क्रोन्मत्त	पतन्मत्त
४८— ४	सघातः	सघातः
४८—११	इम्र	इस
५१— ६	बनेगी	बनेगा
५१—२१	आनन्दाद्य	आनन्दांश
५८— ९	करना	करता
६२—१६	नायकों	नायक
६९—२५	वलिमान्	वह्निमान्
७८—१५	उत्वत्ति.	उत्पत्ति
८१—१०	संगोग	संयोग

पृ०—प०	अशुद्ध	शुद्ध
८३—१५	कामणज्ञा	कार्मणज्ञा
८६—१२	तिष्ठन्नयो	तिष्ठन्नयनयो
९१—१४	लीलिए	लीजिए
६४—१७	मुद्रितही	मुद्रितमही
६५—२२	समुद्भव	समुद्भवं
९६—१८	यह	यहाँ
१०५—१३	मन्द्र	मन्द्र
१११—१६	कभी कम मान लिए जाया करें।	कभी कम मान लिये जाया करें और कभी अधिक।
११२—१७	निवृत्ति	निवृत्त
११५—१२	मानाँल्ललला	मानाँल्ललना
११६— ६	नरसों।	रसो
११६— ६	काव्यता	बाध्यता
१२१—२६	चरिव	चरित
१३१—१४	अथव्यक्ति	अर्थव्यक्ति
१३७—११	यहाँ	हाँ
१४२—२१	का	के
१४५—२१	तिङ्न्त	तिङन्त
१४८—१८	चेद्द	चेद्दु
१५४—२२	प्रसग	प्रसग
१५५—११	स्वीयेषु	स्वीयेषु
१५७—१६	निवेषिता	निषेविता
१५८—२३	खेत के	उन

पृ०—प०	अशुद्ध	शुद्ध
१६२—१६	एव	एव
१६३— ६	विलोचनस्या	विलोचनायाः
१६३—१२	'भ्रि' आरम्भ में	आरम्भ में 'भ्रि'
१६८— ४	निषेध गतार्थ	निषेध से गतार्थ
१६६—१३	के	का
१६६—१४	शृगार-रस में	शृगार-रस हो उसमें
१६५—१७	सेवाद्यै	सेवाद्यै
१६५—२२	उवासियाँ	उवासियाँ
२०६—१३	दौर्गन्य	दौर्म्य
२१०—२२	वियोग आदि	वियोग आदि के कारण
२१२—२१	श्रृंगार	शृंगार
२१३— १	को	का
२१८—१६	विस्मरणादय.	विस्मरणादयः
२२६—२५	३५	३२
२२७— ७	अमना	अमुना
२२८— ४	बराका	वराका
२४१—१०	यौवनोद्नम	यौवनोद्गम
२४३—१०	कश्चिच्चल	कश्चिच्चल
२४६—१२	को	की
२५४— ६	इतमें	इनमें

पृ०—पं०		अशुद्ध	शुद्ध
२५८—१४		सूलक	मूलक
२६०— ४	(शीर्षक)	अप्रमाणिक	अप्राकरणिक
२६२—२५		रञ्जनम्	रञ्जनम्
२६१—१६		शब्दानर	शब्दातर
२९६— ७		राका	राजा
३०२—११		अद्युदात्त	आद्युदात्त
३०४—२०		साय	साथ
३१०—१३		रखती	रखती
३१२—११		शब्दशक्ति	शब्दशक्ति
३१३—१९		अभिनवलिनी	अभिनव-नलिनी
३१५—२१		विरोधालकार	विरोधालकार
३६०—१४		जायणा	आयगा
३९६—१८		शब्द-बोध	शाब्द बोध